ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क ४८

संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० भोलाशङ्कर व्यास
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द जैन, एम० ए०

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण
१९५७ ई०
मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक
बलदेवदास
ससार प्रेस, बनारस

'संस्कृतका भाषा-शास्त्रीय अध्ययन' डॉ० भोलाशंकर व्यास द्वारा प्रणीत महत्त्वपूर्ण रचना है। डॉ० व्यास संस्कृत तथा हिन्दीके मर्मज्ञ एव अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होंने पर्याप्त गवेषणा तथा विवेचनके साथ इस ग्रन्थका निर्माण किया है। हिन्दी भाषा-विज्ञानके अध्ययनके लिए संस्कृतके भाषा-विज्ञानका परिचय अनिवार्य है। अतः भारतीय भाषा-तत्त्वके अनुशीलनके लिए ऐसे एक ग्रन्थकी अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रस्तुत ग्रन्थमें भारोपीय भाषा-विज्ञानका तुलनात्मक अध्ययन है। इसलिए यह उपर्युक्त आवश्यकताकी अच्छी तरहसे पूर्ति करता है। डॉ० व्यासने पहले भी अपनी विद्वत्तापूर्ण रचनाओंसे हिन्दी-साहित्यकी श्रीवृद्धि की है: प्रस्तुत ग्रन्थ उसकी समृद्धिको बढ़ानेवाला है। इस सफल रचना पर मैं उनका हार्दिक साधुवाद करता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय
११-१२-५६

राजबली पाण्डेय
प्राचार्य, भारती महाविद्यालय

मेरे मित्र डॉ० भोलाशंकर व्यासने थोड़े ही समयमें हिन्दी साहित्यको कई बहुमूल्य पुस्तकें दी हैं। 'संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन' निस्संदेह उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। इसमें आधुनिक भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन प्रस्तुत किया है। इससे पुरानी पद्धतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेवाले विद्वानोंको नये ढंगसे सोचने की प्रेरणा मिलेगी। मैं हृदयसे उनके इस प्रयासके लिए बधाई देता हूँ।

काशी विश्वविद्यालय
२३-१२-५६

हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

प्राक्कथन

विश्वके भाषा परिवारोंमें भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार बृहत्तम परिवार है, जिसकी भाषाएँ यूरोपसे लेकर भारत तक व्यवहृत होती हैं। संस्कृत इसी परिवारकी मुख्य भाषा है। इस दृष्टिसे संस्कृतका ग्रीक, लैटिन, प्राचीन चर्च स्लावोनिक-जैसी प्राचीन भाषाओंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्ताकी भाषा तथा वैदिक संस्कृतकी प्रकृति तो परस्पर इतनी निकट है कि उन्हें एक ही भाषाकी दो विभाषाएँ घोषित किया जा सकता है। यूरोपीय जगत्को संस्कृत भाषाका परिचय मिलनेपर १६ वीं शतीमें यूरोपमें भाषाविज्ञानके क्षेत्रमें जो उन्नति हुई, उसने ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता तथा संस्कृतकी प्रकृतियोंका तुलनात्मक अध्ययन कर इस विषयका अन्वेषण किया कि इन भाषाओंके बोलनेवालोंके पूर्वज आरम्भमें एक सी ही भाषाका व्यवहार करते होंगे। इसीके आधारपर आदिम भारत-यूरोपीय जैसी कल्पित भाषाकी अवतारणा की गई। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृतमें निःसन्देह इतनी अधिक ध्वन्यात्मक और पदरचनात्मक समानताएँ पाई जाती हैं कि उपर्युक्त निर्णयपर पहुँचना स्वाभाविक है। भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्रकी दिशामें श्लेगेल, रास्क, ग्रिम, फ्रेंज बॉप, श्लेखर, ब्रुगमान, मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख-जैसे यूरोपीय विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशामें अधिकतर कार्य फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओंके माध्यमसे हुआ है, तथा आंग्ल भाषामें भी इस विषयने कुछ पुस्तकें दृष्टिगोचर होती हैं। अब तककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंको ध्यानमें रखकर लिखी गई दो पुस्तकें अंगरेजीमें पाई जाती हैं, जो खास तौरपर संस्कृत भाषापर लिखी गई हैं. एक डॉ० घोषकी पुस्तक; दूसरी प्रोफेसर बरोकी पुस्तक। प्रोफेसर बरोकी पुस्तक अभी दो तीन वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुई है। इस

दृष्टिसे हिन्दीमें ऐसी पुस्तककी कमी खटक रही थी, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत भाषापर लिखी गई हो। डॉ० भोलाशंकर व्यासकी पुस्तक "संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन" ने इस कमीको पूरा कर दिया है। इस पुस्तकमें व्यासने अबतककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओं और मान्य कृतियोंका उपयोग करते हुए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय रूपरेखा प्रस्तुत की है। साथ ही संस्कृत भाषाका प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके रूपमें किस प्रकार विकास हुआ है, इसे भी अन्तिम परिच्छेदमें निबद्धकर संक्षेपमें भारतीय आर्य भाषाओंके विकासकी गतिविधि प्रदर्शित कर दी है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके विद्यार्थीके लिए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय प्रकृति तथा उसकी भावी गति-विधिका सम्यक्ज्ञान आवश्यक हो जाता है, अतः यह पुस्तक भारतीय भाषाशास्त्रके अध्येताके लिए बड़ी उपयोगी होगी। साथ ही इसके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीके महान् अभावकी पूर्ति भी हो रही है। पुस्तक गवेषणा तथा विद्वत्तापूर्ण है और डॉ० भोलाशंकर व्यासका यह प्रयास सर्वथा सराहनाके योग्य है।

रमाशङ्कर त्रिपाठी
प्रिन्सिपल, सेण्ट्रल हिन्दू कालेज
तथा डीन, फैकल्टी आफ आर्ट्स

काशी विश्वविद्यालय
७, जनवरी १९५७

निवेदन

पिछले डेढ सौ वर्षोंमे यूरोपीय भाषाशास्त्रियोंने भारत-यूरोपीय भाषाओंके विषयमें कई उद्भावनाएँ की है। इन खोजोने संस्कृत भाषाके महत्त्वको और बढा दिया है। भारतीय आर्य भाषाओंके भाषाशास्त्रीय अध्ययनके लिए तो संस्कृतका दुहरा महत्त्व है, एक ओर यह इन भाषाओंकी जन्मदात्री है, दूसरी ओर सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रके आवश्यक ज्ञानके लिए इसका परिचय अपेक्षित है। इधर कई दिनोसे हिन्दीमे इस प्रकारके ग्रन्थकी आवश्यकताका अनुभव किया जा रहा था, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृतका परिचय दे सके, जिसमे हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओंके अध्येता लाभ उठा सकें। इस विषयपर अधिकाश ग्रन्थ फ्रेंच तथा जर्मनमे लिखे हुए है, तथा आंग्ल भाषामे भी गिनी-चुनी ही पुस्तकें उपलब्ध है। वैसे डा० बटकृष्ण घोषकी अँग्रेजी पुस्तक एक दृष्टिसे संस्कृतका भाषाशास्त्रीय परिचय प्रस्तुत करती है, किन्तु अँग्रेजी भाषा न जाननेवाले उसका लाभ नहीं उठा सकते। यही सोचकर आजसे लगभग छः वर्ष पूर्व मैंने इस पुस्तककी रूपरेखा तैयार कर ली थी। उस समय मै लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल आव् ओरियण्टल स्टडीजके भाषाविज्ञान-विभागमे काम कर रहा था। मूलरूपमें पुस्तक वहीं लिखी गई थी, यद्यपि बादमे इसमे थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर देना पड़ा। उस समय तक प्रो० टी० बरोकी "संस्कृत लेंग्वेज"का प्रकाशन न हुआ था, किन्तु जिसरूपमें यह पुस्तक छप रही है, उसमे मैंने प्रो० बरोकी पुस्तकसे समुचित लाभ उठाया है। विशेषतः क्रियाओंके परिच्छेदमे मैंने उनकी पुस्तकका उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त मै मेये, ज्यूल ब्लॉख, वाकेरनागेल तथा डा० घोषका भी ऋणी हूँ, जिनसे मुझे सदा पथप्रदर्शन मिलता रहा है। यदि इस पुस्तकसे भारतीय आर्य भाषाओंके अध्येताका कुछ भी लाभ हो सका, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

काशी
१४, जनवरी १९५७

—भोलाशंकर व्यास

विषय-सूची

आमुख

[अ]

भाषाशास्त्रके अध्ययनका विषय जैसा कि स्पष्ट है, भाषा है। भाषासे हमारा तात्पर्य मानवकी उस प्रक्रियासे है, जिसके अन्तर्गत वह अपने कतिपय ध्वनियन्त्रोंका प्रयोग कर उनसे कई प्रकारकी ध्वनियोंका उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावों तथा विचारोंका प्रकाशन करता है। इस प्रकार भाषा भाव-विनिमयका ध्वन्यात्मक साधन है।[1] भाषाशास्त्र मानव-भाषाके समस्त रूपों चाहे वे असभ्य जातियोंके द्वारा व्यवहृत होते हों, या सभ्य जातियोंके द्वारा, का अध्ययन करता है। वह एक ओर प्राक्-ऐतिहासिक कालकी भाषाका अध्ययन करता है दूसरी ओर प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाओं, देशी प्राकृत रूपों, तथा आजकी प्रचलित भाषाओं एवं विभाषाओंका अध्ययन करता है। भाषाका यह अध्ययन वह भाषाको भाव-व्यंजनाका साधन मानकर करता है।[2]

भाषाशास्त्र [Linguistics] का अध्ययन करनेकी प्रायः तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं :—१. वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली [Descriptive method], २. ऐतिहासिक प्रणाली [Historical method], ३. तुलनात्मक प्रणाली [Comparative method]। इन तीनों प्रणालियोंमें भी हम पहली दो प्रणालियोंको विशेष महत्त्वपूर्ण मानेंगे। तृतीय प्रणालीमें दो या दोसे अधिक भाषाओंको लेकर उनके भाषाशास्त्रीय

१. Marcel Cohen Le Langage (Structure Et Evolution) P. I.
२. Ferdinand de Saussure. Cours de Linguistique Generale chapitre II Page 20.

तत्त्वोंकी तुलना की जाती है, जो विवरणात्मक दृष्टिको भी लेकर हो सकती है, दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टिको लेकर भी। वैसे जब हम किसी भाषाका ऐतिहासिक अध्ययन करते है, तो वहाँ हम विवरणात्मक प्रणालीकी सर्वथा अवहेलना नहीं करते, जब कि कोरी विवरणात्मक प्रणालीमें भाषाके ऐतिहासिक विकास पर नजर नहीं डाली जाती। तुलनात्मक प्रणालीमें किसी भाषाके विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक दोनों ढगके अध्ययनको प्रस्तुत करते हुए उससे सबद्ध अन्य भाषाओंसे तुलना करते हुए उसका वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया जाता है। प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाओं [यथा संस्कृत, ग्रीक, लैतिन] के अध्ययनमें हमे इसी तरहकी तुलनात्मक प्रणालीका प्रयोग करना होता है, जिसमे तुलनाके साथ ही साथ विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धतिका समन्वय होता है। प्रस्तुत पुस्तकमे हमने इसी पद्धतिपर संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है।

इस भागमे वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणालीकी विशेषताओंका परिचय देते हुए, हम भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओंका संक्षिप्त परिचय तथा उनमे संस्कृतके महत्त्वका संकेत करेंगे।

१–विवरणात्मक पद्धति

किसी भी भाषाकी एक कालकी स्थितिको लेकर उसके यथास्थित स्वरूपका अध्ययनकर उसके आधारपर कुछ निश्चित नियम बना देना विवरणात्मक ढगका अध्ययन है। एक भाषाको लेकर उसकी ध्वनियो, पदरचना तथा वाक्यरचनाका अध्ययन करते समय इस पद्धतिका प्रयोक्ता उसके पूर्ववर्ती रूपोंकी ओर ध्यान नहीं देता, साथ ही न वह उससे सबद्ध संघटना [Structure] वाली अन्य भाषा या भाषाओंसे उसकी तुलना ही करता है, जैसा कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धतिमे पाया जाता है। यही कारण है कि सोस्यूरने इस प्रकारके भाषाशास्त्रीय अध्ययनको भाषाशास्त्रका स्थित्यात्मक रूप [Static linguistics] कहा है। इसी पद्धतिको एकप्रणालिक भाषाशास्त्रीय पद्धति [Monosystemic or Synch-

ronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इस ढंगके विश्लेषणमें भाषाके निश्चित देश, तथा निश्चित कालवाले रूपका ही अध्ययन किया जाता है। दूसरे ढंगके अध्ययनको द सोस्यूरने विकासशील भाषाशास्त्र [Evolutional Linguistics] माना है। इस गत्यात्मक अध्ययन-पद्धतिको बहु-प्रणालिक अध्ययन [Polysystemic or dichronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भाषाके अनेक कालोंमें गतिशील रूपोंका विश्लेषण किया जाता है। आंग्ल भाषाशास्त्री इन्हींको क्रमशः विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका ढंग भी दो तरहका होता है, एक वह जब कि किसी भाषाका विवरणात्मक व्याकरण अन्य भाषामें लिखना है, तथा दूसरा वह जब कि उसी भाषामें उसी भाषाका शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना होता है। विवरणात्मक पद्धतिका एक ढंगका संकेत हम हिन्दी आदि पर अंग्रेजी-में लिखी गई पुस्तकोंमें मिल सकता है। उदाहरणके लिए, केलॉगकी 'हिन्दीग्रामर' इसी ढंगकी विवरणात्मक शैलीमें लिखी गई है। दूसरे प्रकारके विवरणात्मक अध्ययनका सबसे ज्वलन्त उदाहरण पाणिनिका व्याकरण लिया जा सकता है। विवरणात्मक अध्ययनके निर्णयोंको प्रस्तुत करनेके लिए अध्येताको एक विशेष प्रकारकी वैज्ञानिक भाषाका प्रयोग करना पड़ता है। वह उसी भाषाका प्रयोग अपने सिद्धान्तोंके लिए नहीं कर पाता। फलतः वह एक सूत्रात्मक भाषाका निर्माण करता है। इसी भाषाको भाषावैज्ञानिक "परभाषीय अध्ययन" [Metalanguage study] के निर्णयोंको सामने रखनेके लिए अपनाते हैं। पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करते हुए वे भाषा-की विवरणात्मक विशेषताओंको सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रों [Formulae] के रूपमें रखते हैं, तथा उनके द्वारा एक ही भाषाके ध्वन्यात्मक परिवर्तनों, पदरचनात्मक विशेषताओंको उपन्यस्त करते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका प्रयोक्ता कभी-कभी वैज्ञानिक रूपोंका भी इसी ढंग अध्ययन करता है। वह स्त्रियों, बच्चों आदिकी विभाषा तथा अलग

अलग फिरकोंके द्वारा बोली जानेवाली "स्लेंग" का भी अध्ययन करता है। विवरणात्मक पद्धतिके अध्ययनका एक सकेत हमें ओत्तो येस्पर्सनके अध्ययनमें दिखाई पडता है। अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें, विशेषतः "लैंग्विज", "फिलोसोफी आव् ग्रामर" तथा "मेनकाइन्ड, नेशन एण्ड इण्डिविडुअल" में उसने विवरणात्मक अध्ययनके सिद्धान्तोंको रखते हुए इस अध्ययनकी निश्चित दिशा दी है। किन्तु आज विवरणात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेकी कई दिशाएँ देखी जाती हैं। अमेरिकाके भाषाशास्त्रियोंका विवरणात्मक अध्ययन कुछ यान्त्रिक प्रकारका देखा जाता है। इसका आभास हमें ब्लूमफील्ड की "भाषा" [Language] शीर्षक पुस्तकसे मिल सकता है। अमेरिकन भाषाशास्त्री भाषाशास्त्रको एक स्वतन्त्र विज्ञान मानकर चलते हैं, तथा अपने अध्ययनमें मनोविज्ञान आदिसे कोई सहायता लेना ठीक नहीं समझते। जिस प्रकार मनोविज्ञानकी एक शाखा, व्यवहारवादी मनोविज्ञान [Behaviouristic psychology], में यन्त्रिकता पाई जाती है, वैसी ही यान्त्रिकता इस पद्धतिमें भी पाई जाती है। इसी विशेषताके आधारपर यह प्रणाली यान्त्रिक [Machinistic] कहलाती है। अमेरिकन प्रणालीमें प्रमुख दोष यह है कि ये भाषाको प्रमुखतः उच्चरित रूपकी दृष्टिसे ही देखते हैं, साथ ही इनमेंसे कई भाषाशास्त्री तो उच्चारण मात्रको ही अध्ययनका विषय बनाते देखे जाते हैं। उच्चारण तथा अर्थ, शब्द एव अर्थके अभिन्न सबन्धको न मानकर ये अर्थकी आत्माको गौण समझते जान पड़ते हैं, तथा शब्दके कलेवरपर ज्यादा जोर देखे जाते हैं। साथ ही शब्दका विश्लेषण करते समय वे ध्वनियोंके श्रोतृगत सस्कारपर ध्यान देते नहीं दिखाई देते। वस्तुतः भाषाका अध्ययन वक्ता तथा श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे करनेकी जरूरत है, तथा इस दृष्टिसे शब्दों तथा उनके अर्थोंका श्रोतृगत सस्कार एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

जिस प्रकार दर्शनकी विधिवादी [Positivistic] पद्धति आत्मा तथा शरीरको अभिन्न मानकर विषयी तथा विषयके तादात्म्यकी ओर बढती है,

तथा उसी दृष्टिसे भौतिक पदार्थोंका विश्लेषण करती है, ठीक उसी तरह सोस्यूर भी भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें कुछ विधिवादी ढंग अपनाता है। वैसे यान्त्रिक तथा भौतिकवादी पद्धतिके भाषाशास्त्री उसकी पद्धतिको "आदर्शवादी" [Idealistic] पद्धति मानते हैं। सोस्यूरके मतानुसार भाषाशास्त्रको वैयक्तिक भाषा [Parole] का अध्ययन अपना प्रमुख लक्ष्य न बनाकर, समस्त एकभाषाभाषी समाजकी वैयक्तिक भाषाओंके अंतस्में अनुस्यूत भाषा [La langue] का अध्ययन करना होगा। वैयक्तिक भाषाका मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनों ढंगका रूप है, किन्तु सामाजिक भाषाका केवल "मनोवैज्ञानिक" रूप होता है। यही कारण है, भाषाका विश्लेषण करते समय द सोस्यूरने भाषाके प्रमुख आधार प्रतीक [La sign] तथा प्रतीत्य [La signifie] माने हैं, तथा उनका श्रोतृगत रूप वासना या संस्कारनिष्ठ माना है। ध्वनियोंको सुननेसे श्रोताके मानसपर अन्तश्चित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है, जिसे सोस्यूरने "ध्वनि आकृतीक" कहा है। जब श्रोता पुनः वही ध्वनि या ध्वनिसमूह सुनता है, तो वह अन्तश्चित्र उसे अर्थ प्रत्यायनमें सहायता विनगित करता है। चूँकि सोस्यूर भी एक तथाकथित "आदर्श" भाषा—एकभाषाभाषी समाजके अनेक व्यक्तियोंकी भाषाके आदर्शरूपका अध्ययन करता है, अतः उसे भी सूत्रपद्धतिवाली पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करना अभीष्ट है।

२—ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धति किसी भी भाषाके विकासात्मक रूपोंका अध्ययन करती है। इसके अन्तर्गत एक ही भाषाके पुरातन रूपोंसे आज तकके रूपोंके अनुसन्धान पूर्वक अध्ययन किया जाता है। उदाहरणके लिए, आजकी हिन्दी [खड़ी बोली] का अध्ययनकर्ता उसके पुराने रूपोंका भी अध्ययन करता है, तथा अपभ्रंश कालसे आजतक, यदि और अधिक विस्तृत क्षेत्र चुना जाय, तो संस्कृत कालसे आजकी हिन्दी तक ऐतिहासिक रूपके आधारपर किस तरहका

ध्वन्यात्मक, पदरचनागत या वाक्यरचनागत परिवर्तन होता रहा है, इसका वैज्ञानिक लेखा-जोखा देनेकी चेष्टा की जाती है, तो यह ऐतिहासिक प्रणाली-का आश्रय होगा। लेकिन अगर कोई अध्येता हिंदी [खड़ी बोली] के यथास्थित रूपको लेकर ही उसकी ध्वनियोंका, या पदरचनाका लेखा-जोखा देना चाहे, तो वह विवरणात्मक पद्धति होगी। ऐतिहासिक प्रणालीके अध्ययनमें संबद्ध भाषाका विवरणात्मक अध्ययन स्वतः समाविष्ट हो जाता है।

३—तुलनात्मक पद्धति

तुलनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पद्धतियोंका समाहार करते हुए ऐतिहासिक दृष्टिसे या पदरचनात्मक दृष्टिसे परस्पर संबद्ध दो या अधिक भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृतिकी भाषाओंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। वैसे तुलनात्मक पद्धतिका प्रयोग अधिकतर एक ही भाषासे निकली हुई भाषाओंकी ध्वनियों, पदरचना, शब्द-कोष तथा वाक्यरचनाकी समानताओं तथा असमानताओंके अध्ययनके लिए किया जाता है, जैसे ब्रजभाषा तथा खड़ी बोलीका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, या मैथिली और बंगालीका। इसी तरह संस्कृत, ग्रीक और लैतिनका भी तुलनात्मक अध्ययन उदाहरणके रूपमें लिया जा सकता है।

तुलनात्मक पद्धतिके अध्ययनने ही वस्तुतः भाषाशास्त्र को १९ वीं शती में जन्म दिया है। ग्रीक, लैतिन तथा संस्कृतकी अत्यधिक समानताओंने ही भारत-यूरोपीय परिवारके तुलनात्मक व्याकरण [Comparative philology] को जन्म दिया था। इस प्रकारकी तुलनात्मक पद्धतिमें कुछ भी दोष रहे हों, किन्तु इसका महत्त्व निषिद्ध नहीं किया जा सकता। आजके भाषा-वैज्ञानिकोंके मतानुसार जब हम अनेक भाषाओंकी तुलना करते समय उनकी समानताओंके आधार पर उनके परस्पर संबद्ध होनेकी बात कहते हैं, तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर जोर देते हैं, तो हम एक

वैज्ञानिक भ्रान्तिको जन्म देते हैं। इन नव्य भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार संबंध [Relation] भाषाओंमें न होकर भाषाओंकी संघटना [System] में पाया जाता है। इसलिए "संबंध भाषाओंका नहीं, उनकी संघटनाका है" [Relationship is not of languages, but of systems] यह कहना ज्यादा ठीक होगा। साथ ही, किन्हीं दो भाषाओंमें परस्पर सम्बन्ध है या नहीं, इसकी अपेक्षा अधिक संबंध है, अथवा कम संबंध है, इस बातको मानना अधिक संगत है। उदाहरणके लिए, खड़ी बोली [हिंदी] तथा राजस्थानीकी संघटनामें परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है, कि हम यह कह बैठते हैं दोनों एक दूसरेसे घनिष्ठ संबंध रखती हैं। इसी तरह राजस्थानी तथा गुजरातीकी संघटना परस्पर अधिक संबद्ध है, जब कि राजस्थानी तथा पंजाबीकी संघटना कम संबद्ध है, तथा राजस्थानी और बंगालीकी संघटना एक दूसरेसे बहुत कम संबद्ध है। अतः भाषाविज्ञानमें तुलनात्मक पद्धतिका अध्ययन करते समय, इस बातको कभी नहीं भूलना होगा कि संबंध मुख्यतः भाषाओंकी संघटनाका होता है।

तुलनात्मक अध्ययन दो या अधिक भाषाओंको लेकर किया जा सकता है। इस तरह का अध्ययन कोरा विवरणात्मक भी हो सकता है। हिंदी तथा अंगरेजीकी संघटनाके यथास्थित रूपको लेकर तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे गये व्याकरणमें इस तरहकी पद्धति पाई जा सकती है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययनमें प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिसे परस्पर संबद्ध भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यह एक ही भाषाके परवर्ती रूपोंके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे किया गया हो, या अनेकोंके साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशका तुलनात्मक अध्ययन एक तरहका होगा, संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिनका दूसरे ढंग का। ऐतिहासिक क्रमको ध्यानमें रखते हुए एक साथ कई भाषाओंकी विकसित दशाका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जहाँ तक भाषाओंके आजके रूपका प्रश्न है, उनका कथ्य [Spoken] रूप ही अपनाना ठीक होगा। पुरातन रूपोंके लिए प्राचीन साहित्यकी शरण लेनी पड़ती

है, यद्यपि पुरातन कथ्य रूपका पूरा पता उससे नहीं चलता और कभी कभी तो भ्रान्ति भी होनेकी सम्भावना होती है। हम एक उदाहरण ले लें, प्राकृत व्याकरण, प्राकृत साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्यके अनुसार संस्कृत न परवर्ती काल में ण [मूर्धन्य या प्रतिवेष्टित] हो गया था। आज जिन भाषाओंमे–सिन्धी, पंजाबी, गुजराती व राजस्थानीमे 'ण' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ यह ध्वनि प्रायः स्वरमध्यगतरूपमे पाई जाती है, तथा राजस्थानी कथ्य रूपकी साक्षी पर मै यह भी कह सकता हूँ कि जहाँ कहीं यह ध्वनि पदान्त [Final] पाई जाती है, वहाँ भी इसके बाद 'अ' (ə) श्रुति उच्चरित होती है। इन भाषाओंमे, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ण ध्वनि पदादि [initial] रूपमे नहीं पाई जाती। प्रश्न होना सभव है, कि पदादि ण ध्वनि प्राकृत तथा अपभ्रंशमे कथ्य [Spoken] रूपमें पाई जाती थी, या नहीं? लिखित रूपमे चाहे वह पदादि ध्वनि ण ही रही हो, पर क्या उसका उच्चारण मूर्धन्य था? जहाँ आज ण ध्वनि पाई जाती है वहाँ पदादिमे यह ध्वनि नहीं पाई जाती, जब कि पदादिमे वर्त्स्य न पाया जाता है, जब कि प्राकृत और अपभ्रंशमे ण मिलता है। प्राकृतका एक देशज शब्द है णवर [स केवल], इसका विकसित रूप राजस्थानीकी मेवाडी विभाषामे नवरो [बेकाम, आलसी, ठाला] है, जहाँ प्रथम ध्वनि मूर्धन्य न होकर वर्त्स्य है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मेरा ऐसा अनुमान है कि प्राकृत-अपभ्रंशमे संस्कृतका स्वर मध्यगत [Intervocalic] न तो ण हो गया था, किन्तु पदादि न का उच्चारण वर्त्स्य ही था। लिपि तथा प्राकृत व्याकरणके नियमोंम समानता लानेके लिए इसे भी ण ही लिखा जाने लगा हो, तथा इस प्रकार पदादि संस्कृत न भी ण के रूपमे विकसित माना जाने लगा हो। कुछ भी हो, हम केवल अनुमान भर कर सकते है, प्राचीन उच्चारणोंके बारेमे कुछ निश्चित मत देना, कभी-कभी खतरेमे खाली नहीं।

तो, अनेक भाषाओंके क्रमिक विकासका तुलनात्मक अध्ययन करते

समय हम कई तरहकी भाषाएँ पा सकते हैं। कई भाषाएँ आरम्भसे अबतक अविच्छिन्न रूपमें मिलती हैं, कई बीच तक आती हैं पर बादमें रुक जाती हैं या लुप्त हो जाती हैं, कई भाषाओंका विकास सर्वथा नवीन है, तथा कई प्राचीन हैं किन्तु उनका साहित्य बहुत बादसे उपलब्ध होता है। तुलनात्मक अध्ययनमें हमें इन सबका समुचित प्रयोग करना पड़ता है। इसे हम एक रेखाचित्रसे स्पष्ट कर दें। हमें क, ख, ग, घ, ङ, इन पाँच भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन करना है, इन्हें हम क्रमशः हिंदी, राजस्थानी, गुजराती, भोजपुरी और बंगला समझ लें। इसमें प्रथमका अखण्ड प्रवाह संस्कृतसे शौरसेनी, अपभ्रंश होता हुआ आज तक माना जाता है, किन्तु मध्यकालीन साहित्य पर क, ख, ग तीनों भाषाओंका समान अधिकार है, साथ ही ग का साहित्य, जहाँ तक उसकी भाषागत निजी विशेषताका प्रश्न है, १६ वीं शती से उपलब्ध है। भाषा घ तथा ङ की परम्परा सर्वथा भिन्न है। एक मागधीसे प्रभावित कोसलीकी परवर्ती प्रकृति है, दूसरी मागधीकी प्रतिनिधि। साथ ही घ साहित्यशून्य-सी है, इसके लिखित पुरातन साहित्यका अभाव ही है, जबकि ङ का प्राकृतकालीन साहित्य न होने पर भी अपभ्रंश कालसे साहित्य उपलब्ध है और १४ वीं शतीसे निरंतर साहित्यिक धारा बहती रही है।

क ख ग घ ङ

कालक्रम

वै. सं. — ईसासे पूर्वकी स्थिति

प्रा. — ईसवी २०० से ६०० तक

अप. — ईसवी ६०० से ११०० तक

ईसवी ११०० से १६०० तक

आधु. — ईसवी १६०० के बाद २० वीं शती

यहाँ हमने क, ख, आदि भाषा वाली रेखाको वीचम — रेखामें काटा है, जो लिखित साहित्य किस कालका उपलब्ध होता है, इसका सकेत करता है। घ भाषाका लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए वह रेखा कहीं नहीं कटी है।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें दो तरहकी सरणियाँ अपनाई जाती हैं। प्रथम सरणि प्राचीन [संस्कृत] भाषाओंसे नीचेकी ओर आती है। उदाहरणार्थ, हिंदीका अध्ययन करनेके लिए संस्कृतसे हिंदीकी ओर बढ़ना। दूसरी पद्धति यह है कि पहले हिंदीका विवरणात्मक दृष्टिसे वैज्ञानिक अध्ययन कर लें, तदनन्तर उसके ऐतिहासिक विकासके लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके विकासका अध्ययन कर हिंदीकी प्रकृतिको तदनुरूप विवेचनाका विषय बनावें। आजके भाषावैज्ञानिक इस द्वितीय पद्धतिका उपयोग ही विशेष वैज्ञानिक मानते हैं। यह बात निश्चित है कि इस तरहकी प्रणालीका आश्रय हम आज बोली जाने वाली भाषाओंके अध्ययनके लिए ही ले सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके लिए तो हमें पहली पद्धतिका ही आश्रय लेना होगा। साथ ही दूसरी पद्धति जीवित भाषाके व्यवहृत तथा कथ्य रूपको प्रधानता देगी, प्रथम पद्धतिका एकमात्र आधार लिखित साहित्य होता है। लिखित साहित्यके आधार पर की गई भाषाशास्त्रीय गवेषणाको इसीलिए नव्यतम भाषाशास्त्री, 'लिंग्विस्टिक्स' कहना ठीक नहीं समझते। साथ ही वे 'लिंग्विस्टिक्स' तथा 'फाइलोलोजी'को परस्पर पर्यायवाची भी नहीं मानते। लिखित साहित्यके आधारपर भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरण अथवा तुलनात्मक पदरचनाशास्त्रको वे 'फाइलोलोजी' कहते हैं। उच्चरित भाषाके आधार पर की गई गवेषणाको "लिंग्विस्टिक्स"। प्रस्तुत पुस्तिकामें अब तक अधिकतर विद्वानोंके द्वारा आदृत इस मतको ही माना गया है कि 'फाइलोलोज़ी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' को पर्यायवाची माननेमें कोई गलती नहीं। भाषा-शास्त्रियोंके बहुमतकी ऐसी ही धारणा है। संस्कृतका अध्ययन यहाँ पर प्रथम पद्धतिका आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है।

भाषाशास्त्रके तीन अंग हैं—(१) ध्वनिविज्ञान, (२) पदविज्ञान, तथा (३) अर्थविज्ञान। किसी भी भाषाका अध्ययन इन तीन अंगोंके आधारपर किया जाता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार अर्थविज्ञानकी दिशा स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें मानी जानी चाहिए। यही कारण है कि किसी भाषाके विश्लेषणमें अधिकतर भाषाशास्त्री ध्वनि तथा पदरचनाका ही विचार करते हैं, अर्थविज्ञानको छोड़ देते हैं। वाक्यरचना वैसे पदरचनाका ही अंग है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे अलग तत्त्व मानते हैं।

१—ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञानके अन्तर्गत तीन भाग माने जाते हैं:—(१) ध्वनि-यन्त्रोंका अध्ययन, (२) ध्वनियोंका अध्ययन (३) ध्वनियोंके परिवर्तन संबंधी नियमोंका अध्ययन। ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन सामान्य भाषाशास्त्र [General linguistics] के अन्तर्गत होता है। ध्वनियोंके उच्चारणमें मुखके कौन कौन भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी किस किस दशामें कौन कौन ध्वनि उच्चरित होती है, इसका अध्ययन होता है। इसीके साथ ध्वनियोंके उच्चारणके समय किये गये बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों तथा ध्वनियोंके स्थान तथा करणका विवेचन होता है। नाद, श्वास, घोष, अघोष, महाप्राण तथा अल्पप्राण आदि ध्वनियोंका परस्पर भेद ध्वनियोंके उद्भावक यन्त्रोंकी तत्तत् स्थितिके कारण ही होता है। दूसरे भागके अन्तर्गत किसी निश्चित भाषाकी ध्वनियोंकी विवेचना की जाती है। किसी भाषाके अन्तर्गत कितनी ध्वनियाँ पाई जाती हैं? उनमें स्वर तथा व्यंजन तथा अन्य अवान्तर भेदोंका विश्लेषणकर उनके स्थान तथा करणकी विवेचना की जाती है। जीवित भाषाओंमें ध्वनियोंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृतिको उपलब्ध करनेके लिए कृत्रिमतालु, कायमोग्राफ आदि यान्त्रिक साधनोंका उपयोग किया जाता है। इसी अंगके अन्तर्गत व्यस्त ध्वनियों तथा उनके संयुक्त रूपोंका भी अध्ययन किया जाता है, तथा अनेक (दो या अधिक) ध्वनियाँ समस्त रूपमें

अध्ययन तो कठिन, दुरूह तथा वर्षोका कार्य है। संस्कृतकी ध्वनि संबंधी तथा पदरचना संबंधी खास खास विशेषताओंका परिचय तथा उनके परवर्ती विकासका परिचय देनेका कारण भारतीय आर्य भाषाओंकी अखण्ड परम्परा का संकेत करना है।

ध्वनिविज्ञान तथा पदरचना [पदविचार] के अतिरिक्त कुछ लोग वाक्य-विचारको अलगसे विषय मानते हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान् इसका समावेश पदरचनाके अन्तर्गत ही करते हैं तथा इसे पदविज्ञानके [Morphology] का ही एक अंग समझते हैं। प्रा. भा. यू. की कल्पित वाक्यरचनाको वैज्ञानिक मानना भ्रान्ति होगा, फिर भी कुछ समानताएँ ग्रीक, लैतिन तथा संस्कृत वाक्य रचनाओंमें, उनके कारक प्रयोगोंमें, उपसर्गों, परसर्गों, परस्मैपदी या आत्मनेपदी प्रयोगोंमें ढूँढी जा सकती है, जो बड़ी मनोरंजक हैं। संस्कृतका वाक्यविचार करते समय बड़े संक्षेपमें कारक तथा पदोंका-विचार तथा इन कथित समानताओंका संकेत आवश्यक हो जाता है।

३—अर्थविज्ञान

भाषाविज्ञानका तीसरा अंग अर्थविज्ञान है। अर्थविज्ञानके अध्ययनको कुछ भाषाशास्त्री अलग अध्ययनका क्षेत्र मानते हैं, तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें उसे सम्मिलित नहीं करते। जहाँ तक सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रका प्रश्न है, अर्थविज्ञानका अध्ययन उन्हें अभीष्ट है, किंतु किसी भाषाके विवरणात्मक, ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययनमें अर्थ-विचार प्रायः छोड़ दिया जाता है। इसके दो कारण हैं भाषाकी बाह्य संघटना प्रमुखतः ध्वनि तथा पदरचनासे ही संबद्ध है, [यद्यपि अर्थ भाषाका आत्मतत्त्व है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता], दूसरे भाषाके अर्थ विचारमें भाषाशास्त्रीको अपने क्षेत्रको छोड़कर मनोविज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रोंका आश्रय लेना पड़ता है, तथा अर्थविचार प्रमुखतः समाजविज्ञानका [तथा मनोविज्ञान] का रूप ले लेता है। तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी अध्ययन प्रणालीके कारण इस पुस्तिकामें भी अर्थतत्त्वका विचार नहीं है।

अर्थविज्ञानके साधारणतः दो अंग माने जा सकते हैं.—१. सैद्धान्तिक अर्थविज्ञान २. व्यावहारिक अर्थविज्ञान। सैद्धान्तिक अर्थविज्ञानके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रश्न शब्द तथा अर्थके संबंध पर उपस्थित होता है, दोनोंमें कोई साक्षात् संबंध है भी या नहीं। कई विद्वान् शब्द तथा अर्थमें कोई साक्षात् संबंध नहीं मानते। दूसरे विद्वान् इस संबंधको नित्य मानते हैं। अर्थप्रतीतिका कारण मनोवैज्ञानिक है या सामाजिक, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, तथा भाषाशास्त्री अधिकतर इसके सामाजिक एवं प्राकरणिक [Contextual] महत्त्व पर ही जोर देते हैं। इसके अनन्तर अर्थविज्ञानका दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय अर्थ-प्रकार तथा शब्द शक्तियोंसे संबद्ध है, तथा इसी संबंधमें अर्थ जातिनिष्ठ होता है या व्यक्तिनिष्ठ इसपर भी दो विरोधी मत देखे जाते हैं।[1]

भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें अर्थविज्ञानको प्रतिष्ठापित करनेका श्रेय फ्रेंच भाषाशास्त्री ब्रेआल [Bréal] को है। ब्रेआलने अर्थविचारके अन्तर्गत भाषाके परवर्ती विकासमें होनेवाले अर्थ-परिवर्तनोंके प्रकारों तथा उनके मनोवैज्ञानिक कारणोंको उपन्यस्त किया है। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "अर्थविज्ञानपर निबन्ध [Essai sur la Semantique] में लैटिन भाषाके शब्दोंको लेकर आधुनिक रोमान्स भाषाओं, फ्रेंच, इतालियन, स्पेनिश आदिमें होनेवाले आर्थिक परिवर्तनोंका अध्ययन किया। इसके

---

१. शब्द तथा अर्थके संबंधका यह विचार भाषाशास्त्रमें इतना अधिक नहीं पाया जाता, जितना दर्शन, न्याय तथा मनोविज्ञानके ग्रन्थोंमें। भारतमें इसका विचार दर्शन, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्रमें हुआ है। इस विषयका विशेष विवेचन लेखकने अपने पी-एच. डी. के लिए स्वीकृत प्रबंध "शब्दशक्ति विवेचन' में किया है, जो नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुआ है। इसमें पाश्चात्योंके एतत्संबंधी विचारोंका भी विवेचन किया गया है।

दिखाई नहीं देते, साथ ही विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वमें भी (कभी कभी) विकार हो जाता है। भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी द्वितीयकोटिकी विभक्तिप्रधान भाषाएँ हैं।

अगले परिच्छेदमें हमने इसको स्पष्ट किया है कि भारतयूरोपीय परिवारकी कल्पना क्यों की गई है, तथा इस परिवारमे कौन-कौन सी समानताएँ पाई जाती हैं, जो इन्हें एक ही परिवारके अन्तर्गत रखती हैं। यहाँ हम केवल इस परिवारके वर्गों तथा उन वर्गोंकी प्रमुख भाषाओंका संकेत दे देना ठीक समझते हैं। भारतयूरोपीय परिवारको कई नाम दिये जाते हैं। पहले इसे भारत-जर्मनी नाम दिया गया था, कुछ लोगोंने इसे 'आर्य'-परिवार भी कहा था किन्तु ये नाम संकुचित हैं। आजकल इसे भारत-यूरोपीय [Indo-European] परिवार ही कहा जाता है। हिंदीमें इसका संक्षिप्त रूप भारोपीय भी चलता है, पर मैं भारत-यूरोपीय शब्दका प्रयोग करना ही विशेष ठीक समझता हूँ। इस परिवारकी भाषाएँ विश्वमें सबसे अधिक संख्याके द्वारा बोली जाती हैं, तथा भौगोलिक विस्तारकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यकी दृष्टिसे इस परिवारका अत्यधिक महत्त्व है। वैसे इससे भी पुरानी भाषाएँ थीं, जिनके पास साहित्य रहा होगा, पर वे या तो स्वयं लुप्त हो गई हैं, या उनका साहित्य लुप्त हो गया है। संस्कृतकी वैदिक निधि इसीलिए सबसे पुराना साहित्य है, जो इस परिवारकी भाषावैज्ञानिक महत्ताका अन्यतम प्रतिष्ठापक है। इसके साथ ही आज भी विश्वमें इस परिवारकी भाषाओंका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है, तथा वे सभ्य जातियोंकी भाषाएँ मानी जाती हैं। अंगरेजी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिंदी आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। अँगरेजी तो जैसे आज भी समस्त विश्वकी उप-भाषा सी बनी हुई है। मध्यएशियामें ठीक यही स्थान फ्रेंचने, दक्षिणी अमेरिकामें स्पेनिशने तथा उत्तरी एशियामें रूसीने प्राप्त कर रक्खा है। इस दृष्टिसे हिन्दी पिछड़ी कही जा सकती है। किन्तु हिन्दीकी सांस्कृतिक परम्परा उसके विस्तार तथा

विकासमें निश्चय ही योग देगी, तथा वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वमें अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगी।

भारत-यूरोपीय परिवारकी भाषाओंको निजी निजी विशेषताओंके आधारपर दस शाखाओंमें विभक्त किया गया है। इनमेंसे दो वर्गोंको छोड़कर बाकी अन्य शाखाओंकी भाषाएँ आज भी बोली जाती हैं। इनमेंसे कई वर्गोंकी भाषाएँ पुनः उपशाखाओंमें विभक्त की जाती हैं। सर्वप्रथम इन समस्त भाषाओंको दो वर्गोंमें बाँटा जाता है :—सतम् वर्ग तथा केन्तुम् वर्ग। भारतयूरोपीय परिवारमें कतिपय शाखाओंकी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थानपर 'क' पाया जाता है, जहाँ संस्कृतमें 'श' तथा अन्य कई योरोपीय भाषाओंमें 'स' पाया जाता है। प्रा० भा० यू० तालव्य क्य, ग्य आदि ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन, बाल्तोस्लाविक आदिमें सोष्म स [श], ज, जॅ का रूप ले लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रा० भा० यू० में दो तरहकी विभाषाएँ रही होंगी तथा इस विभाषाके बोलनेवाले आस-पास रहते थे, तथा इनके ही वंशजोंकी भाषाएँ भारत, ईरान, आर्मीनिया, रूस आदि स्थानोंपर बोली जाती हैं। किन्तु इस वर्गके दूरकी विभाषाओंमें इन ध्वनियोंका विकास नहीं हुआ और वहाँ वे कण्ठ्य रूपमें स्पर्श ही बनी रही हैं। उदाहरणके लिए लैतिनमें 'सौ' के लिए प्रयुक्त 'केन्तुम्' [Centum] शब्दमें 'क' ध्वनि पाई जाती है, जबकि संस्कृत तथा अवेस्तामें यह क्रमशः सोष्म 'श' तथा 'स' हो गई है, तथा वहाँ इसका 'शतम्' तथा 'सतम्' रूप देखा जाता है। इन दोनों वर्गोंकी भाषाएँ निम्न हैं :—

१. सतम् वर्ग—भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन शाखा, आर्मेनियन शाखा, हित्ताइत, बाल्तोस्लाविक शाखा।

२. केन्तुम् वर्ग—ग्रीक शाखा, इतालिक शाखा, केल्तिक शाखा, जर्मनिक या ट्यूटोनिक शाखा, तोखारी।

हम इन्हींका संक्षिप्त विवरण यहाँ देंगे।

१. भारत-ईरानी शाखा—इन शाखामें दो उपशाखाएँ हैं—

भारतीय आर्य शाखा, तथा ईरानी शाखा। वैसे एक तीसरी शाखाकी भी कल्पना की जाती है,—दरदशाखा।

भारतीय आर्य शाखाकी प्राचीनतम भाषा संस्कृत है, जिसके प्राचीन साहित्यके रूपमें वैदिक मन्त्र उपलब्ध हैं, जो इस परिवारकी प्राचीनतम साहित्यिक निधि हैं। इस शाखाका साहित्य ईसासे लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष पुराना प्राप्त होता है। भारतीय आर्यशाखाकी परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई आजकी भारतीय आर्य भाषाओंके रूपमें विकसित हुई हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख इस पुस्तिकाके अंतिम परिच्छेदमें देखा जा सकता है।

ईरानी उपशाखाके अन्तर्गत प्राचीनतम भाषा अवेस्तामें उपलब्ध होती है। अवेस्तामें वैदिक मन्त्रोंकी तरह ही अनेक कालकी भाषा है, तथा इनमें प्राचीनतम भाषा ईसासे लगभग ८०० वर्ष पूर्वकी कही जा सकती है। प्राचीन ईरानीको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है :—एक उसका प्राचीनतम रूप जो अवेस्तामें उपलब्ध होता है, दूसरा उसके पासका रूप जो अकेमेनिद राजाओंके क्यूनिफोर्म शिलालेखोंमें प्राप्त होते हैं। इनमेंसे दारिउस प्रथमके शिलालेख ५२१ ई० पू० के माने जाते हैं। ईरानी शाखाकी परवर्ती भाषा पहलवी है। इसके भी सोग्दी, साका, पार्थियन आदि वैभाषिक भेद पाये जाते है। यह स्थिति ई० पू० तीसरी सदीसे ईसाकी दसवीं सदी तक मानी जा सकती है। पहलवीकी अवेस्ताकी टीकाएँ तथा स्वतन्त्र साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। आजकी भाषाओंमें इस वर्गमें आधुनिक फारसी, कुर्दिश, ओसेतिक, पश्तो तथा बलूची मुख्य है। इनमें साहित्यिक दृष्टिसे आधुनिक फारसीका प्रमुख स्थान है तथा उसका प्राचीनतम साहित्य ग्यारहवीं सदी तक जाता है, जिसमें फिरदौसीका शाहे-नामा प्रसिद्ध है।

२. **अल्बेनियन शाखा**—अल्बेनियन भाषाका प्राचीनतम साहित्य ईसाकी चौदहवीं शताब्दीका मिलता है। यही कारण है कि अल्बेनियन के प्राचीनकालिक तथा मध्यकालिक रूपोंका कुछ भी पता नहीं चलता।

३. आर्मेनियन शाखा—आर्मेनियन शाखाका साहित्य भी उतना पुराना नहीं मिलता, जितना अन्य शाखाओंका। फिर भी अल्बेनियन शाखाकी अपेक्षा इसका साहित्य अधिक पुराना मिलता है। अल्बेनियन भाषाका साहित्य ईसाकी पाँचवीं सदीसे निरंतर उपलब्ध होता है। यही कारण है कि अल्बेनियन भाषाकी अपेक्षा आर्मेनियन भाषाकी मध्यकालीन स्थितिके विषयमें हमलोग बहुत अधिक जान सकते हैं। इधर कुछ दिनोंसे भाषाशास्त्रियोंका अल्बेनियन तथा आर्मेनियन भाषाओंकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। वैसे इन भाषाओंकी ओर सबसे पहले फ्रेंच विद्वान् मेये का ध्यान आकृष्ट हुआ था, तथा उसने इन भाषाओंका वैज्ञानिक अध्ययन किया था।

४. हित्ताइत—सतम् वर्गकी एक भाषा हित्ताइत है, जिसके ईंटोंके लेख तुर्कीके बोगाजकुई स्थानपर प्राप्त हुए हैं। बोगाजकुई हित्ताइत साम्राज्यकी राजधानी थी, तथा यह साम्राज्य ईसासे १४ वीं शताब्दी पूर्वतक था। इस भाषाके विषयमें विद्वानोंकी यह मान्यता है कि यह आ० भा० यू० भाषाकी बेटी न होकर बहिन थी, तथा इसमें कई ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि इन दोनोंकी माँके रूपमें एक आदिम-भारत-हित्ताइत [भारत-हित्ती] भाषाकी कल्पना की जानी चाहिए। स्टर्टेवन्टने इस आदिम भारत-हित्ताइत भाषाके कल्पित रूपोंका अध्ययन किया है। हित्ताइत भाषाके आधारपर आ० भारत-हित्ताइत भाषामें चार कण्ठनालिक ध्वनियोंकी विवेचना की गई है, जिसका संकेत हम अगले परिच्छेदमें देंगे।

५. बाल्तो-स्लाविक—बाल्तो-स्लाविक या बाल्तो-स्लावोनिक सतम् वर्गकी पाँचवीं शाखा है। इसके अन्तर्गत भारत-ईरानी शाखाकी तरह ही युगल उपशाखाओंका अस्तित्व है। एक उपशाखा बाल्तिक है, दूसरी स्लावोनिक। बाल्तिक उपशाखाकी प्राचीनतम प्रकृतिका पता नहीं लगता, किन्तु मध्यकालमें इसकी तीन विशेषताएं रही हैं:—प्राचीन लिथुआनियन, प्राचीन लेतिश, तथा प्रशियन। प्राचीन प्रशियनमें

साहित्य उपलब्ध होता है, तथा यह भाषा १७ वीं शताब्दी तक प्रचलित थी, किन्तु बादमें सम्भवतः जर्मनके प्रभावसे इसका लोप हो गया। लिथुआनियन तथा लेतिश आज भी बोली जाती है। भाषाशास्त्रीके लिए इनमें लिथुआनियन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतयूरोपीय वर्गकी आजकी भाषाओंमें लिथुआनियनने प्राचीन प्रकृतिको अत्यधिक सुरक्षित रक्खा है। इस दृष्टिसे इसे 'आर्ष' प्रकृतिकी भाषा कहा जा सकता है। इसमें आज भी द्विवचनके चिह्न सुरक्षित रक्खे है, तथा विभक्तियोंका अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है। लिथुआनियनमें आज भी छः विभक्तियाँ पाई जाती हैं। ध्वनियोकी दृष्टिसे भी लिथुआनियनने आ० भारतयूरोपीय ध्वनियोंको भी अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित रक्खा है, उदाहरणके लिए हम निम्न शब्दोंको ले लें:—

लिथुआ०	एस्ति [Esti]	, ग्रीक एस्ति [Esti], संस्कृत	अस्ति
,,	एइमि [Eimi]	, ,, एइमि [Eimi] ,,	एमि
,,	उग्निस् [Ugnis]	, लैतिन इग्निस् [Ignis] ,,	अग्निः

स्लावोनिक उपशाखाको पुनः तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है.— दक्षिणी स्लावोनिक, पश्चिमी स्लावोनिक तथा पूर्वी स्लावोनिक। स्लावोनिक उपशाखाकी भाषाएँ बल्गेरिया, जेकोस्लेवाकिया, पोलैन्ड, यूगोस्लाविया, यूक्रेन तथा रूसमे बोली जाती हैं। इन तीन भागोंमें से मध्यकालीन प्रकृति प्राचीन चर्च स्लावोनिक या "प्राचीन बल्गेरियन" का विशेष महत्त्व है। प्रा० च० स्ला० दक्षिणी स्लावोनिकका मध्यकालीन रूप है। इसमें ईसाकी नवीं शतीसे लेकर १२ वीं शती तकका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है। बाल्तोस्लाविक शाखाकी मध्यकालीन प्रकृतिके उदाहरण उपन्यस्त करनेके लिए भाषाशास्त्री इसी साहित्यका आश्रय लेते हैं। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ बल्गेरियन, सर्बो-क्रोट, तथा स्लोवेन है। पश्चिमी उपशाखाकी मध्यकालीन भाषा 'पोलेबियन' थी, किन्तु इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इस शाखाकी आधुनिक भाषाएँ—जेक,

स्लोवाक, पोलिश तथा सोर्बियन है। सोर्बियन पूर्वी जर्मनीमे लगभग दस लाख आदमियोंके द्वारा बोली जाती है, तथा इस शाखाकी सबसे बड़ी भाषा है। पूर्वी स्लावोनिककी मध्यकालीन प्रकृतिका पता नहीं चलता। इसकी आधुनिक भाषाएँ [बड़ी] रूसी, सफेद रूसी, यूक्रेनियन [या छोटी रूसी] है। रूसी रूस देशकी राष्ट्रिय भाषा है। सफेद रूसी पोलैंडके कुछ भागमे बोली जाती है, तथा छोटी रूसी यूक्रेनमे। सोवियटकी स्थापना होनेके बाद रूसकी अन्य सभी भाषाएं जो अब तक गिरा पड़ी अवस्थामे थीं, साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध होती जा रही है।

६. **ग्रीक शाखा**—वैदिक संस्कृतके बाद इस परिवारकी भाषाओंका प्राचीनतम साहित्य ग्रीकका उपलब्ध होता है। ईसासे लगभग ८५० वर्ष पूर्वके होमर-साहित्यका होना इस भाषाके महत्त्वको बढा देता है। साथ ही तबसे इसका साहित्य अक्षुण्ण रूप मे प्राप्त होता है। संस्कृत, लैतिन या आ० भा० यू० भाषाका विद्यार्थी ग्रीक भाषाकी अवहेलना नहीं कर सकता। जिस प्रकार भारत यूरोपीय परिवारके अध्येताके लिए संस्कृतका अध्ययन नितान्त आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन ग्रीकका भी। ग्रीक शाखाको पूर्वी ग्रीक तथा पश्चिमी ग्रीक दो उपशाखाओंमे विभक्त किया जाता है। पूर्वी ग्रीकमे कई विभाषाएँ रही है, पर प्रमुख एतिक या आयोनिक विभाषा है, जिसका साहित्य उपलब्ध होता है। होमरकी रचनाएँ आयोनिक ग्रीकमे ही है। इसी भाषाकी मध्यकालीन प्रकृति 'कोइन' या 'हेलेनिस्टिक' ग्रीकके नामसे प्रसिद्ध है, तथा इसीसे आधुनिक ग्रीकका विकास हुआ है।

पश्चिमी ग्रीकमे कई विभाषाऐं रही होंगी। इस उपशाखाकी प्रमुख विभाषा 'दोरिक' है। दोरिक मे ही 'टमकोनियन बोलियों' का विकास हुआ है। ग्रीकका साहित्य अत्यधिक समृद्ध है तथा यूरोपमे लैतिनकी तरह ही ग्रीक भी सभ्य तथा विद्वान् समाजकी भाषा रही है। आ० भा० यू० की स्वर संपत्तिको प्राचीन ग्रीकने अत्यधिक सुरक्षित रक्खा है। अगले परिच्छेदोंमे हम ग्रीकके उदाहरण देंगे तथा उसकी ध्वन्यात्मकता तथा पद-

रचनाका संकेत देंगे, तो हमारा तात्पर्य प्राचीन "क्लैसिकल" ग्रीकसे ही है, आधुनिक ग्रीक से नहीं।

७. **इतालिक**—यूरोपके पश्चिमी भागकी आधुनिक भाषाओंमें इतालिक शाखा तथा ट्यूटोनिक [जर्मन] शाखाकी भाषाओंका ही अधिक विस्तार पाया जाता है। इतालिक शाखाकी प्रमुख भाषा लैतिन रही है, जो यूरोपमें ग्रीकके समान ही आदृत रही है, अपितु मध्यकालमें तो ग्रीकसे भी अधिक सम्मानित रही है। प्रा० भा० यू० के अध्येताके लिए लैतिनका महत्त्व भी संस्कृत व ग्रीकके समान ही है। लैतिनने संस्कृत व ग्रीककी तरह प्रा० भा० यू० पदरचना [Morphlogy] को सुरक्षित रक्खा है। इतालिक शाखाको दो उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है:— [१] लैतिन-फालिस्कन, [२] ओस्कन-उम्ब्रियन। इनमें द्वितीय उपशाखाके प्राचीन रूप शिलालेखोंमें मिलते हैं, किन्तु बादमें ये विभाषाएँ लुप्त हो गई हैं। प्रथम उपशाखामें दो विभाषाएँ थीं, लैतिन तथा फालिस्कन। लैतिनका साहित्य ईसासे पहलेका प्राप्त होता है। लैतिनकी परवर्ती स्थिति "वल्गर लैतिन" [भ्रष्ट लैतिन] के नामसे उसी तरह विख्यात है, जैसे पतञ्जलिने अपाणिनीय प्रयोगों को "अपभ्रंश" कहा था। वस्तुतः "वल्गर लैतिन" साहित्यिक "क्लैसिकल" लैतिनकी प्राकृत थी। इसी से फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज, प्रोवाँसाल, इतालियन, तथा रूमानियन भाषाओंका विकास हुआ है।

८. **केल्तिक**—केल्तिक शाखामें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो लैतिन [इतेलिक शाखा] में भी उपलब्ध होती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानोंने इतालिक व केल्तिकको एक ही शाखाकी दो उपशाखाएँ माना था। इतालिक तथा केल्तिक दोनोंमें ही दो तरहके भाषावर्ग पाये जाते हैं, एक वर्गमें प्रा० भा० यू० 'क' परिवर्तित नहीं होता तथा 'क' ही बना रहता है, तथा दूसरे में वह 'प' के रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इतालिक तथा केल्तिक शाखाओंकी दूसरी समानता यह है कि इन शाखाओंमें कर्मवाच्य रूपोंमें 'र्' का प्रयोग पाया

जाता है। उदाहरणके लिए आयरिश 'बेरी' [Beri] का अर्थ 'ले जाना' [सं० भरति] है। इसके कर्मवाच्य रूपमें बेरी-र् [Beri-r] [वह ले जाया जाता है], बेर्ती-र् [Berti-r] [वे ले जाये जाते हैं], रूप बनते हैं। इसी प्रकार लैतिनमें भी कर्मवाच्य रूपमें 'र्' पाया जाता है। वैसे 'र्' का प्रयोग तोखारिश, हित्ताइत तथा आर्मीनियनमें भी पाया जाता है।

केल्तिक शाखामें तीन उपशाखाएँ हैं—[१] गेलिक या गोइदेलिक [२] ब्रितेनिक, [३] गॉलिश। इनमें अंतिम शाखाकी भाषाके कुछ शिलालेख प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ स्थानों व व्यक्तियोंके नाम तथा लैतिनसे गृहीत शब्दोंका प्राचुर्य है। गॉलिश ईसाकी छठी शतीके लगभग लुप्त हो गई थी। गेलिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ आयरिश, स्कॉट, गेलिक, तथा मांक्स हैं। ब्रितेनिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाओंमें वेल्श तथा ब्रेतन हैं। ब्रेतन फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशमें बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टिसे इनमें आयरिशका साहित्य ईसाकी पाँचवीं शतीसे उपलब्ध होता है, तथा वेल्शका ईसाकी नवीं शतीसे। बाकी भाषाएँ साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध नहीं हैं।

६. **जर्मन या ट्यूटोनिक शाखा**—जर्मन या ट्यूटोनिक शाखाकी भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, आइसलैंड, हालैण्ड तथा इंगलैण्डमें बोली जाती हैं। जर्मन शाखाको तीन उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है—[१] पूर्वी जर्मन, [२] उत्तरी जर्मन तथा [३] पश्चिमी जर्मन। पूर्वी जर्मन शाखाकी कोई भी जीवित भाषा विद्यमान नहीं है। प्राचीन साहित्यिक दृष्टिसे इसके अंतर्गत गॉथिक भाषाके लिखित साहित्यका महत्त्व है, जो ईसाकी चौथी शताब्दीके बादसे प्राप्त होता है। भाषाशास्त्रीके लिए भारतयूरोपीय परिवारके तुलनात्मक अध्ययनमें जर्मन-शाखाकी विशेषता जाननेके लिए गॉथिक ही प्रमाणस्वरूप है। अन्य उपशाखाओंका इतना प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं। उत्तरी जर्मनका प्राचीन रूप र्‌यूनिक शिलालेखों [Runic Inscription] में उपलब्ध होता है। उसका परवर्ती साहित्यिक रूप प्राचीन नोर्स या प्राचीन आइसलैंडिक भाषाके

रूपमें मिलता है। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ स्वीडिश, डेनिश, नोर्वेजियन तथा आइसलैंडिक है।

पश्चिमी जर्मन उपशाखाका साहित्य तथा प्रचारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व है। इस परिवारकी जर्मन भाषा तथा अँगरेजीने साहित्यिक समृद्धिके कारण अन्तर्राष्ट्रिय ख्याति प्राप्त कर ली है। पश्चिमी जर्मनको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है, [१] हाई जर्मन, [२] लो जर्मन। हाई जर्मनके अतर्गत प्राचीन हाई जर्मन तथा आधुनिक जर्मन, डच तथा फ्लैमिश [बेलजियमकी भाषा] आती है। दूसरी कोटिके अतर्गत आग्ल-फ्रीजियन भाषा-युगल आता है, जिसमे साहित्यिक दृष्टिसे प्राचीन अँगरेजी या एग्लो-सैक्सन भाषा-भी महत्त्वपूर्ण है। अगरेजी तथा फ्रीजियन इस उपवर्गकी आधुनिक भाषाएँ हैं।

जेकब ग्रिमने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जर्मन भाषाके व्याकरण' [Duetsche Grammai] में हाई जर्मन तथा लो जर्मनके ध्वनिपरिवर्तनकी क्लैसिकल कालकी भाषा—ग्रीक तथा लैतिनसे तुलना करते हुए एक नियमको जन्म दिया था, जो भाषाविज्ञानमें "ग्रिमनियम" के नामसे विख्यात है। ग्रिम-नियमका सबध भारतीय आर्य भाषाओंसे किंचिन्मात्र भी नहीं है, न सस्कृत-से ही। इसका महत्त्व इस दृष्टिसे है कि प्रा० भा० यू० ध्वनियाँ गॉथिक तथा परवर्ती जर्मन भाषाओंमें किस रूपमें परिवर्तित हुई हैं। वैसे ग्रिमके नियमका वर्नरवाला उपनियम एक दृष्टिसे थोड़ा बहुत सस्कृतके लिए उप-योगी कहा जा सकता है, क्योंकि उसके कारण प्रा० भा० यू० स्वर [accent] का अनुमान लगाया जा सकता है।

१०. तोखारी—१६०४ में चीनी तुर्किस्तानमें कुछ हस्तलेख मिले थे, जो भारत-यूरोपीय परिवारकी किसी भाषामें थे। ये हस्तलेख ईसाकी छठी शतीके लगभगसे प्राप्त होते है। इस भाषाको 'तुषार' या 'तुखार' जातिके नामपर तोखारी, तोखारिक, तोखारेग, तोखारियन, तोखारिश कई नामोंसे पुकारा जाता है। यह भाषा यद्यपि भौगोलिक दृष्टिसे 'सतम्'

वर्गकी भाषाओंके द्वारा घिरी है, तथापि केन्तुम् वर्गकी है। इसमें "सौ" के लिए "कान्त" [Kant] शब्द पाया जाता है। तोखारी भाषासे अन्य उदाहरण ये दिये जा सकते है :—

पातर	सं०	पितृ
मातर	सं०	मातृ
ओक्त	सं०	अष्ट

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाकी मूल प्रकृति जाननेके लिए संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनका अत्यधिक महत्त्व है। इन तीनोंने प्रा० भारतयूरोपीय भाषाकी पदरचनात्मक विशेषताओंको अधिकाधिक रूपमें सुरक्षित रक्खा है। ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत प्रा० भा० यू० की प्रकृतिको अधिक सुरक्षित रख सकी है, यद्यपि प्रा० भा० यू० स्वरध्वनियाँ संस्कृतमें अत्यधिक संकुचित हो गई है। संस्कृतने पाँच प्रकारकी प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंको आज भी किसी न किसी रूपमें सुरक्षित रक्खा है, जब कि ग्रीक व लैतिनमें वे तीन प्रकारकी कवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग वाली ध्वनियोंमें ही समाहित हो गई है। इसी प्रकार संस्कृतने प्रा० भा० यू० अघोष महाप्राण तथा सघोष महाप्राण दोनों प्राण ध्वनियोंको सुरक्षित रक्खा है। इसी प्रकार ग्रीक तथा लैतिनमें शब्द रूपोंकी विभक्तियाँ भी कम हो गई है, जब कि संस्कृतने प्रा० भा० यू० की आठों विभक्तियोंको अक्षुण्ण बनाये रखा है। यही नहीं, वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वर [Accent] को भी अधिकांश तक सुरक्षित रक्खा है। इन सब कारणोंसे प्रा० भा० यू० के अध्येता ही नहीं, अपितु भा० यू० परिवारकी किसी भी शाखाके प्राचीनतम रूपके अध्येताके लिए, चाहे वह ग्रीक हो, या लैतिन या गॉथिक या प्राचीन चर्च स्लॉविक या प्राचीन फारसी, संस्कृतकी आवश्यक प्रकृतिका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। भारतीय आर्य भाषाके विद्यार्थीके लिए तो संस्कृत मूल उत्सभूमि है, इस उद्गम स्रोतकी प्रकृतिको जाने बिना उसके लिए एक पैर भी आगे बढ़ना कठिन होगा। इतना ही नहीं, भाषाशास्त्रके सामान्य नियमोंके ज्ञानके लिए भी

संस्कृतका थोड़ा बहुत परिचय आवश्यक हो जाता है। १८ वीं शतीके अंत-से लेकर आज तक भाषाशास्त्रके विकासका इतिहास संस्कृतके अध्ययनसे अनुस्यूत रहा है, तथा भाषाशास्त्रके इतिहासको समझनेके लिए संस्कृतका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जब हम भाषाशास्त्र तथा संस्कृत भाषाके घनिष्ठ सम्बन्धकी बात करते हैं, तो हमारा अर्थ यह है कि भाषाशास्त्रको जन्म देनेमें प्रमुख हाथ संस्कृतका ही रहा है। एकमात्र संस्कृतके परिचयने ही यूरोपमें भाषाविज्ञानको जन्म दिया यह कहना अतिशयोक्ति न होगा, चाहे ओत्तो येस्पर्सन इसे अतिशयोक्ति माने। फिर भी येस्पर्सन संस्कृतके महत्त्वका तथा भाषाविज्ञानमें उसकी प्रबल प्रेरणाका निषेध नहीं करते।[1]

तो भाषाशास्त्रके जन्ममें निःसंदेह संस्कृतका प्रमुख हाथ रहा है। जब हम भाषाशास्त्रके जन्मकी बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य १९ वीं शतीके आरंभमें यूरोपमें विकसित तुलनात्मक व्याकरण [Comparative Grammar, Philology] की प्रणालीसे है। जैसा कि यूरोपमें संस्कृतके परिचयके सम्बन्धमें विख्यात है, यूरोपीय विद्वानोंने इसे पाकर, जैसे भाषा सम्बन्धी पुराने यूरोपीय विचारोंमें एक आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। पुराने यूरोपीय विद्वान् समस्त विश्वकी भाषाओंको [यूरोप तथा एशियाकी भाषाओंको] हिब्रूसे उत्पन्न मानते थे, तथा कुछ विद्वानोंने हिब्रूको आधार मानकर यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन भी उपस्थित किया था, जिसमें वे असफल ही हुए थे। जबसे यूरोपीय विद्वानोंको संस्कृतका पता लगा, तबसे वे इस भ्रान्त धारणाको छोड़कर भाषाशास्त्रकी वैज्ञानिक दिशाकी ओर बढ़ने लगे।

यूरोपीय जगत्को संस्कृतका परिचय देनेका श्रेय सर विलियम जॉन्सको है। वैसे सर जॉन्सके पूर्व भी कोर्दो [Coeurdoux] नामक फ्रेंच पादरीने सन् १७६७ में फ्रेंच इन्स्टिट्यूटके पास भारतसे एक लेख भेजा था, जिसमें

1 Otto Jespersen Language P 33.

उसने संस्कृत तथा लैतिनकी समानताओंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उसने संस्कृत अस् धातुके वर्तमानके रूपोंको उदाहृत करते हुए लैतिनके रूपोंसे इनकी तुलना की थी। किन्तु कोर्दोको संस्कृतके परिचय देनेका श्रेय न मिल सका, उसका लेख भी लगभग चालीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा उससे पहले ही अनेक विद्वानोंने इस समानताकी ओर यूरोपीय जगत्का ध्यान आकृष्ट करा दिया था। सर जॉन्सने सन् १७८६ मे संस्कृतके विषयमें जो शब्द कहे थे, वे आज भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रके उदयके बीज माने जाते हैं:—

"संस्कृत भाषाकी पदरचना अत्यधिक अद्‌भुत है चाहे उसका मूल उद्‌गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीकसे भी अधिक पूर्ण, लैतिनसे अधिक समृद्ध तथा दोनोंसे अधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनोंसे क्रियाओंके मूलरूपों [धातुओ] तथा व्याकरणके रूपोंकी दृष्टिसे घनिष्ठतया सम्बद्ध है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ है कि कोई भी भाषाशास्त्री उन तीनोंका अध्ययन यह माने बिना नहीं करेगा कि वे सब किसी एक ही स्रोतसे उत्पन्न हुई है, जो अब नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारणके आधार पर—यद्यपि यह कारण इतना दृढ़ नहीं है—यह भी कहा जा सकता है कि गॉथिक तथा केल्तिक भी, संस्कृतकी समान-स्रोत है, तथा प्राचीन फारसीको भी इसी परिवारसे जोड़ा जा सकता है।"

१९ वीं शतीके आरभमे भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणको अग्रेसर करनेवाली सर्वप्रथम पुस्तक श्लेगेलकी 'उबेर दी स्प्राख उन्द वाइसहाइट दर इन्देर' [भारतकी भाषा तथा ज्ञान-संपत्ति पर] १८०८ मे प्रकाशित हुई। इस पुस्तकके अंतर्गत श्लेगेलका प्रमुख ध्येय संस्कृत साहित्यिक संपत्तिकी ओर संकेत करना था, किन्तु संस्कृत भाषा पर भी उसने अपने विचार प्रकट किये हैं। यह दूसरी बात है कि कई भाषाशास्त्रीय अनुमानोंमें वह भ्रांत दिशाका आश्रय लेता है, उदाहरणके लिए फारसी

तथा जर्मनको अत्यधिक घनिष्ठ माननेकी उसकी धारणा भ्रांत है। संस्कृतको ही आधार बनाकर श्लेगेलने समस्त विश्वकी भाषाओंको दो भागोंमे विभक्त किया था, [१] संस्कृतसे सम्बद्ध भाषाएँ, तथा [२] अन्य भाषाएँ।

श्लेगेलके बाद यद्यपि रास्क तथा ग्रिमने भारत यूरोपीय परिवारकी यूरोपीय भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया, किन्तु संस्कृतकी परंपराका उत्थान करने वाला फ्रेंज बॉप था। उसने १८१६ में अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध "संस्कृत भाषाकी पदरचना तथा ग्रीक, लैतिन, फारसी और जर्मन भाषाकी पदरचनाके साथ उसकी तुलना पर" [उबेर देश कोंजुगाशन्स-सिस्तेम देर संस्कृत स्प्राख इन वर्ग्लेंखुग मित येनेम देर ग्रीसिस्खेन, लेतिनिस्खेन, पेरिशिस्खेन, उन्द जेर्मानिस्खेन स्प्राख] को प्रकाशित कराया, जो आज भी भारत-यूरोपीय पदरचनाशास्त्र [Philology] का दीपस्तम्भ माना जाता है।

संस्कृतकी दृष्टिसे बॉपकी परम्पराको बढानेवाला श्लेखर था। प्राचीन भारत यूरोपीय भाषाके काल्पनिक रूपकी अवतारणा करनेका श्रेय श्लेखरको ही दिया जा सकता है। श्लेखरने तो इस भाषामें "एक भेड़ और घोड़ेकी कहानी" भी लिखी थी, जिससे एक वाक्य इस पुस्तकके सप्तम अध्यायमे उद्धृत किया गया है। काल्पनिक प्रा० भा० यू० के पुनर्निर्माण [Reconstruction]के अतिरिक्त श्लेखरका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पदरचनाकी दृष्टिसे भाषाओंका आकृतिमूलक वर्गीकरण है। श्लेखरने ही सर्वप्रथम तीन तरह की भाषाएँ मानी हैः—

१. व्यास प्रधान भाषाएँ [Isolating languages]
२. प्रत्यय प्रधान भाषाएँ [Agglutinating languages]
३ विभक्तिप्रधान भाषाएँ [Inflexional languages]

श्लेखरके परवर्ती कालमें, जिसे नव्य वैयाकरणों [न्यू ग्रेमेरियन्स] का काल कहा जाता है, भारतयूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणका अत्यधिक अध्ययन होने लगा। ब्रुगमान, मैक्समूलर, ह्विटनी, सोस्यूर आदि कई

विद्वानोंने प्रा० भा० यू० के कई अपवादरूपोको वैज्ञानिक सिद्ध किया। प्रा० भा० यू० के परवर्ती अध्येताओंमे ए. मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख तथा स्टर्टेवेट प्रमुख हैं। मेये ने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की कि प्रा० भा० यू० कल्पित रूपोको वस्तुतः किसी बोली जानेवाली प्राचीन भाषाका रूप मानना भ्रात है, तथा वे केवल सूत्र रूप हैं, जो ग्रीक, लैतिन, संस्कृत आदि भाषाओंके परस्पर सम्बन्धके सकेत या प्रतीक है। वाकेरनागेलने 'अल्तिन्दिश्के ग्रामतीक' नामसे संस्कृत भाषाका तुलनात्मक व्याकरण उपस्थित किया, जिसे कोई भी संस्कृत भाषाका अध्येता अपनी गवेषणा करते समय नहीं छोड़ सकता। प्रस्तुत, पुस्तिकाके लिखनेमे वाकेरनागेलका यह महार्घ ग्रन्थ सदा पथप्रदर्शक रहा है। इसके अतिरिक्त ज्यूल ब्लॉखकी "लॉंदो आर्यॉं" [L' Indo Aryen] भी संस्कृतके तुलनात्मक अध्ययनमे नया कदम है। वाकेरनागेलका ग्रन्थ जहाँ संस्कृतका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करता है, वहाँ ब्लॉखका ग्रन्थ वैदिक संस्कृत तथा अवेस्तासे लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक बड़ा सुदर तथा महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक अध्ययन है। इन तीनों ग्रन्थोंको बीसवीं शतीके महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्रीय ग्रन्थ कहना अनुचित न होगा। भारतीय आर्य भाषाओंके अध्ययनके लिए डॉ० चाटुर्ज्याका विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ "बगाली भाषाका उद्भव व विकास" एक दीपस्तम्भ है, जिसने अनेकों विद्वानोंको निश्चित दिशा प्रदान की है।

यहाँ हमारा लक्ष्य भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंकी उद्धरणी देना न होकर भाषाशास्त्रके विकासमे संस्कृतके योगका संकेत भर करना था। संस्कृतके भाषाशास्त्रीय महत्त्वका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि यूरोपके विश्व-विद्यालयोंमे भाषाशास्त्रीय अध्ययनमे प्रवृत्त गवेषकके लिए कमसे कम संस्कृतका सामान्य परिचय तो आवश्यक हो ही जाता है। इस पुस्तकमे संस्कृतके सामान्य परिचयको ही लक्ष्य बनाया गया है। संस्कृत भाषाका सर्वांगीण [भाषा-शास्त्रीय] अध्ययन तो इतनेसे क्षेत्रमे संभव नहीं।

संस्कृत भाषा–उत्पत्ति [आदिम भारतयूरोपीय]

सस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मनीय परिवारकी प्रमुख भाषाओंमें है। इस परिवारको आर्य-परिवारके नामसे भी अभिहित किया जाता है। किन्तु यह नाम प्रायः समस्त परिवारके लिए प्रयुक्त न किया जाकर, इस परिवारकी एक विशेष शाखा, भारतेरानी [हिन्द-ईरानी], के लिए प्रयुक्त होता है। यह परिवार आठ या अधिक [दस] शाखाओंमें विभाजित है। इनमेंसे प्रत्येक शाखा पुनः उपशाखाओंमें विभाजित है, यह हम आमुखके अन्तर्गत देख चुके हैं। ये शाखाएँ हैं :—[१] भारतेरानी शाखा, जिसके अन्तर्गत वैदिक सस्कृत, लौकिक सस्कृत तथा इससे उद्भूत हिंदी, बगाली, गुजराती, मराठी आदि आर्य भारतीय भाषाएँ तथा प्राचीन ईरानी भाषा, जिसका रूप हमें पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्तामें मिलता है, तथा उससे उत्पन्न नव्य फारसी, पश्तो आदि हैं, [२] बाल्तो-स्लाविक शाखा, जिसके अतर्गत प्राचीन रूसी, पोलिश, बोहेमियन, लिथुआनियन आदि भाषाएँ हैं, [३] आर्मेनियन शाखा, [४] अल्बेनियन शाखा[1], [५] ग्रीक शाखा, इसके अन्तर्गत प्राचीन यूनानकी प्रसिद्ध साहित्यिक भाषा ग्रीक तथा उससे उत्पन्न आजकी ग्रीक है, [६] इतेलियन शाखा, जिसमें प्राचीन ओस्कन तथा उम्ब्रियन भाषाएँ, लैतिन तथा आजकी रोमास भाषाएँ-फ्रेंच, इतेलियन, स्पेनिश आदि हैं, [७] केल्तिक शाखा, जिसका प्रचार एक समय सारे पाश्चात्य यूरोपमें था, किन्तु आज इससे उद्भूत आयरिश

---

१. आर्मेनियन तथा अल्बेनियन दो भिन्न शाखाएँ हैं, जो एशिया–माइनरमें पाई जाती हैं।

तथा वेल्शके बोलनेवाले बहुत थोड़े हैं[1], [८] जर्मनीय शाखा, जिसमें अँगरेजी, डच, जर्मन, स्कैण्डिनेवियन आदि भाषाएँ हैं। अन्वेषकोंने कुछ ऐसी भी भारतयूरोपीय भाषाओंका पता लगाया है, जो एक समय बोली जाती थीं, किन्तु आज सर्वथा लुप्त हो गई हैं। इन भाषाओंमें कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें भिन्न शाखाएँ स्वीकार किया गया है। ये तोखारी तथा हित्ताइत वर्ग हैं, जिन्हें हम भारतयूरोपीय परिवारकी नवीं तथा दसवीं शाखा मान सकते हैं।

इन समस्त शाखाओंमें कुछ ऐसी निकट समानताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें एक परिवारमें सम्मिलित किया गया है। उदाहरणके लिए संस्कृत 'पितृ' [पितर्] शब्दको ले लीजिये। यह शब्द ग्रीक शब्द 'पतेर' [pater], लैटिन 'पतेर' [pater], जर्मन 'वातेर' [vater] तथा अँगरेजी 'फादर' [father] से मिलता है। इन सभी शब्दोंमें एक सी पदान्तता पाई जाती है। ग्रीक तथा लैटिनमें तो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी संस्कृतके समान ही हैं। जर्मन तथा अँगरेजीमें व्यञ्जन ध्वनियाँ परिवर्तित हो गई हैं, किन्तु ये परिवर्तन ध्वनि-नियमोंके आधार पर हुए हैं। संस्कृतकी अघोष अल्पप्राण ध्वनि, अँगरेजीमें महाप्राण तथा जर्मनमें सघोष अल्पप्राण पाई जाती है।[2] यद्यपि ये भाषाएँ अपनी अपनी निजी विशेषताओंसे युक्त हैं, फिर भी इन सब समानान्तर रूपोंमें हम एक समान सूत्रकी कल्पना कर सकते हैं, जिसे हम "*प्अतेर [*pəter] रूप देते हैं। यह तुलनात्मक रूप भारत-यूरोपीय परिवारकी काल्पनिक आदिम भाषा [Ursprach] का माना गया है। आदिम भारत-यूरोपीय जैसी भाषा थी भी या नहीं, इस पर हम आगे

---

१. फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशकी ब्रेतन [Breton] भी इसी शाखाकी भाषा है।

२. भाषाशास्त्रमें यह नियम "ग्रिमके नियम" (Grimm's Law) के नामसे प्रसिद्ध है।

प्रकाश डालेंगे। सस्कृतसे एक दूसरे और उदाहरणको ले लीजिये। सस्कृत 'भरामि' के समानान्तर ग्रीक 'फेरो' [phero], लैतिन 'फ़ेरो' [fero], अँगरेजी 'बीयर' [bear], प्राचीन चर्च स्लावोनिक 'बेरन' [beran] को देखिये। इन सभीका अर्थ "मै ले जाता हूँ" है। इन सभीमें हम समान सूत्र "*भेर्–" [*bher–] की कल्पना कर सकते हैं। विश्वके अन्य भाषा-परिवारोंमें यह समानता नहीं मिलती।

इस परिवारकी भाषाओंका विशेष अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनमे व्याकरणात्मक सबधोंको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक पदमे प्राय तीन तत्त्व होते हैं, मूल रूप [शब्द या धातु], प्रत्यय, तथा विभक्तिचिह्न। उदाहरणके लिए सस्कृत पद "गच्छता" को हम क्रमश. "गम्" [*गच्छ्], "शतृङ्" [अत् < *अन्त] तथा "टा" [आ] में विभक्त कर सकते हैं। इसी तरह सस्कृत के "दातरि" तथा ग्रीक "दोत्रि" [dotri] में क्रमशः "दा", "तर्" [तृ] तथा "इ" [ङि] एव 'दो' [do], "तोर" [tor], तथा 'इ' [i] इन तीन तत्त्वोंको मान सकते हैं। तुर्की तथा द्रविड़-परिवारकी प्रत्यय-प्रधान भाषाओं की भाँति यहाँ इन तीन तत्त्वोंमें से किसी भी तत्त्वको अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्यय प्रधान भाषाओंमें प्रत्यय अपना निश्चित रूप तथा अर्थ रखते हैं, किन्तु यह बात भारत-यूरोपीय भाषाओंके विषयमे नहीं। यद्यपि क्रियासे बने नाम-शब्दोंमें [कृदन्त] प्रत्यय किसी विशेष भावका बोध अवश्य कराते हैं, जैसे ऊपर का "तर्" [तोर्] प्रत्यय, तथापि यहाँ भी वह "दातर्" [दातृ] या ग्रीक "दोतार्" का अविभाज्य अग ही है। नव्य भारोपीय भाषाओंमें, अधिकतर भाषाओंमे, ये विभक्तियाँ न्यून होती गई हैं। सस्कृतमें जहाँ आठ विभक्तियाँ हैं, वहाँ हिंदी व नव्य भारतीय भाषाओंमें दो ही विभक्तियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः अविकारी तथा विकारी कह सकते हैं। ठीक यही बात क्रियाओंके विषयमें कही जा सकती है। सस्कृतके दस [अथवा ग्यारह, यदि लेट्को भी माना जाय तो] लकार आज सकु-

चित होकर किसी भाषामें तीन तथा किसीमें चार रह गये हैं। ठीक यही बात यूरोपमें ग्रीक तथा लैतिनकी छः विभक्तियोंके विषयमें कही जा सकती है, जो फ्रेंच, अँगरेजी आदिमें केवल एक ही विभक्तिके रूपमें देखी जाती है।

उपर्युक्त इन सभी शाखाओंमें व्याकरणात्मक संबंध विभक्तियों से व्यक्त किये जाते थे, जिनके रूप प्रायः एक-से होते थे। आदिम भारोपीय भाषामें आठ विभक्तियाँ थीं। इनमेंसे कई भाषावर्गोंमें अधिकतर छः ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। इन भाषाओंके विभक्तिरूपोंकी समानताके लिए "वृक" शब्दके द्वितीया बहुवचनको ले लीजिये। सं० 'वृकान्', ग्रीक 'लुकोउस' [प्राचीनरूप —लुकोन्स] [lukous→luk-ons] गोथिक 'वुल्फोन्स' [wulf-ons][1], लैतिन 'लुपोस' [lup-os], ये सब समान सूत्र "*व्लृक्' [*wl̥k–] की ओर संकेत करेंगे, जिसमें द्वितीया बहुवचनका विभक्ति चिह्न '*ओन्स' [–*ons] लगा हुआ है। पूरा प्राचीन रूप *व्लृकोन्स [*wl̥k-ons] होगा। इस समस्त परिवारकी भाषाओंमें "अ-कारान्त", "आ-कारान्त", अन्य स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त [हलन्त] शब्द पाये जाते हैं। इन भाषाओंके तिङन्त [क्रिया] रूप भी इसी प्रकार समानान्तर हैं। क्रियाओंके संबंधमें इस परिवारमें एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य भाषा-परिवारोंमें नहीं। यह विशेषता संस्कृत तथा ग्रीक दोनोंमें स्पष्ट है। कई गणोंमें तथा प्रायः परोक्षभूते लिट्में, हम देखते हैं, कि धातुमें द्वित्व हो जाता है। संस्कृत√ धा–दधाति, दधौ, संस्कृत√ मन्–मम्नाते, √ दा–ददौ। इन्हीं के समानान्तर ग्रीकरूप 'तथेतइ' [tethetai],[2] ममोन [memona], 'ददोतइ' [dedotai] को देखिये।

---

१. मिलाइये, अँगरेजी 'वुल्फ' [wolf]. २. ग्रीकमें सघोष महाप्राण ध्वनियां नहीं हैं। संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनि वहाँ अघोष महाप्राण हो जाती है।

भारत यूरोपीय परिवारकी दूसरी प्रमुख विशेषता "अपश्रुति" है, जो अधिकतर जर्मन पारिभाषिक सज्ञा "अब्लाउत" [Ablaut] के रूपमे प्रसिद्ध है। एक ही मूल रूप, कई भाषाओ में कभी एक स्वरसे युक्त तथा कभी दूसरे स्वरसे युक्त पाया जाता है। इस प्रकारकी अपश्रुतिको "गुणात्मक अपश्रुति" कहते हैं। कभी कभी मूल रूप विभिन्न मात्रावाले [शून्य, ह्रस्व तथा दीर्घ रूप] एक ही स्वर से युक्त रूपों में पाया जाता है, जिसे "मात्रिक अपश्रुति" कहा जाता है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, सस्कृतमें गुणात्मक अपश्रुति नहीं पाई जाती। सस्कृतसे मात्रिक अपश्रुतिके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं:—भार., भरामि, भृति., अश्रौषीत्, श्रोता [श्रोतृ], श्रुतम् जिनमें एक ही स्वरका क्रमशः दीर्घ, साधारण [ह्रस्व] तथा शून्य रूप पाया जाता है। इन्हींको सस्कृत व्याकरणकी परिभाषामें वृद्धिरूप, गुणरूप, तथा मूल रूप कह सकते हैं। जैसा कि हम आगे बतायेंगे सस्कृत व्याकरणका गुणरूप ही तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका मूल स्वर है, तथा उनका मूल रूप तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका शून्य रूप [स्वराभावरूप] है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए, हम यह कह सकते हैं कि प्रथम त्रिवर्गके उदाहरणोंमें मूल रूप "भर्" [*भर्] है, जिसमें सस्कृत स्वर "अ" [आ०भा०यू० *ए] है। यहीं 'अ' दीर्घ रूपमें 'भार' में पाया जाता है, 'भृति.' में यह 'अ' लुप्त हो गया है, अर्थात् इस स्वरका शून्य रूप [zero-vowel] वहाँ पाया जाता है।

इन भाषाओं की इस प्रकारकी समानताएँ इस परिणामकी ओर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषासे उत्पन्न हुई है। यद्यपि इस प्रकारकी कोई भी भाषा विद्यमान नहीं, जिसे इन सब भारोपीय भाषाओंकी जननी कहा जा सके, तथापि भारोपीय परिवारकी विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषाओंके पारस्परिक सबधके आधारपर इस भाषाकी कल्पना की गई है। कल्पित रूप होनेके कारण इस भाषाके शब्दोंको तारकचिह्नित [Star-formed] रूप मे लिखा जाता है। इस आदिम भाषाके कल्पित रूपने कई विद्वानोंमे यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि ऐसी

भाषा अवश्य रही होगी, जो ग्रीक, लैतिन, वैदिक संस्कृत आदि की जननी थी, किन्तु इस भाषाकी वास्तविक सत्ता मानना निर्भ्रान्त नहीं। यही कारण है कि कई विद्वान् तो आदिम भारोपीय भाषाके अस्तित्वपर ज़ोर देनेवाले पुराने खेवेके जर्मन भाषाशास्त्रियोंको, जो अभिनव वैयाकरण [Neo-grammarians] के नाम से भी प्रसिद्ध है, शुद्ध भाषाशास्त्री न मानकर केवल "तुलनात्मक पदरचनाविद्" मानते है। फिर भी एक दृष्टि से इन कल्पित रूपोंका महत्त्व तुलनात्मक भाषाशास्त्रमे अवश्य है। ये रूप एक प्रकारसे सूत्ररूप [Formulae] है, जो विभिन्न संबद्ध भाषाओंके समान रूपोंका संकेत करते है, चाहे वे सब रूप इसी सूत्र रूपसे उद्भूत न हुए हों। ग्रीक तथा संस्कृतमे पाई जानेवाली विशेषताएँ इनमे आरंभसे ही है। यदि दोनों भाषाभाषी जातियोंका उद्भव एक ही स्थानपर मान भी लिया जाय, तो ये दो विभाषाएँ थीं, जिनमे अपनी अपनी निजी विशेषताएँ पाई जाती थीं। प्रसिद्ध फ्रेंच भाषाशास्त्री मेये [Meillet] ने इसीलिए इन तारकचिह्नित भारतयूरोपीय रूपोंको सूत्र रूप माना है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार आदिम भारतयूरोपीय रूप भाषाओंके विकासमे बादकी सीढी है। स्टर्टेवन्टके मतानुसार बोगाजकुईके लेखोमे अन्विष्ट हित्तादत भाषा आदिम भारतयूरोपीयकी पुत्री न होकर भगिनी है, और इस प्रकार वह प्राचीन भारत-हित्तादत भाषाकी कल्पना करता है, जो काल्पनिक भारोपीय तथा हित्तादत दोनोंकी जननी रही होगी।[1]

प्रसिद्ध रूसी भाषाशास्त्री मारके मतानुसार भारत-यूरोपीय परिवार अलगसे परिवार न होकर कॉकेशियन भाषाओंसे सबद्ध है। इनके तुलनात्मक आधार पर उसने अपनी अलगसे सिद्धान्तसरणि स्थापित की थी। यह काल्पनिक भाषा-परिवार "जफेतिक" के नामसे प्रसिद्ध है। मारके मतानुसार

---

१. देखिये Sturtevant . Indo-Hittite Laryngeals Ch I. साथ ही Sturtevant · Indo-Hittite ['Language' 1926 Vol. II. P 30]

जफेतिक परिवारकी भाषाएँ यूरोपके पिरेनीज पहाड़ोंसे लेकर मध्य-एशियामें पामीर तक बोली जाती थीं। उसने सारी आर्य तथा काकेशियन भाषाओंको एक चतुःसूत्री जफेतिक भाषाकी बोतलमे भरनेकी चेष्टा की है। उसके ये चार सूत्र हैं :—सल् [Sal], बेर् [Ber], योन [Yon] तथा रोश् [Rosˇ]। पर मारकी सरणि त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो चुकी है। स्वय उसके शिष्य ही उसकी त्रुटियोंको स्वीकार करने लग गये है।[1]

इन भाषाओंकी समानता देखकर अनुमान होता है कि आरभमें इनके बोलनेवाले एक ही स्थान पर रहते होंगे। यद्यपि उस समय विभिन्न वर्गोंकी विभाषाओंमें परस्पर कुछ ध्वन्यात्मक विभेद रहा होगा, तथापि वे विभाषाएँ प्राय. एक-सी ही थीं। ये आदिम भारोपीय भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग, जिन्हें भाषा-शास्त्रियोंने 'वीरोस्' [wiros] नाम दिया है, आरभमं कहाँ रहते थे, इस विषयमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। स्व० बाल गगाधर तिलकके मतानुसार ये उत्तरी ध्रुवसे मध्य एशियामें आये थे। मध्यएशियासे ही यह आर्य-जाति दो प्रमुख वर्गोंमें विभाजित हो गई थी। एक वर्ग यूरोपकी ओर चल पड़ा, एक ईरान एव भारतकी ओर। मैक्समूलर आदि विद्वान् मध्य एशियाको ही आर्योंकी आदिम जन्म-भू समझते हैं। श्रोएदरके मतानुसार आर्योंकी आदिम जन्मभूमि वोल्गा नदीके आसपास थी। वहींसे इनके विभिन्न वर्ग विभिन्न दिशाओंकी ओर चल पड़े। इन वर्गोंके पृथक् होनेके पूर्व ही आर्यजाति सभ्यताकी दृष्टिसे विकसित हो चुकी थी। पशुचारण तथा कृषि इनका मुख्य व्यापार था। ये लोग ग्राम बसा कर रहना सीख गये थे, किन्तु ये ग्राम फिर भी स्थिर न होकर यायावर थे। भेड़, घोड़ा, कुत्ता, गाय जैसे पालतू जानवर तथा रीछ एव भेड़िये जैसे जगली पशुओंसे

---

१. देखिये न्यूयार्क से प्रकाशित Soviet Controversy in Linguistics. नामक पुस्तक। साथ ही W K Mathews का विस्तृत लेख Soviet Contribution to Linguistics [Archivum Linguisticum vol 2 P. I-II, PP 1–23, 97–121]

ये लोग परिचित थे, क्योंकि इनके लिए इस परिवारकी प्रायः सभी भाषाओंमें एकसे शब्द पाये जाते हैं। यथा,

१. स० अविः—ग्रीक ओइस् [ouis], रूसी ओउका कोरोना [ouka Korona] प्रा० भा० यू० *ओविस् [*owis]

२. स० अश्वः—ग्रीक हेप्पोस् [heppos], लिथुआनियन अश्व, [as'va] प्रा० भा० यू० *एक्वोस् [*ek"os.]

३. स० श्वा (श्वन्)—ग्रीक कुओन् [kuon], लिथु० शुओ [s'uo] प्रा० भा० यू० *कुनोस् [*kunos].

४. स० गौ.—ग्रीक बोउस् [bous], लै० बोस [bos], फ्रेंच बोफ [bœuf], रूसी गोव्यादिना [govyadina]; प्रा० भा० यू० *ग्वोवस् [*g"ou̯s][1]

इन शब्दोंके अतिरिक्त कई अन्य वस्तुएँ भी समान नामसे अभिहित की जाती हैं, जैसे धूम, शहद [मधु], रुधिर, मांस आदि। माता, पिता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, देवर, जामाता, पति, श्वशुर, श्वश्रू आदिके नाम भी इनमेंसे कई भाषाओंमें समान हैं। जैसाकि हम आगे देखेंगे, विभिन्न क्रियाओं तथा उपसर्गोंके रूप भी एक ही प्रकारके पाये जाते हैं।

भारत यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन करने पर ऐसा पता चलता है कि ये भाषाएँ दो वर्गोंमें बाँटी जा सकती हैं, जो भिन्न भिन्न आर्योंकी विभाषाएँ रही होंगी। इससे पूर्व कि हम इन दो वर्गोंको लें, हमें यह देखना है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके आधार पर आदिम भारत योरोपीय भाषाका काल्पनिक रूप कैसा माना जाता है।

---

१. भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार *ग्वोवस् शुद्ध भा० यू० न होकर सुमेरी [अनार्य] भाषाके "गु" शब्दसे लिया गया है, जिसका अर्थ गाय है।

किसी भी भाषाके अध्ययनको तीन अंगोंमें विभाजित किया जा सकता है, प्रथम उसकी ध्वनियोंका अध्ययन, दूसरे उसकी पदरचनाका, तीसरे वाक्य-रचनाका। इसके अतिरिक्त एक चौथा भाषाशास्त्रीय तत्त्व और है जिसके अन्तर्गत भाषाके शब्द-कोष तथा अर्थ-प्रक्रिया पर विचार किया जाता है, जो 'अर्थ-विज्ञान' कहलाता है। आदिम भारतयूरोपीय भाषाकी वाक्यरचनाके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। शब्दकोष का विचार हम कल्पित रूपोंके अन्तर्गत कर ही लेते हैं।

आदिम भारत यूरोपीय ध्वनियाँः—भारत यूरोपीय परिवारकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनसे भाषाशास्त्रियोंने कल्पना की है कि आदिम भा० यू० भाषामें शुद्ध स्वर सात थेः—अ, आ, ऍ, ए, ऑ, ओ, तथा 'अ' [ə]। अ, ऍ तथा ऑ ह्रस्व स्वर थे, एवं अ एक प्रकारका दुर्बल स्वर था। आ, ए, ओ क्रमशः ह्रस्व अ, ऍ, ऑ के दीर्घ रूप थे। जैसा कि हम आगे देखेंगे संस्कृतमें भा० यू० स्वर संकुचित हो गये हैं। ग्रीकमें ये स्वर इसी रूपमें पाये जाते हैं, हाँ दुर्बल स्वर वहाँ नहीं पाया जाता। ग्रीकमें ह्रस्व अ, ऍ, ऑ तथा दीर्घ आ, ए, ओ दोनों प्रकारके वर्गके सम्पूर्ण छः स्वर हैं किन्तु संस्कृतमें आकर अ तथा उसका दीर्घ रूप आ ही शुद्ध भारोपीय स्वरके रूपमें पाये हैं। संस्कृतमें आकर आदिम भा० यू० ह्रस्व ऍ, ऑ ने अ का रूप तथा दीर्घ ए, ओ ने आ का रूप धारण कर लिया है। उदाहरण के लिए देखिये :—

संस्कृत भरामि, ग्रीक फॅरो [phero] प्रा० भा० यू० *भॅर् [*bher]
सं० अष्ट, ग्रीक ऑक्तॉ [octo] प्रा०भा०यू० *ऑक्तॉ [*octo]
सं० अधात्, ग्रीक ऍ-थे-के [ethēke] प्रा०भा०यू० *ऍ-धे- [*e-dhē]
सं० ज्ञात., ग्रीक ग्नोतॉस् (gnōtos) प्रा०भा०यू० ग्नतॉस् [*gn-tos]

संस्कृत ए, ओ तथा ऐ, औ शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनियुग्मोंसे जनित हैं इसे हम आगे बतायेंगे। दुर्बल स्वर अ (ə),—जिसे 'श्वा'

(Schwa) कहा जाता है—की कल्पना इसलिए आ०भा०यू०में की गई है कि जहाँ ग्रीक तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमें अ स्वर पाया जाता है, वहाँ कई समानान्तर शब्दोंमें भारतेरानी शाखामें इ हो जाता है। यदि आ० भा०यू०में अ ही माना जाय, तो भारतेरानी शाखामें अ अवश्य होना चाहिए था। उदाहरणके लिए ग्रीक शब्द "पतेर् [pater] का समानान्तर संस्कृत शब्द पितृ [पितर्] है, यह हम देख चुके हैं। यदि मूल भा० यू० भाषामें अ स्वर होता, तो संस्कृतमें *पतृ [पतर्] रूप होना चाहिए था, वह नहीं पाया जाता। अतः स्पष्ट है कि इस शब्दमें मूल भा० यू० स्वर अ [a] नहीं था। इसीलिए उसे अ [ə] माना गया है। इस शब्दका भा० यू० मूलरूप *पूअतेर [pəter] रहा होगा।

इन शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त उस भाषामें छः अन्तःस्थोंकी कल्पना की गई है। अन्तःस्थ वे ध्वनियाँ हैं, जो वस्तुतः व्यञ्जन होते हुए भी कभी कभी स्वरका भी काम करती हैं। हम देखते हैं कि स्वर अक्षर [सिलेबिल] की संघटनामें प्रमुख कार्य करते हैं। इन्हें व्यञ्जनकी आवश्यकता नहीं होती, किंतु इनकी सहायताके बिना व्यञ्जनका उच्चारण स्वतन्त्र अक्षरके रूपमें नहीं किया जा सकता। अन्तःस्थ वे अपवादपूर्ण व्यञ्जन हैं, जो कभी कभी अक्षर संघटना [Syllabic function] में स्वरका कार्य करते हैं। आदिम भा०यू० भाषामें य् , व् , र् , ल् , न् , म , ये छः अन्तःस्थ माने गये हैं। इन्हींका अक्षर संघटनाधारी स्वर रूप इ, उ, ऋ, लृ, (अ-) न् , (अ-) म् पाया जाता है। मात्राकी दृष्टिसे इनके रूप ह्रस्व, दीर्घ तथा शून्य तीनों प्रकारके पाये जाते हैं। व्यञ्जन रूप तथा स्वर रूपके अतिरिक्त ये अन्तःस्थ एक ऐसा भी रूप रखते थे जो स्वर तथा समान व्यञ्जनका युग्म था, इसे हम इय्, उव्, ऋर् , ऌल् , (अ-) नन् , (अ-) मम मानते हैं। ये अन्तःस्थ शुद्ध स्वरोंके साथ युक्त होकर आ०भा०यू० ध्वनियुग्मोंके रूपमें भी पाये जाते थे, यथा अय्, एय् , ओय् , आय् , एय् , ओय् आदि। इसी तरह व् , र् , ल् , न् , म वाले रूप भी पाये जाते होंगे। इन्हें मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म संस्कृतमें

आकर ए, ओ तथा दीर्घ मूल स्वर वाले ध्वनियुग्म ऐ, औ हो गये हैं। उदाहरणके लिए देखियेः—

सं० वेद, ग्री० [वा] आइद [(ϝ) oida], गॉ० वइत, जर्मन वेइस
प्रा०भा०यू० *वाय्द [*Woyda]

सं० रोचते, ग्री० लेउकोस् (leukos), प्रा०भा०यू० लेव्क् [*lewk-etay]

सं०अरैक्षम् ग्री०,एलेइप्स[eleipsa,]प्रा०भा०यू०*लेय्क्व [*lēykʷ-sm̥]

सं० द्यौः, ग्रीक जेउस् [प्राचीन रूप, जेउस्] [zeus<zēus]

अंगरेजी ट्यूस [Tues, Tues-day] प्रा०भा०यू० *द्येव्स्[*dyēw-s]

सं० नौ, ग्रीक नाउस् [nāus], लैतिन नाविस् [nāvis], अँगरेजी
नेवी [navy], प्रा०भा०यू० *नाव्स् [*nāw-s].

व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे सबसे बड़ी विशेषता, जिसकी कल्पना प्रा०भा०यू० मे की गई है, तीन प्रकारका कवर्ग ध्वनियोका अस्तित्व है। यह तो सभी विभाषाओं मे देखा जाता है कि परवर्ती स्वरसे युक्त कण्ठ्य[1] [कोमल-तालु-जन्य velar] ध्वनि प्रायः उस स्वरसे प्रभावित हो जाती है। उदाहरणके लिए 'क' अक्षर की 'क्' 'ध्वनि कि तथा कु अक्षरकी क् ध्वनि से कुछ भिन्न सी है। 'इ'के योगसे वह कुछ तालव्य सी तथा उ के योगमे कुछ कण्ठोष्ठ्य सी पाई जाती है। इनका उच्चारण करते समय जिह्वा तत्तत् दशामे अन्तर्मुखके तत्तत् भागका स्पर्श करती है। 'क'-वर्गकी

१. शुद्ध ध्वनिशास्त्री दृष्टिसे 'क' वर्गको कण्ठ्य मानना ठीक नही, इसके उच्चारणमें जीभका स्पर्श कोमलतालुसे होता है, अतः इसे कोमल-तालुजन्य कहना वैज्ञानिक है। पर कण्ठ्य चल पड़नेके कारण हमने दोनों का प्रयोग किया है।

शुद्ध, तालव्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंको हम क् [k] क्य् [k̂] क्व् [k'] से व्यक्त कर सकते हैं। सुविधाकी दृष्टिसे हम इस क्रमको न लेकर क्य्, क्, क्व् क्रमको लेंगे। जब हम आ०भा०यू०के अन्तर्गत तीन कवर्गोंको मानते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह है कि किसी वर्गके साथ किसी भी स्वरका उच्चारण वहाँ पाया जा सकता था। तालव्य 'क्य्' पश्चस्वर (उ, ओ···) से युक्त, तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' अग्रस्वर [इ, ए···] से युक्त भी पाया जा सकता था। यद्यपि भा०यू० परिवारकी किसी भी भाषामें ये तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं, तथापि इस परिवारकी भाषाओं में दो वर्गोंकी स्थितिके कारण यह कल्पना की गई है। शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ जहाँ एक वर्गमें तालव्योंमें समाहित हो गई हैं, वहाँ दूसरे वर्गमें कण्ठोष्ठ्य में। भा०यू० तालव्य ध्वनियाँ [क्य् आदि] इन दोनों वर्गोंमें भिन्न रूपमें विकसित हुई हैं। एक वर्गमें ये कण्ठ्य रही हैं, किन्तु द्वितीय वर्गमें ये ऊष्म बन गई हैं। उदाहरणके लिए आ० भा० यू० *क्य्म्तोम् [k̂m̥tom] एक वर्गके अन्तर्गत ग्रीक, [हे] क्तोन् [he-kton], लैटिन, केन्तुम् [centum], तोखारी, कन्त [kant] के रूप में विकसित हुआ है, जब कि दूसरे वर्गमें संस्कृत, शतम्, अवेस्ता, सतअम् [satəm], प्रा० चर्च स्लॉवोनिक, सूतो (suto), रूसी, स्तो (sto) के रूपमें। इसी आधार पर प्रथम वर्गको हम केन्तुम् वर्ग तथा द्वितीयको शतम् [सतम्] वर्ग कहते हैं। यह नाम "सौ" के लिए विभिन्न भाषाओंमें प्रयुक्त शब्दोंके आधार पर बनाया गया है। जहाँ तक शुद्ध कोमलतालुजन्य [कण्ठ्य] ध्वनियोंका प्रश्न है, जब तक उसका प्रतिरूप शब्द दोनों वर्गोंमें नहीं मिल जाता है, हम उस शब्दका आ०भा०यू० रूप क्या था इसकी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणके लिए, संस्कृत 'कृष्ण' का समानान्तर 'सत' वर्गकी प्रा० चर्च स्लॉवोनिकमें श्रिनु [s̆rinu] रूप मिलता है, किन्तु केन्तुम् वर्ग का कोई समानान्तर रूप न मिलनेसे हम नहीं बता सकते कि 'कृष्ण'

दो और वर्ग थे—दन्त्य तथा ओष्ठ्य। प्रत्येक वर्गमें दो प्रकारकी ध्वनियाँ थीं, एक अघोष [यथा क, त, प], दूसरी सघोष [ग, द, ब]। इनके महाप्राण रूप भी पाये जाते थे। किन्तु महाप्राण रूप केवल सघोष ध्वनियोंके ही पाये जाते थे या दोनोंके, इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। अधिकतर विद्वान् आ० भा० यू० में अघोष अल्पप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण ये तीन ही ध्वनिरूप मानते हैं। प्रो० प्रोकोस्श तथा हरमन कॉलिजने एक नई सिद्धान्तसरणि प्रकट की है, उनके मतानुसार आ० भा० यू० में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ सर्वथा नहीं थीं किन्तु अघोष महाप्राण अवश्य थीं[१]। हित्ताइतकी खोजने इन महाप्राण ध्वनियोंकी समस्या को थोड़ा बहुत सुलझा दिया है। इसीके आधार पर स्टर्टवन्टने आ० भा० यू० में दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियाँ मानी हैं, जो वस्तुतः अल्पप्राण ध्वनियों का, प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषामें पायी जानेवाली अघोष कण्ठनालिक [Non voiced laryngeals]—[', ϰ] तथा सघोष कण्ठनालिक [Voiced-laryngeals] (;, ४) के सम्पर्कसे जनित विकसित रूप है।[२] अतः आ०भा० यू० भाषामें चार प्रकारकी ध्वनियाँ प्रत्येक वर्गमें रही होंगी।

	अघोष अल्पप्रा०	अ०महा०	स०अल्प०	स० महा०
कण्ठ्य	क [k]	ख [kh]	ग [g]	घ [gh]
तालव्य	क्य [k̂]	ख्य [k̂h]	ग्य [ĝ]	घ्य [ĝh]
कण्ठोष्ठ्य	क्व [kᵘ]	ख्व [khᵘ]	ग्व [gᵘ]	घ्व [ghᵘ]
दन्त्य	त [t]	थ [th]	द [d]	ध [dh]
ओष्ठ्य	प [p]	फ [ph]	ब [b]	भ [bh]

१. Language. (American linguistic Journal). 1926, Vol II. P. 178

२. Sturtevant Indo-Hittite Laryngeals. ch. V. pp. 66 and following.

शब्द मूल भा० यू० है या नहीं, साथ ही इसकी पदादिध्वनि, यदि मूल भा० यू० है, तो शुद्ध कण्ठ्य थी या कण्ठोष्ठ्य। यदि दोनो भाषाओंमें समानान्तर शब्द मिल जाते हैं, तथा वह दोनों वर्गोंमें 'क' ही है, तो हम बता सकते हैं कि इसका मूल रूप शुद्ध कण्ठ्य रहा होगा। उदाहरणके लिए स० क्रवि. [क्रविस्], ग्रीक, क्रेअस् [kreas], लै० क्रुओर् [kruor] के आधार पर हम *क्रेव्अस् [*krewə-s] की कल्पना कर सकते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, संस्कृतमें आ० भा० यू० शुद्ध 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' दोनों का विकास एक सा रहा है। ये दोनों ही ए, ए, इ, ई, य् [स. अ, आ, इ, ई, य्] के पूर्व 'च' तथा अ आ, ओ, ओ [सं अ, आ] के पूर्व 'क' रूप में विकसित हुए है। सतम् वर्गमें शुद्ध कण्ठ्य 'क' ही रहा है, तथा आ० भा० यू० कण्ठोष्ठ्य लैतिन तथा जर्मन शाखामे 'क्व' ही बना रहा है, जो ओठों को गोलाकार बनाकर उच्चरित किया जाता है। अँगरेजीकी 'क्वीन' [Queen,] क्विक [Quick] आदिमें यही 'क्व' ध्वनि है, पर वहाँ यह सदा 'उ' स्वर के साथ पाई जाती है। लैतिन तथा जर्मन समानान्तर शब्दोंकी संस्कृत आदि सतम् वर्गकी भाषाओंके शब्दोंसे तुलना करने पर हम आ० भा० यू० ध्वनिकी प्रकृति बता सकते हैं। ग्रीकमें यह कण्ठोष्ठ्य 'क' अग्रस्वरके पूर्व 'त' तथा पश्च स्वरके पूर्व 'प' हो गया है। उदाहरण के लिए—

स० कः, क्व, चित्, ग्रीक, तो-थेन (स. कस्मात्) [tothen,] ग्रीक, तिस् [tis], लै० क्वो, क्वि [quo, qui], अँगरेजी, हू [who] व्हाट [what], →प्रा० भा० यू० *क्वो–, *क्वि– [* kʷo –, *kʷi]।

ध्यान दीजिये संस्कृतका 'क' अँगरेजी 'व्ह' हो गया है। [ग्रिम-नियमके अनुसार क्लैसिकल अघोष् अल्पप्राण 'क' लोजर्मन [अगरेजी आदि] में महाप्राण [ह] बन जाता है।]

आदिम भारत यूरोपीय भाषामें इन तीन प्रकारके कण्ठ्यवर्गोंके अतिरिक्त

दो और वर्ग थे—दन्त्य तथा ओष्ठ्य। प्रत्येक वर्गमें दो प्रकारकी ध्वनियाँ थीं, एक अघोष [यथा क, त, प], दूसरी सघोष [ग, द, ब]। इनके महाप्राण रूप भी पाये जाते थे। किन्तु महाप्राण रूप केवल सघोष ध्वनियोंके ही पाये जाते थे या दोनोंके, इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। अधिकतर विद्वान् आ० भा० यू० में अघोष अल्पप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण ये तीन ही ध्वनिरूप मानते हैं। प्रो० प्रोकोस्च तथा हरमन कॉलिजने एक नई सिद्धान्तसरणि प्रकट की है, उनके मतानुसार आ० भा० यू० में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ सर्वथा नहीं थीं किन्तु अघोष महाप्राण अवश्य थीं[१]। हित्ताइतकी खोजने इन महाप्राण ध्वनियोंकी समस्या को थोड़ा बहुत सुलझा दिया है। इसीके आधार पर स्टर्टवन्टने आ० भा० यू० में दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियाँ मानी हैं, जो वस्तुतः अल्पप्राण ध्वनियों का, प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषामें पायी जानेवाली अघोष कण्ठनालिक [Non voiced laryngeals]—[', x] तथा सघोष कण्ठनालिक [Voiced-laryngeals] (;, ४) के सम्पर्कसे जनित विकसित रूप हैं।[२] अतः आ०भा० यू० भाषामें चार प्रकारकी ध्वनियाँ प्रत्येक वर्गमें रही होंगी।

	अघोष अल्पप्रा०	अ०महा०	स०अल्प०	स० महा०
कण्ठ्य	क [k]	ख [kh]	ग [g]	घ [gh]
तालव्य	क्य [k̂]	ख्य [k̂h]	ग्य [ĝ]	घ्य [ĝh]
कण्ठोष्ठ्य	क्व [kᵘ]	ख्व [khᵘ]	ग्व [gᵘ]	घ्व [ghᵘ]
दन्त्य	त [t]	थ [th]	द [d]	ध [dh]
ओष्ठ्य	प [p]	फ [ph]	ब [b]	भ [bh]

१. Language. (American linguistic Journal). 1926, Vol II P. 178

२ Sturtevant · Indo-Hittite Laryngeals. ch. V. pp. 66 and following.

आदिम भारत यूरोपीय भाषाकी दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियोंको संस्कृतने अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। ग्रीकमें जाकर महाप्राण सघोष ध्वनियाँ केवल अघोष महाप्राण ख, थ, फ, [kh, th, ph] रह गई हैं। ईरानी, जर्मन तथा बाल्तोस्लाविकमें सघोष महाप्राण ध्वनियाँ, सघोष अल्पप्राण ग, द, ब हो गई हैं। लैतिन तथा केल्तिकमें इनमेंसे कुछ सोष्म रूप हो गई है। जैसा कि हम अगले परिच्छेदमे देखेंगे आ०भा०यू० ख थ फ ध्वनियाँ ईरानीमें भी सोष्म ख़, थ़, फ़ हो गई है। आ०भा०यू०में एक ही पदमें एक साथ दो महाप्राण ध्वनियाँ पाई जाती थीं, किन्तु ग्रीक तथा संस्कृत आदिमें आकर प्रथम ध्वनिकी प्राणता लुप्त हो जाती है।[1] संस्कृतसे दधार, बभूव, बुभोज, चखाद, जघान, आदि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ ग्रीकमें आ० भा० यू० की प्रायः सभी स्वर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, वहाँ व्यञ्जन ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत, आ० भा० यू० भाषाका सच्चा प्रतिनिधित्व करती है।

इन ध्वनियोंके अतिरिक्त आ० भा० यू०मे एक सोष्म ध्वनि स भी थी। यह ध्वनि उस भाषामें परिस्थित्यनुकूल अघोष तथा सघोष [ज़] दोनों रूपोमें पाई जाती थी। ग, द, ब आदि सघोष ध्वनियोंके पूर्व होने पर यह सघोष ज़ के रूपमें उच्चरित होती थी। ज़ का यह रूप अवेस्तामें मिलता है, जब कि अघोष स ध्वनि वहाँ ह हो गई। संस्कृतमें स का अघोष रूप ही पाया जाता है। ग्रीकमें पदादि ध्वनि स, ह हो गई है, किन्तु पदमध्य या पदान्तमें वह 'स' ही रही है। लैतिनमें पदमध्य स ध्वनि 'रेफ' [र] हो गई है। *इस सिद्धान्तके विभिन्नभाषीय उदाहरण यथावसर संस्कृत ध्वनियोंका विवेचन* करते समय दिये जायँगे। आ० भा० यू०में दो प्रकारकी शुद्ध प्राणध्वनि —एक अघोष 'ह' ध्वनि तथा दूसरी सघोष 'ह' ध्वनि—रही होंगी। स्वय

---

१. यही सिद्धान्त "ग्रासमानके उपनियम" [Grasmann's Corollary] के नामसे भाषाशास्त्रमें प्रसिद्ध है।

संस्कृतमें ही दोनों प्रकारकी प्राणध्वनि मिलती है—अघोष शुद्ध प्राणध्वनि "विसर्ग" [:] के रूपमें, सघोष प्राणध्वनि ह के रूपमें।

हिन्द-हित्ताइत ध्वनियाँ :—स्टर्टेवन्ट तथा और भी दूसरे विद्वान् आ० भा० यू० भाषाके पहले भी आदिम भारत-हित्ताइत या आदिम हिन्द-हित्ताइत [P1oto Indo-hittite] भाषाकी कल्पना करते है। ईसा पूर्व १४ वीं शताब्दीके हित्ताइत साम्राज्यके दृष्टिकालेख जो तुर्कीके बोगाज-कुई स्थानमे प्राप्त हुए हैं, एक और आर्य भाषाका संकेत करते है, जिसे हित्ताइत नाम दिया गया है। यह भाषा, कल्पित आ० भा० यू० की बहिन मानी जाती है, और इस तरह एक द्वितारकचिह्नित [Double-starred] भाषाकी कल्पना करनी पडती है। यहाँ संक्षेपमें इस कल्पित हिन्द हित्ताइत भाषाकी ध्वनियोंका संकेत कर देना अनावश्यक न होगा।

स्वर :—ऍ [e], ए [ē], ऑ [o], ओ [ō], तथा ʊ [अ] [यह स्वर हीन [unaccented] ऍ [e] का रूप था]।

[विद्वानोंके मतानुसार इन पाँचों स्वरध्वनियोंका मूल ऍ [e] ध्वनि ही थी, सब उसीसे विकसित हुए थे।]

अन्तःस्थ—य [y], व [w], र [r], ल [l], न [n], म [m]

कण्ठनालीय ध्वनि—, , , X, ४.

[प्राणध्वनि—अघोष ह [h̬ h̬] तथा सघोष ह [h̬]—ये दोनों अलग मे ध्वनियों न होकर क्रमशः X तथा ४ के रूप थीं।]

स्पर्शव्यञ्जन—क [k], त [t], प [p], ग [g], द [d], ब [b], घ [gh], ध [dh], भ [bh]

सोष्म—स [s].

इन ध्वनियोंमें चार कण्ठनालीय ध्वनियोंका विशेष महत्त्व है। इनमें द्वितीय तृतीय अघोष कण्ठनालीय ध्वनियाँ हैं, शेष दो सघोष कण्ठनालीय।

नियनमे यह अवश्य पाया जाता है, किन्तु अत्यधिक संकुचित रूपमें। जर्मनीय वर्गकी प्राचीन भाषा गॉथिकमें द्विवचन केवल सर्वनामके रूपोंमें पाया जाता है। विभक्तियोंकी संख्या भी संस्कृतमें आठ है, ग्रीक तथा चर्च स्लावोनिकमें छः, गॉथिकमे केवल चार ही।

सुप् विभक्तियोंके चिह्नोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि इन कई भाषाओंमें ये चिह्न एक-से हैं। उदाहरणके लिए प्रथमा विभक्ति एक-वचनका चिह्न *'स्' [संस्कृत सुप्], द्वितीया एकवचनका *'म्' [सं०, अम्], तथा षष्ठी बहुवचनका *ओम् [जो संस्कृतमें ध्वनिनियमसे 'आम्' हो गया है, जैसे रामाणाम्में] ले लें। इनमें संस्कृत वृक शब्दके क्रमशः वृकः, वृकम्, तथा वृकाणाम् रूप होंगे, जिनके आ० भा० यू० रूप *व्लृकोस् [wl̥kos], *व्लृकम् [wl̥km̥], तथा *व्लृकोम् [wl̥kom] रहे होंगे। इसी प्रकार संस्कृतके 'भ' व्यञ्जन ध्वनिवाले विभक्तिचिह्न भ्याम्, भिस्, भ्यस् भी आ० भा० यू० से ही जनित है। यह 'भ' संस्कृत, लैतिन तथा आर्मीनियनमे पाया जाता है, किन्तु जर्मन तथा बाल्तो-स्लाविकमें यह 'म' हो गया है।

सं० भ्यस् [भ्यः], लैतिन, बुस् [bus], गॉथिक, म् [m] [सम्प्रदान बहुव०, [Dativo plural], लिथुआ० मुस् [mus] आ० भा० यू०--*भ्यस् [*bhyas]। ग्रीकमें आकर यह *भ, फ हो गया है, किन्तु ग्रीकमें संस्कृत भिस्-भ्यस् के समानान्तर रूप केवल होमरकी भाषामें ही पाये जाते हैं, बादकी साहित्यिक ग्रीकमें नहीं। होमरमें हमें "नाउफि" [naúphi] रूप मिलता है, जो संस्कृतके नौभिः के समानान्तर है। इतना होते हुए भी एक ओर कुछ भाषाओंमें भ तथा दूसरी भाषाओंमें म पाये जानेसे यह भ-मकी समस्या पूरी नहीं सुलझती। यही कारण है कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानमें कई विद्वानोंने आ० भा० यू० मे *म-वाले तथा *भ-वाले दो

तरहके द्विवचन, बहुवचन रूप माने हैं।[१] इस प्रकारकी कल्पना की गई है कि इन दोनोंमें आ० भा० यू० —*म चिह्न संज्ञाओंमें (विशेषणोंमें भी) पाया जाता था, तथा—*भ चिह्न सर्वनामोंके रूपोंमें। किन्तु बादमें जाकर सादृश्यके आधारपर कुछ भाषाओंमें सभी रूप म— वाले हो गये, तो कुछमें सभी भ—वाले। संस्कृतके तृतीया, चतुर्थी तथा पंचमीके द्विवचन तथा बहुवचनमें यह 'भ' [—भ्याम्,—भिस्,—भ्यस्] है।

वेदमें प्रथमा विभक्तिके बहुवचनके रूप "—आसस्" से भी बनते हैं, यथा "देवासः"। मेयेके मतानुसार जिन शब्दोंके मूल रूपोंमें *ए, *आ स्वर पाये जाते थे, उनके प्रथमा बहुवचनको अन्य मूल रूपोंवाले शब्दोंके समान अक्षरसंख्यावाले बनानेके लिए, वैदिकमें "आस्" को "आसस्" बना दिया गया था। उदाहरणके लिए संस्कृत द्व्यक्षर [disyllabic] शब्द "देव" के बहुवचन "देवाः" को, जो द्व्यक्षर है, "अहि" जैसे इकारान्त या "विष्णु" जैसे उकारान्त शब्दोंके प्रथमा बहुवचन अहयः या विष्णवः के सादृश्यके आधारपर त्र्यक्षर [Trisyllabic] शब्द बनाकर "देवासः" रूप दे दिया गया। इस मतने एक बातकी और पुष्टि की कि संस्कृतके कई इकारान्त तथा उकारान्त शब्द भी आ० भा० यू० जनित माने जा सकते हैं।

सुप् विभक्तियोंकी भाँति संस्कृतकी तिङ् विभक्तियाँ भी आ० भा० यू० भाषाकी तिङ् विभक्तियोंका रूप देनेमें पूर्णतः समर्थ हैं। इसके लिए पहले हमें यह समझ लेना होगा कि आ० भा० यू० क्रियाओंके रूपोंका साक्षात् संबंध व्यापार-विशेषके कालसे न होकर उस व्यापार-विशेषके प्रकारसे था। भूतकालको द्योतित करनेवाले आ० भा० यू० *ए के सिवाय, जो ग्रीक, संस्कृत तथा अवेस्तामें पाया जाता है, अन्य कोई भी चिह्न ऐसा नहीं

---

१. Meillet Introduction et L'etude Comparative de Langues Indo-europeennes. pp. 259-60 also Wackernagel. Altindische Grammatik Vol 3 P. 13 § 4 [b].

है, जो आ० भा० यू० क्रिया रूपोंको किसी काल विशेषसे सीमित करता हो। उदाहरणार्थ, संस्कृतके '[परोक्षभूते] लिट्'को ले लीजिये, जो परोक्षरूपमे अपूर्ण व्यापारके लिए प्रयुक्त होता है, वेदमें यह भूतकालके लिए प्रयुक्त न होकर क्रियाके प्रकार-विशेषका ही बोध कराता है, जैसे "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" इस ऋचर्धमें "दाधार" का अर्थ "अधारयत्" न होकर "धारयति" है। वैदिक संस्कृतकी भाँति इसके समानान्तर रूपोंका प्रयोग होमरकी ग्रीकमें कालसीमित न होकर प्रकार-बोधक ही है। किन्तु बादमें जाकर ये क्रियारूप वहाँ भी साहित्यिक [लौकिक] संस्कृतकी भाँति कालसीमित हो गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आ० भा० यू० भाषा बोलनेवाले "वीरोस्" आर्य भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्के कालभेदसे पूर्णतः परिचित न थे। सभ्यताके विकासके कारण धीरे-धीरे वे इनके भेदसे परिचित हो गये, किन्तु इनके अभिव्यजनके लिए वे उन्हीं क्रिया रूपोंका प्रयोग करते थे, जिनका व्यापार मूलरूपमे भिन्न था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मौलिक रूपमें आ० भा० यू० क्रियाओंकी पद्धति लौकिक संस्कृतकी क्रियापद्धतिसे सर्वथा भिन्न है, किन्तु यह भेद उनकी अर्थ-सबंधिनी [सिमेटिक] विशेषतासे सबद्ध है।

सर्वप्रथम हम आ० भा० यू० क्रिया रूपोंको निर्देशात्मक [Indicative] हेत्वात्मक [संस्कृत हेतुहेतुमत्], [Conditional or subjunctive] विध्यात्मक [Optative] तथा आज्ञात्मक [Imperative] इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। निर्देशात्मक कोटिमे दो काल माने जा सकते हैं—भूत तथा वर्तमान। भूतकालका द्योतक [पुरः सर्ग] *ऍ [सं० अ, ग्रीक ऍ [e]] क्रियाके मूल रूपके पहले जोड़ दिया जाता था। संस्कृत अदिशत् तथा ग्रीक ऍदेको में इसे देखा जा सकता है। वर्तमानके संस्कृत 'लट्' तथा [परोक्षभूते] लिट् दोनोंमें समानान्तर रूपोंका प्रयोग किया जाता था। हेत्वात्मक तथा विध्यात्मकमें धातु तथा तिङ् विभक्तिके बीचमें *ए–,

*,–ओ, तथा –'*यॆ ऐ'–,*इ–को जोड दिया जाता था। आज्ञा रूपोंके लिए कोई विशेष प्रकारका चिह्न नहीं था। कभी कभी कोरा धातु रूप ही आज्ञात्मक रूपमें प्रयुक्त होता था, इसका संकेत हम संस्कृत लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनके रूप 'भर', 'पठ' आदिमें पा सकते हैं। आ० भा० यू० भाषामें संस्कृतकी भाँति कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य दो रूप रहे होंगे। कर्तृवाच्य पुनः संस्कृतकी भाँति ही परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी इन दो रूपोंमें पाया जाता होगा। ग्रीकमें भी परस्मैपदी [एक्टिव वॉयस], आत्मनेपदी [मिडिल वॉयस] तथा कर्मवाच्य [पैसिव वॉयस) ये तीन रूप पाये जाते हैं। इनमें परस्मै तथा आत्मने दोनो प्रकारके पदोंके भिन्न प्रकारके तिङ् विभक्ति-चिह्न थे। उन्हींसे बादके विभक्ति-चिह्न विकसित हुए हैं। ये विभक्तिचिह्न पुनः दो प्रकारके माने जा सकते हैं :—मुख्य तथा गौण। मुख्य चिह्नोंका प्रयोग वर्तमान [निर्देशात्मक] तथा हेतुहेतुमत्के साथ होता था। जब कि गौण तिङ् विभक्तिचिह्न अपूर्ण भूत, लिट् [जो आ० भा० यू० में वर्तमानमें प्रयुक्त होता था], तथा विध्यात्मक रूपोंमें जोड़े जाते थे। संस्कृतके कई तिङ् विभक्तिचिह्नोंको हम आ० भा० यू० का ही विकसित रूप पाते हैं, यथा—

सं०–मि,–ए आ० भा० यू० *मि [mi], *अइ [ai]
[सं० भरामि, ददे]

,,–सि,–से ,, *सि [si], *सइ [sai]
[सं० भरसि, दत्से]

,,–ति,–ते ,, *ति [ti] *तइ [tai], अइ [ai]
[भरति, दत्ते]

,,–मः,–महे ,, *मेस् *मोम् *mes *mom,
*मेध्ग [*medhe-] [भरामः, दद्महे]

,,–थ,–ध्वे ,, *ते [te] * × [भरथ, दध्वे]

,,–अन्ति,–न्ते ,, *एन्ति [–न्ति] *[enti,–nti]
न्तइ [–ntai] [भरन्ति, आपन्ते]

इसे और स्पष्ट करनेके लिए हम यहाँ नीचेके चतुरस्रमें आ० भा० यू०, ग्रीक व संस्कृतके वर्तमान निर्देशात्मक रूपोंको सोदाहरण स्पष्ट कर देते हैं—

तिङ् चिह्न, वर्तमान; कर्तृवाच्य, परस्मैपदी

आ० भा० यू० तिङ् चिह्न	संस्कृत रूप	ग्रीक रूप
*भेर् [bher-] एकवचन	भृ-[भर्]	फेरो [phero]-[ले जाना]
उ० पु०		
*मि [*mi], ओ [ō]	भरामि	फेरो [phero]
म० पु०		
*सि [*si]	भरसि	फेरइस् [phereis]
अ० पु०		
*ति [*ti]	भरति	फेरइ [pherei]
बहुवचन		
उ० पु०		
*मेस्, मोस् [mes, mos]	भराम.	फेरोमेस् [pheromes]
म० पु०		
*ते [te]	भरथ	फेरेते [pherete]
अ० पु०		
*एन्ति, ओन्ति,–न्ति [enti, onti,–nti]	भरन्ति	फेरोन्ति [pheronti]

आदिम भारत-यूरोपीय भाषामे भविष्यत् सर्वथा नहीं था। इसकी व्यंजना निर्देशात्मक वर्तमानके द्वारा ही कराई जाती थी; जैसे "मै जाऊँगा" के लिए "मै जाता हूँ" का प्रयोग। कभी कभी हेतुहेतुमत्के द्वारा भी भविष्यत्की व्यंजना कराई जाती थी। इसके रूप होमरकी भाषामे पाये जाते है। भविष्यतकी व्यंजनामे एक तीसरे प्रकारका प्रयोग भी मिलता है, जहाँ धातु तथा वर्तमानके तिङ् चिह्नोके बीच कभी कभी 'स्' जोड़ दिया जाता था। ग्रीक तथा संस्कृतके भविष्यत् रूप वर्तमानमे इसी 'स्' [स्य] को जोड़ कर बनाये जाते है। यथा स० भरामि-भरिष्यामि [* भरिस्यामि], ग्रीक फ़ेरो [phero, I bear], फ़ेरसो [pherso I shall bear], जो प्राचीन भारतयूरोपीय रूप* भेर्-स्-मि [ओ] [*bher-s-mi (-o)] की ओर संकेत करते है। लौकिक संस्कृतमे आकर ये चार विधियाँ [moods] तथा दो काल [tenses] ही तीन काल तथा दस लकारोके रूपमे विकसित हो गये है।

भाषाशास्त्रियोंने तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर इस काल्पनिक भाषा-की ध्वनियाँ, तथा पदरचनाका तो पता लगा लिया है, किन्तु वाक्यरचनाके आनुमानिक रूपकी पुनःसृष्टि [Reconstruction] करनेमे वे समर्थ नहीं हुए है। यह सफलता तभी हो सकती है जबकि इस परिवारकी विभिन्न भाषाओंकी वाक्यरचनाके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर तारक-चिह्नित शब्दोंसे निर्मित काल्पनिक वाक्योंकी रचना की जाय। वैसे कुछ विशेषताओं-का पता भाषाशास्त्रियोंने लगाया अवश्य है। ये विशेषताएँ ऋग्वेदके मन्त्रोंकी पदरचनामे पाई जाती है। ऋग्वेदके मंत्रोंमे प्रायः सर्वनाम-वाक्यमे द्वितीय स्थानपर प्रयुक्त होते थे, यद्यपि कभी कभी इस प्रकारका प्रयोग सन्दिग्धता भी पैदा कर सकता है। जैसे "ते न मेऽग्निर्वैश्वानरो दुर्गान्निष्पद्यातै" जिसमे "मे" का अन्वय अग्निः के साथ होनेका भ्रम होता है, यद्यपि उसका सम्बन्ध दुर्गात् से है। इसका अर्थ यो है —"अतः अग्नि वैश्वानर मेरे दुर्गसे बाहर न गिरे।" इस विशेषताका सन्तोषजनक कारण तो पता

नहीं, किन्तु जर्मन विद्वान् वाकेरनागेलके मतानुसार यह विशेषता ग्रीक तथा अन्य भा० यू० भाषाओंमे भी पाई जाती है। संभव है, यह आ० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनात्मक विशेषताओंमेंसे एक रही हो।

जहाँ तक इस परिवारकी भाषाओंके आदिम शब्दकोषका प्रश्न है, सभ्यता के उषःकालमें प्रयुक्त शब्द प्रायः इन सभी भाषाओंमें एक-से पाये जाते हैं। पिता, माता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, जामाता, उदक, आपः, अग्नि, जनिता, क्षमा आदिके समानान्तर शब्द अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी मिल जाते हैं। सबसे बड़ी विशेषता, जिसका अनुमान आ० भा० यू० भाषाकी संज्ञाओंके लिंगके विषयमें किया जा सकता है, यह है कि वहाँ पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंगका विभाजन पुरुष, स्त्री या अचेतन पदार्थसे संबद्ध नहीं था, अपितु लिंग तत्तद्भावका बोधक था, जो किसी भी व्यक्ति या वस्तुकी किसी विशेषतासे संबद्ध था। हम देखते हैं कि संस्कृत 'दार' शब्द पुलिंग है, साथ ही बहुवचन भी, इसी तरह कलत्र तथा मित्र नपुंसक हैं।

इस प्रकार हमने वैदिक संस्कृत तथा ग्रीक जैसी भारत यूरोपीय परिवारकी समस्त भाषाओंकी कल्पित जननीके भाषाशास्त्रीय रूपका संक्षिप्त अध्ययन किया। यद्यपि भाषाओंके पारस्परिक संबंधको व्यक्त करनेके लिए माता, पुत्री, पौत्री, भगिनी, मातृष्वसा आदि औपचारिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, तथापि शुद्ध भाषाशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे इस प्रकारके औपचारिक शब्दोंसे बचना ही श्रेयस्कर है। वैसे हम स्वयं भी परम्परागत रूपमें इस प्रकारकी औपचारिक पदावलीका प्रयोग इसी परिच्छेदमें कर चुके हैं। शास्त्रीय दृष्टिसे भाषाओंका जीवन 'विकासवाद' से अत्यधिक प्रभावित है। जिस प्रकार प्राणिशास्त्रके मतानुसार प्राणी [जन्तुविशेष] विकसित होकर विभिन्न स्थितियोंसे गुजरता है, ठीक उसी प्रकार भाषा भी उत्पन्न न होकर विकसित होती है। प्राकृत, वैदिक संस्कृतकी पुत्री न होकर वस्तुतः किन्हीं परिस्थितियोंके कारण उसका ही परिवर्तित या विकसित रूप है। कुछ विद्वान् इस 'विकास' को 'ह्रास' संज्ञा देते हैं। किन्तु भाषाका ह्रास

न होकर विकास ही होता है। इस विकासके नियामक तत्त्व भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हैं, जो किसी भाषाकी ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना तथा शब्दकोषमें परिवर्तन करती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह भाषा उस पूर्व रूपसे सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः वह उसीका विकसित रूप है। भाषाके वास्तविक मूल तत्त्व उसमें भी ठीक उसी रूपमें विद्यमान हैं। हम यों कह सकते हैं कि भाषाके विकसित रूपोंके सम्बन्धमें साख्य दर्शनका परिणामवाद या सत्कार्यवाद वाला सिद्धान्त मानना अनुचित नहीं होगा। प्राचीन संस्कृत विद्वान् भाषामें विकास न मानकर ह्रास मानते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंशको वे संस्कृतका 'पतित' रूप मानते हैं। इसीलिए कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्रके राजपण्डित दामोदर भट्टने अपने समयकी अपभ्रंश [प्राचीन कोसली अवधी[1]] के द्वारा राजकुमारोंको संस्कृत सिखानेके लिए बनाये गये ग्रन्थ "उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्" में लिखा है "हम थोड़े से परिवर्तनोंसे ही अपभ्रंश [देशभाषा] को संस्कृत बनाते हैं। यह [देशभाषा] ठीक उसी प्रकार संस्कृत बन जायगी जैसे कि पतित ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करनेपर पुनः ब्राह्मणी बन जाती है।"[2]

पर फिर भी शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टिसे किसी भाषाको भ्रष्ट, पतित या ह्रासोन्मुख कहना अवैज्ञानिक ही माना जायगा।

---

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि यह 'कोसली अवधी' न होकर प्राचीन भोजपुरी है। किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने, जो इस ग्रंथके सम्पादक हैं, अपनी विस्तृत भूमिकामें इसे प्राचीन कोसली अवधी ही कहा है।

२. पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति।

—उक्तिव्यक्तिप्रकरणम् पृ० २

संस्कृत तथा अवेस्ता [भारत-ईरानी शाखा]

आर्योंका एक दल मध्य-एशियासे चल कर ईरानकी ओर बढा। यह दल सर्वप्रथम खीवाके शाद्वलमे आकर रुका। इस समय तक यह दल अविभाजित था। यहींसे यह दल दो वर्गोंमे विभक्त हो गया। एक दल पश्चिमकी ओर बढा, दूसरा दक्षिण-पूर्वकी ओर। प्रथम वर्ग ईरानमें स्थित हो गया, दूसरा दल गाधार देशको पार कर खैबर तथा बोलानके दर्रोंके द्वारा सप्तसिन्धु प्रदेशमें प्रविष्ट हुआ। यद्यपि खीवाके शाद्वल तक इन दोनो दलोंकी भाषाका एक ही रूप था, तथापि बादमें भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक कारणोंसे दोनों वर्गोंका विकास अपने अपने रूपमें हुआ। फिर भी थोड़े ध्वनिपरिवर्तनोंके अतिरिक्त, आरभमे ये भाषाएँ एक सी ही थीं। आरभमे तो ईरानियों तथा वैदिक आर्योंके पितामह एक सी ही भाषा बोलते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह सिद्ध हो चुका है कि ईरानियों तथा वैदिक आर्योंके पितामह चिरकाल तक एक ही समाजके व्यक्तिके रूपमें साथ साथ रहे थे, उनकी सामाजिक रीति-नीति एक सी ही थी, जो ऋग्वेद तथा अवेस्ताके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है। वेद तथा अवेस्ताकी भाषा तो परस्पर इतनी निकट है कि प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अवेस्ताकी भाषा कालिदासकी सस्कृतकी अपेक्षा वैदिक सस्कृतके विशेष निकट है। अवेस्ता तथा वेदोंकी भाषाओंमें उससे कहीं अधिक भेद नहीं है, जितना कि ग्रीक भाषाके प्राचीन शिलालेखोंम उपलब्ध विभाषाओंमें पाया जाता है। दोनों भाषाओंकी सघटना इतनी समान है कि अवेस्ताकी गाथाकी भाषाको कतिपय ध्वनिनियम सवधी परिवर्तनोंके आधारपर वैदिक सस्कृतके रूपमे परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरणके लिए अवेस्ताके दशम यस्नकी अष्टम गाथाको लीजिये। गाथाका मूल रूप यों है:—

यो यथा पुथ्रअम् तउरुनअम् हओमअम् वन्दएता मश्यो ।
[yo yaθa puθrəm taurunəm haoməm wandaeta maš́yo.]
फ्र आव्यो तनुव्यो हओमो वीसइते बएषजाइ ॥
[φra abyo tanubyo haomo wisaite baeš́azai]

इस गाथाको हम वैदिक संस्कृतमें इस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं:—

यो यथा पुत्रं तरुण सोमं वन्देत मर्त्यः ।
प्र आभ्यः तनुभ्यः सोमो विशते भेषजाय ॥

यहाँ हम देखते हैं कि दोनोंमें वास्तविक भेद ध्वन्यात्मक ही है ।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे भारतेरानी [Indo-Iranian] शाखाकी इन दोनों भाषाओंमें प्राचीन भारत यूरोपीय *ए, *ओ, *अ, का भेद नहीं रहा है । यहाँ आकर ये सभी अ तथा इनके दीर्घ रूप आ हो गये हैं । ग्रीक भाषामें इनका भेद बना रहा है । अतः यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन वैदिक आर्य तथा ईरानियोंके पूर्वजोंके द्वारा बोली जानेवाली प्राचीन भारत-ईरानी विभाषामें ही हो गया था । इस प्रकार ग्रीक एपि पेतेतइ [epi petetai] संस्कृतमें तथा अवेस्तामें क्रमशः [सं०] अपि पतति; [अवे०] अइपि अ-पतन्त् [aipi a-pata-t] मिलेगा । प्रा० भा० यू० *अ इस शाखामें भी अ ही बना रहा है, यथा ग्रीक अक्मोन [akmon], सं० अश्मन्, अवे० अस्मन् । अ की इस प्रकारकी बहुलताके कारण पहले ऐसा सोचा जाता था कि संस्कृत तथा अवेस्ताने प्रा० भा० यू० रूपोंको अपरिवर्तित रूपमें सुरक्षित रक्खा है, तथा ग्रीकमें यही 'अ' बादमें जाकर त्रिरूप [अ, ए, ओ] हो गया है, किन्तु जैसा कि हम प्रा० भा० यू० के तीन रूपोंके विकासमें देखते हैं, इन त्रिरूप स्वरोंका बड़ा हाथ है । अतः उस मतको छोड़ देना पड़ा तथा प्रा० भा० यू० में तीनों स्वतन्त्र स्वरों—*अ, *ए, *ओ की सत्ता माननी पड़ी । यहाँ भी ग्रीक तथा लैटिनमें प्रकट भाषिके

बाद 'ए' पाया जाता है, वहाँ 'सत' वर्गकी भाषाओंमे तालव्य रूप [श, छ आदि] मिलता है। यह तालव्यीभाव हिन्द-ईरानी शाखामें इ [य्] के पूर्व ही पाया जाता है, जैसे स० ओजीयस्, किन्तु स० उग्र,अवेस्ता द्रओज़िश्त, किन्तु द्रओग—[स० द्राघिष्ठ][1]। अतः यह कल्पना की गई कि वास्तविक रूपमे तालव्यीभावकारी भारत-ईरानी अ, इ-रजित [i-coloured] था, अर्थात् प्रा० भा० यू० रूपमे यह *ऍ था। इसी आधारपर यह मत स्थापित किया गया कि प्रा० भा० यू० स्वरोको ग्रीकने सुरक्षित रक्खा है, जब कि सस्कृत तथा अवेस्तामें ये सभी स्वरध्वनियाँ नहीं पाई जातीं।

यद्यपि भारत-ईरानी अ प्रा० भा० यू० *ऍ, *ऑ *अ तीनोंसे निकला है, तथापि इसका एक अपवाद पाया जाता है। प्रायः प्रा० भा० यू० *ऍ, ऑ, *अ सस्कृत तथा अवेस्तामें अ हो जाते हैं, किन्तु वे ह्रस्व त्रिस्वर, जो ग्रीकमें इनके दीर्घ स्वर ए, ओ, आ के अपश्रुतिजनित रूप हैं, भारत-ईरानी वर्गमें अ न होकर इ होते हैं। उदाहरणार्थ, ग्रीक शब्द 'ऍ-तॅ-थेन' [etethen] को लीजिये जो भूतकालका रूप है। यहाँ तॅ में ह्रस्व ऍ दीर्घ ए का ही अपश्रुतिजनित रूप है, जो इसके वर्तमान कालके रूप तिथेमि में पाया जाता है। इसमें वास्तविक धातु थे [the] [*धे, *dhē] है। इसीके दुर्बल रूप में लैतिन मे अ पाया जाता है, यथा लैतिन फ़सिओ [fasio]। किन्तु सस्कृतमे यह *धत [*हत] न होकर 'हित'[2] [√धा + क्त] होता है। अर्थात् ग्रीकमें जहाँ प्रा० भा० यू० दीर्घ *ए का ह्रस्व रूप ऍ [e] पाया जाता है, वहाँ सस्कृत [भारत ईरानी शाखा] मे 'इ' हो गया है। एक दूसरा उदाहरण और लीजिये। प्रा० भा० यू०

---

१. यहाँ 'ओजीयस्, द्रओजिश्त, या द्राघिष्ठकी 'ज' तथा 'घ' ध्वनियाँ कण्ठ्य 'ग' 'घ' का विकास है, उग्रमें वह 'ग' ही रही है, इ के कारण अन्यत्र 'ज' हो गई है, देखिये 'ग', 'ज' का विकास [अगले परिच्छेद में]।

२ दधातेर्हि ।

*दो [*do] धातु में 'ओ' दीर्घ स्वर है, इसका वर्तमान रूप सबल स्थितिमें ग्रीकमें 'दिदोमि' [didomi] है। दुर्बलरूपमें ग्रीकमें यह भूतकालमें ए-दो-थेन् [edothen] हो जाता है, जो संस्कृतके 'अदाम्' के समानान्तर है। लैतिनमें यह दुर्बल रूपमें अ होता है, यथा दतुस् [datus] । किन्तु संस्कृतमें दुर्बल रूपमें इ पाया जाता है, जैसे सं० अदिथाः। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ भारत-ईरानीमें 'इ' ध्वनि है, तथा अन्यत्र [ग्रीकके अतिरिक्त भाषाओंमें, क्योंकि ग्रीकमें तीनों ही स्वरोंका दीर्घ रूप दुर्बलस्थितिमें ह्रस्व हो जाता है] अ ध्वनि है, वहाँ वास्तविक [मूल] रूपमें इन तीनों दीर्घ स्वरोंका वह दुर्बल रूप रहा होगा, जिसका कारण अप श्रुति [Ablaut] है। इन दुर्बल रूपोंमें, वे धातु जिनमें स्वर ह्रस्व था, उस स्वरको सर्वथा खो देते थे; किन्तु दीर्घ स्वरवाले धातुओंमें इनका अवशेष एक अत्यधिक दुर्बल स्वरके रूपमें अवश्य रह जाता था। यही दुर्बल स्वर भाषाशास्त्रमें 'श्वा [schwa] के नामसे प्रसिद्ध है, तथा इसके चिह्नके लिए रोमन उलटे ई [ə] का प्रयोग किया जाता है। हम इसके लिए देवनागरीमें अ का प्रयोग कर रहे हैं। यही अ भारत-ईरानीमें इ हो गया है, ग्रीकके अतिरिक्त अन्य भाषाओंमें यह अ पाया जाता है, ग्रीकमें कभी तो यह भारत-ईरानी इ, अ रूपमें पाया जाता है, कभी नहीं पाया जाता[1]; यथा सं० पिता, अवेस्ता [फारसी] पिता, ग्रीक पतेर [pater], सं० स्थितः, ग्रीक स्ततोस् [statos], सं० हितः ,ग्री० थतोस् [thetos] ।

भारत-ईरानी शाखाकी दूसरी विशेषता य् तथा व् अन्तःस्थ ध्वनियोंका विशेष प्रकारका प्रयोग है जो अन्य भारोपीय भाषाओंमें नहीं पाया जाता। वेद तथा अवेस्ता दोनोंकी भाषासे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि इ के पूर्व होनेपर य् ध्वनि तथा उ के पूर्व होनेपर व् ध्वनि लुप्त हो जाती

---

1. Wackernagel Altindische Grammatik Vol. I P. 16, § 15

थी। उदाहरणके लिए संस्कृत श्रेष्ठ को लीजिये, अवेस्तामें इसके समानान्तर स्रएश्त [sraes̆ta] शब्द मिलता है। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदमें श्रेष्ठ शब्द प्रायः त्र्यक्षर [trisyllabic] माना गया है। अतः स्पष्ट है कि इसका मूल रूप 'श्रय्' है। श्रेष्ठ तथा श्रीर में ठीक वही संबंध है, जो शविष्ठ तथा शूर में, एवं दविष्ठ तथा दूर में है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि श्रेष्ठ का वास्तविक संस्कृत रूप '*श्रयिष्ठ' अवश्य रहा होगा, तभी यह त्र्यक्षर माना जा सकता है। यह *श्रयिष्ठ सर्वप्रथम *श्रइष्ठ हुआ होगा, बादमें श्रेष्ठ। इसी प्रकार ऋग्वेदके 'रेवत्' 'रयिवत्' रूपोंको लिया जा सकता है जो दोनों ही रूपमें ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। अवेस्ताका रएवत् [raevat] भारत-ईरानी प्राचीन रूप रयिवत् से *रइवत् के द्वारा विकसित हुआ है। इसी आधारपर संस्कृतमें वे धातुरूप जो प्रायः प्राचीन रूपमें यि वाले थे, पदादि में केवल इ ध्वनिसे युक्त पाये जाते हैं। यथा √यज् धातुके सन्नत रूप इयक्षा को ले लीजिये, जो ऋग्वेदमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें आकर सादृश्यके आधार पर इसमें फिरसे 'य्' जोड़ कर यियक्षा रूप बना दिया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'य्' वाला रूप पाया जाता है, यथा √यम् से 'यियंस—,' √यभ्' से 'यियप्स—'। कुछ रूपोंमें लौकिक संस्कृतमें भी प्राचीन इ-वाला रूप ही बचा रह गया, जैसे 'यज्' धातुके परोक्षभूते लिट् के रूप 'इयाज' में। किन्तु इस संबंधमें व् ध्वनिके ऐसे विकासका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अवेस्तामें इसके कोई उदाहरण नहीं मिलते, जहाँ उ के पूर्व होनेपर व् का इस प्रकारका लोप पाया जाता हो। साथ ही 'व्' 'उ' जैसी ध्वनियोंका संयोग प्राचीन भारत-यूरोपीयमें न्यून था। संस्कृतमें यदि कहीं भा० यू० व् का उ रूप पाया जाता है तो 'र्' [रेफ] के स्वरीभूत रूप [ऋ] के कारण। यथा सं० उरा, ऊर्मि को क्रमशः प्रा० भा० यू० *वृरेन् [wr̥ren] [देखिये ग्रीक वरेन [waren] तथा *वृम [wr̥ma] [प्रा० हाई जर्मन वल्म

[walm] से विकसित माना जा सकता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमें ही पाई जाती है। अवेस्तामें यह 'व' 'व' ही बना रहता है, सं० उरः, अवेस्ता वरो [waro], सं० ऊर्णा, अवे० वरअन [waran] संस्कृत क्रियाके परोक्षभूते लिट्में यह व पदादिमें उ हो जाता है, यथा संस्कृत √वच् तथा √वस् धातुसे क्रमशः उवाच एवं उवास रूप बनते हैं। किन्तु इनमें वास्तविक प्रथमाक्षर प्राचीन भारत यूरोपीय *व-अं; *वु- नहीं था। अवेस्तामें यह व ही बना रहता है, तथा वहाँ ववश [wawas̆a] रूप पाया जाता है। इसीलिए अवेस्तामें संस्कृतके पदादि 'उ'-वाले परोक्षभूत रूप जैसे रूप नहीं मिलते।

संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें ही प्रा० भा० यू० *स् ध्वनि इ, उ, र् तथा कण्ठ्य ध्वनियोंसे परे होनेपर परिवर्तित हो जाती है। इस स्थितिमें प्रा० भा० यू० *स् भारत-ईरानी वर्गमें श [s̆] हो जाता है। संस्कृतमें यह श बदल कर ष हो गया है, जब कि अवेस्ता में श ही रहा है। यह परिवर्तन अ या आ ध्वनिसे परे होनेपर नहीं पाया जाता। उदाहरणके लिए संस्कृतके सप्तमी बहुवचनके सुप्प्रत्यय 'सु' को लीजिये, जिसका प्रा० भा० यू० रूप भी *सु [*su] है। यह इ, उ [साथ ही ए, ओ भी] से परे होनेपर संस्कृतमें षु हो जाता है कविषु, भानुषु। अवेस्ता में यह शु [s̆u] होता है अवे० बूमिशु [būmis̆u] [सं० भूमिषु], गोउरुशु [gourus̆u] [सं० गुरुषु]। इसी प्रकार 'र' तथा कण्ठ्य ध्वनिके कारण भी यह संस्कृत में 'ष' तथा अवेस्तामें 'श' हो जाता है।

सं० तृष्णा, अवे० तश्नो [tars̆no], गोथिक, थोर्स्यन् [θorsjan]

सं० उक्षित[1], अवे० उख्शेइति [uxs̆eiti], ग्रीक अउखनो [aukhno]

---

1. सं० क्ष = क् + ष [कषसंयोगे क्षः]

संस्कृत तथा अवेस्ताकी यह विशेषता बाल्तोस्लाविक जैसी 'सत' वर्गकी अन्य भाषामें पाई जाती है। वहाँ भी ऐसी परिस्थितियोंमें 'स' 'श' हो जाता है। जहाँ प्रा० भा० यू० में 'श्वा' [अ (ə)] था, वहाँ भारतेरानीमें इ रूप के कारण *स् ध्वनि श हो जाती है, किन्तु यह विशेषता बाल्तोस्लाविकमें नहीं पाई जाती, क्योंकि वहाँ प्रा० भा० यू० 'श्वा' 'इ' न होकर लैतिनकी भाँति 'अ' होता है।

स० क्रविष् [मास], अवे० खविश्यन्त [xrawisyanta] [रक्त-पिपासु] ग्रीक क्रेअस् [kreas] प्रा० स्ला० क्रुव्यस् [kruvas], प्रा० भा० यू० *क्रेव्अस् [krewəs]

पदरचनाकी दृष्टिसे संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंकी सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इनमें भारत यूरोपीय 'इ' तथा 'ए' स्वर जो क्रमश: वर्तमान तथा परोक्ष भूतके द्वित्व [reduplicated] रूपोंमें पाये जाते थे भिन्न भिन्न रूपमें नहीं हैं। यहाँ दोनों ही रूपोंमें 'इ' स्वर वाला ही द्वित्व रूप पाया जाता है, यथा—

स० तिष्ठति, अवे० हिश्तअन्ति [hiš́təntı], ग्रीक, हिस्तेमि [histemı]
स० शिपक्ति, अवे० हिशख्ति [his̆axtı]
स० इयर्ति, अवे० [उज्] यरात [(uz)-yarat]

इतना होनेपर भी प्रा० भा० यू० ए के भी अवशिष्ट चिह्न भारत-ईरानीमें पाये जाते हैं। सं० ददाति, अवे० ददइति [dadaitı] को लीजिये, ये वर्तमानके रूप हैं, अत ध्यान रखिये प्रा० भा० यू० रूप *दिदोति [*didotı] होगा, *देदोति [*dedōtı] नहीं। ग्रीकमें यह प्रा० भा० यू० 'इ' दिदोसि [didōsı] में स्पष्ट है। यद्यपि यहाँ प्रा० भा० यू० 'ए' नहीं था, तथापि उसीके मिथ्यासादृश्यके आधारपर यह प्रा० भा० यू० 'इ' संस्कृत व अवेस्तामें इन शब्दोंमें 'अ' हो गया है, जो भाषा-

शास्त्रीय दृष्टिसे अपवाद है। यह मिथ्या-सादृश्य किसी परोक्षभूतके रूपके ही आधारपर हुआ होगा, जैसे सं० बभूव [प्रा० भा० यू० *भेभूवे *bhe-bhuwe] आदिके आधारपर। इसी प्रकार परोक्षभूतमे भी मिथ्या-सादृश्य या उपमानके आधारपर 'इ' पाया जाता है, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे 'अ' होना चाहिए, यथा सं० दिदेश [प्रा० भा० यू० *ददेक्ये *dedke]। इस सादृश्यके आधारपर सर्वप्रथम उन धातुओंके वर्तमानमें, जिनमे 'इ' पाया जाता था, द्वित्व रूपमे 'इ' हो गया। यह 'इ' संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमे है। यह इ-ध्वनि वर्तमान रूपोंके आधारपर परोक्षभूतके द्वित्वरूपोंमे भी पाई जाने लगी, जैसे सं० √द्विष् से बने दिद्वेष तथा अवे० दिद्वएश [didwaesha] मे। धीरे धीरे यह 'इ' उन धातुओंके रूपोंमे भी पाया जाने लगा, जहाँ वस्तुतः धातुके मूलरूपमे 'इ' नहीं था, यथा संस्कृत √वस् से विवस्वान्। इसी प्रकार अवेस्तामे भी दा [da] [सं० √धा, प्रा० भा० यू० *धो [*dhō] धातुके दिदार [didāra] ददार [dadāra] दोनो रूप पाये जाते हैं, जो संस्कृत 'दधार' [प्रा० वैदिक रूप दाधार] के समानान्तर हैं। इस 'इ' के उपमानके आधार पर संस्कृत 'उ' वाले धातुओंमे 'उ' स्वरका भी द्वित्व पाया जाने लगा। सं० √दिश् से बने दिदेश के सादृश्यपर √जुष् से जुजोष बना, यद्यपि अवेस्तामे इनके द्वित्व रूपमे 'इ' ही पाया जाता है, जो अवेस्ता शब्द जिजुश्ते [zizushte] मे स्पष्ट है। किन्तु यह सादृश्यजनित 'उ' किन्हीं किन्हीं रूपोंमे अवेस्तामे भी मिल जाता है, यथा संस्कृत, शुश्रूषति; अवेस्ता, सुस्रूश्अम्नो [susrūshǝmno]। वर्तमानके सादृश्यके आधारपर यह 'उ' परोक्षभूतमे पाया जाने लगा तथा रुरोध, पुपोष जैसे रूप बने। संस्कृतमे दीर्घ ऊकारान्त धातुओंमे केवल 'भू' तथा 'सू' इन धातुओंके परोक्षभूतमे ही द्वित्व रूपमे प्रथम स्वर अ [*e *e] पाया जाता है, जो क्रमशः बभूव तथा ससूव [इसका रूप सुषुवे भी है] से स्पष्ट है।

धातुके कर्मवाच्य रूपके सामान्यभूतमें संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमे इ पाया जाता है, जो अन्य किसी भारोपीय भाषामें नहीं पाया जाता, यथा सं० अवाचि [अवे० अवाशि [awāsĭ]] । संस्कृतमें इसका प्रयोग कर्मवाच्यमें अन्य पुरुषके चिह्नके रूपमें पाया जाता है । ठीक इसी रूपमे इसका प्रयोग अवेस्तामे होता है । किन्तु इस पदरचनात्मक विशेषताकी उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। फिर भी यह तो निश्चित है कि यह भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

इसी प्रकार इन दोनों भाषाओंके आज्ञात्मक [लोट्] रूपोंके अन्य पुरुष एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंमें भी ऐसी ही समानता पाई जाती है, संस्कृत भरतु, भरन्तु, अवेस्ता बरतु [baratu], बर्अन्तु [barəntu] इसके अतिरिक्त उत्तम पुरुषके एक वचनमे भी दोनों में आ, तथा आनि दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं, संस्कृत, भवा, भवानि । लौकिक संस्कृतमे आकर भवा वाला रूप लुप्त हो गया है । यह आनि प्रा० भा० यू० विध्यात्मक [optative] तिङ् विभक्ति *आन से विकसित हुआ है । संस्कृतके आज्ञात्मक [imperative] रूपोमें अत्यधिक पाये जानेवाले "–तात्" वाले रूप [यथा स० भवतात्, भरतात्] प्रा० भा० यू० में तो रहे होंगे, किन्तु अवेस्तामे इनका सर्वथा अभाव है।

सुप् विभक्तियोंकी दृष्टिसे भी संस्कृत तथा अवेस्तामें कई समानताएँ पाई जाती है। सर्वप्रथम हम षष्ठी बहुवचनकी विभक्ति-नाम् को लेते हैं, जो दोनोंमे पाई जाती है। प्रा० भा० यू० मे यह सम्बन्धबोधक बहुवचन केवल *ओम् [ōm] था। यह हलन्त तथा अदन्त [अजन्त] दोनों प्रकारके शब्दोंमें प्रयुक्त होता था। यह *ओम् संस्कृतमें आकर आम् हो गया है। हलन्त शब्दोंमें तो संस्कृतमें यह आम् ही प्रयुक्त होता है, स० गच्छताम् [गच्छत् + आम्], जगताम्, पथाम् । किन्तु अदन्त शब्दोंमे यह प्रायः नाम् हो गया है, स० देवानाम् [देव + न + आम्], भानूनाम्,

हरीणाम्[1]। वेदमें केवल एक स्थानपर देवां जन्म में अदन्त शब्दमें आम् का प्रयोग मिलता है, लौकिक संस्कृतमें यह देवानां जन्मके रूपमें प्रयुक्त होगा। नाम् सुप् विभक्तिचिह्न सर्वथा नया न होकर प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्न *नोम् से विकसित हुआ है। किन्तु यह प्रा० भा० यू० सुप् विभक्ति चिह्न केवल आ-कारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें ही था। सम्भव है, इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी प्रयुक्त होता हो। इसके चिह्न पुरानी हाई जर्मनके स्त्रीलिंग रूपोंमें पाये जाते हैं (उदा०—पु० हा० ज० 'गेबोनो (प्रातिपादिक गेबा)—' दानोंका) फिर भी यह बात ध्यान देनेकी है कि अ-कारान्त शब्दोंमें अवेस्ता तथा संस्कृतमें पाया जाने वाला [आ] नाम् [दे० देवानाम्] भारत-ईरानी विशेषता ही है। यह बात अवश्य है कि यह चिह्न अवेस्तामें केवल एक ही स्थानपर पाया जाता है; सं० मर्त्यानाम्, अवे० मश्यानम् [masˇyānam]; बाकी सब स्थानों यह अनम् ही है। अकारान्त शब्दोंके षष्ठी बहुवचनान्त रूपोंके सादृश्य पर इकारान्त, उकारान्त शब्दोंमें भी 'नाम्' पाया जाने लगा, सं० गिरीणाम्, अवे० गइरिनम् [gairinam], सं० वसूनाम्, अवे० वोहुनम् [wohunam]। कभी कभी संस्कृतमें तो यह 'नाम्' पाया जाता है, पर अवेस्तामें प्राचीन 'आम्' ही पाया जाता है, सं० सर्वानाम्, पशूनाम्; अवे० हशम् [hasˇam] पश्वम् [pasˇwam]। संस्कृतमें अधिकतर अदन्त शब्दोंमें यह 'नाम्' पाया जाने लगा।[2]

स्त्रीलिंग शब्दोंके आकारान्त रूपोंमें संस्कृत तथा अवेस्तामें परस्पर बड़ी समानता है। इस प्रकारके शब्दोंके तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बोधनके एकवचनके रूप एक से ही हैं। यह समानता अन्य भारत

१. ध्यान दीजिए, 'नाम्' के पहले का ह्रस्व अ, इ, उ दीर्घ हो जाता है। देव + नाम्, हरि + नाम्, भानु + नाम्के रूप देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम् होते हैं।

२. ऐकारान्त, ओकारान्त एवं औकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'नाम् न होकर 'आम्' ही होता है, जैसे रायाम्, गवाम् आदि रूपोंमें।

यूरोपीय भाषाओंमें नहीं पाई जाती। तृतीया एकवचनमें प्रा० भा० यू० *आ का ही प्रयोग होता था, यथा स० सुकृत्या अवीरता में जहाँ ये तृतीयान्त हैं। [अ] या का प्रयोग सर्वनाम स्त्रीलिंगोंमें होता था, धीरे धीरे तया, यया, कया के सादृश्यपर यह सज्ञाओंमें भी प्रयुक्त होने लगा, सं० रमया, लतया। चतुर्थी, षष्ठी [पञ्चमी] तथा सप्तमीके एकवचनोंमे सस्कृतमें द्वयक्षर [disyllabic] विभक्त्यन्त पाये जाते हैं। इन सभीमे आय् रूप समान पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमे ये क्रमश. -आयै,–आया ,–आयाम् [सं० लतायै, लताया , लतायाम्] हे। 'अन्य भा० यू० भाषाओंमें इनके समानान्तर विभक्तिचिह्न द्वयक्षर न होकर एकाक्षर हैं। वस्तुतः आ०भा० यू० मे *आय् नहीं पाया जाता था और यह भारत-ईरानी वर्गमें ही आकर आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें प्रयुक्त होने लगा था। किन्तु अवेस्तामे सस्कृतके समानान्तर रूप देखे जा सकते हैं,–अयाइ, [ay āi], –अया, –अया [ayā] जिनमे 'अ' का ह्रस्व रूप तृतीया एकवचनके चिह्न 'अया' के सादृश्य पर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० मे *आय् वाला रूप नहीं था, भारत-ईरानीमे आकर यह इकारान्त या –या अन्तवाले शब्दोंके सादृश्यके आधारपर चल पड़ा होगा। इस आधारपर आयै, आया , आया को रूच्यै, रूच्या , रुच्याम् या देव्यै, देव्याः, देव्याम् जैसे रूपोंके आधार पर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० भाषामे चतुर्थी तथा सप्तमी दोनोंकी विभक्ति *–इ, थी, इस प्रकार आकारान्त शब्दोंमे दोनो विभक्तियोंमें *–आइ अन्त वाले रूप बनते थे। धीरे धीरे सप्तम्यन्तको चतुर्थ्यन्तसे भिन्न बतानेके लिए 'आइ' के बादमें भारत-ईरानीमें 'आ' जोड दिया गया इस प्रकार *आया रूप बना। सस्कृतमें आकर इसमें अम् जोड़ दिया गया [आया = *आ + + आ +]। इसी 'आयाम्' के सादृश्य पर चतुर्थी तथा पञ्चमी-। ' 'आकारान्त' रूपोंमे 'आय्'का समावेश हो गया।'.

Hindische Grammatik Vol III P 43,

संबोधनके एकवचनमें संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें ही आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें 'ए' पाया जाता है [सं० रमे, लते]। यह विशेषता अन्य भा० यू० भाषाओंमें नहीं पाई जाती। अवेस्तामें इसके आ एवं ए दोनों प्रकारके रूप मिलते हैं। अवेस्ता, रज़िश्ते [razis̆te] [संस्कृत *रजिष्टे], अवेस्ता, पोउरुशिश्ता [pouruus̆is̆ta] [संस्कृत*पुरुर्शिष्टे][1]। संबोधनके इस ए विभक्तिचिह्नका विकास अस्पष्ट है। अन्य भा० यू० भाषाओंमें आकारान्त शब्दोंका संबोधन एकवचन रूप अ से युक्त होता है। यथा ग्रीक भाषाके नुम्फे [numphe] [प्रा० रूप नुम्फा], [मिलाइये; अँगरेज़ी [nymph] जिसका अर्थ 'अप्सरा' है] संबोधनमें नुम्फ [numpha] रूप होता है।

संस्कृत तथा अवेस्तामें इकारान्त शब्दोंके सप्तमी एकवचनमें 'औ' विभक्त्यन्त पाया जाता है, यथा सं० कवौ, हरौ। यह औ वस्तुतः ऊकारान्त शब्दोंके भानौ, गुरौ आदि रूपोंके सादृश्यपर पाया जाता है। मूल भारत-यूरोपीय विभक्तिचिन्ह *आइ था। वेदमें भी यह विभक्त्यन्त अग्ना-य्या के रूपमें पाया जाता है। किन्तु इस उदाहरणके अतिरिक्त इकारान्तके सप्तम्ये-कवचनान्त रूप उकारान्त शब्दोंके औ के सादृश्यपर ही संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें पाये जाते हैं। अवेस्तामें यह औ न होकर ऑ [ā̆] हो गया है। संस्कृतमें तृतीया एकवचनके इकारान्त शब्दोंके रूपोंमें प्रायः '[इ] या', आ तथा 'इना' विभक्त्यन्त पाये जाते हैं, यथा मत्या, जगता, कविना में। किन्तु कभी कभी इन रूपोंमें केवल ई ही पाया जाता है, यथा वैदिक सं० अचित्ती [लौ० सं० अचित्या]। यह विशेषता वैदिक संस्कृतमें ही पाई जाती है। अवेस्तामें तो 'हशा' [has̆a] [सं० सख्या] को छोड़ कर बाकी सभी तृतीयैकवचनान्त रूपोंमें यही 'ई' पाया जाता है। इसी

---

1. संस्कृतमें रजिष्टे या पुरुर्शिष्टे जैसे पद नहीं मिलते, इसलिए ये पद तारकचिह्नित किये गये हैं। अवेस्ताके आधार पर यदि संस्कृतमें कोई रूप मिलता, तो ऐसा होता।

प्रकार उकारान्त शब्दोंके इस विभक्तिके रूपोमें अवेस्तामें ख्रथ्वा [xraθwa], [मि० सं० क्रत्वा, जो संस्कृत क्रतु शब्दका तृतीया एकवचन है, वैदिक संस्कृतमें यह क्रत्वा रूप मिलता है, लौकिक संस्कृतमें यह रूप नहीं मिलता, यहाँ वह क्रतुना हो गया है।], को छोड़ कर प्राय. 'ऊ' वाले रूप ही पाये जाते हैं, यथा अवेस्ता मइन्यू [mainyū] [स० मन्युना]।

यहाँ तक हमने संस्कृत तथा अवेस्ताकी समानताओंपर ध्यान दिया। अब थोड़ा उन ध्वन्यात्मक भेदों पर दृष्टिपात कर लें, जो संस्कृत तथा अवेस्तामें पाये जाते है। इन ध्वन्यात्मक विशेषताओंमें विशेष महत्त्व व्यञ्जनध्वनियोंके पारस्परिक भेदका है। अत. यहाँ हम उन्हींका संक्षिप्त संकेत करेंगे।

समस्त भारत यूरोपीय भाषाओंमें केवल संस्कृत तथा तज्जन्य भारतीय भाषाओंने ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंके चारों रूपोकी रक्षा की है। इनमें अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमश. क, ख, ग, घ है। अवेस्ता तथा फारसी वर्गकी भाषाओंमें यह बात नहीं पाई जाती, वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है। अघोष महाप्राण ख, थ, फ वहाँ सोष्म ख़, थ, फ़ हो गये हैं। सघोष महाप्राण घ, ध, भका महाप्राणत्व वहाँ सर्वथा लुप्त हो गया है, इनके स्थान पर ग, द, ब रूप पाये जाते है।[1] यथा,

संस्कृत	अवेस्ता
शफ	सफ [safa]
यथा	यथा [yaθa]
सखा	हख़ [haxa]
भूमि	बूमि [bumi]

[1] Bloch L' Indo-Aryen pp 50-51

धेनु	दएनु [daenu]
वर्म	गर्म [garm]
हन्ति	जइन्ति [zainti]

संस्कृत पदादि स अवेस्तामें ह पाया जाता है। संस्कृत पदादि श अवेस्ता में स होता है। संस्कृत ष अवेस्तामें श पाया जाता है। संस्कृत पदादि ह वहाँ ज़ हो जाता है।

संस्कृत	अवेस्ता
सप्त, सिन्धु	हप्त [hapta], हिन्दु [hindu]
शरत् [-द्]	सरअद [sarəda]
जोष-जोष्ट	जओश [zaoša]
हस्त	ज़स्त [zasta]
	[आ० फा० दस्त]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते हैं कि संस्कृत तथा अवेस्ता वस्तुतः भारत-यूरोपीय परिवारमें एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्गके नामसे एक ही शाखा मान सकते हैं। इस सम्बन्धमें सबसे बड़ी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि संस्कृत या अवेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाओंके एक ही रूपसे नहीं है। जब हम संस्कृत या अवेस्ता शब्दका प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाओं या बोलियोंसे है जो संस्कृत या अवेस्ता कालमें भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गोंके द्वारा बोली जाती थीं। यह प्रयोग ठीक उसी तरहसे किया जा रहा है, जिस प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोंसे है, अथवा जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमें खड़ीबोली, ब्रज, बांगरू, कन्नौजी, बुन्देली [यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि भी] आदिका भी समावेश हो जाता है। वैदिक कालमें इस संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वर्गोंमें विभक्त थे तथा इन विभिन्न वर्गोंमें कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

रही होगी, यद्यपि ये विशेषताएँ अत्यधिक नगण्य थीं। पर इन विशेषताओंका पता ऋग्वेदके मन्त्रभाग तथा अन्य वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त वैकल्पिक रूपोंसे लगता है। याद रखिये, वेद किसी एक मानवकी कृति न होकर विभिन्न वर्गोंके ब्राह्मणवर्ग [ऋषिवर्ग] की रचनाएँ हैं। यदि 'रचना' शब्द जरा बुरा लगे, तो मै कहूँगा कि ये मन्त्र विभिन्न वर्गोंके ऋषियोंके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये हैं। अतः तत्तत् वर्गकी विभाषाकी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ इनमे आ गई हैं। साथ ही कई मन्त्र भाग सीमान्त प्रदेशमें रचे गये हैं, तो कई कुरुपाञ्चालमे, तो कई अन्तर्वेदमे। इसी तरह मन्त्रोंमे कालभेद भी पाया जाता है। ठीक यही बात अवेस्ताकी गाथाओंके विषयमे कही जा सकती है, जिनमें भी विभिन्न वैभाषिक विशेषताएँ स्पष्ट हैं। अवेस्ताकी गाथाएँ एक ही कालकी नहीं हैं, ठीक उसी तरह जैसे वैदिक मत्र भी एक ही कालकी रचना नहीं हैं। इस सबधमें यह ध्यान देना आवश्यक है कि प्राचीनतम अवेस्ता भाषा प्राचीनतम सस्कृतसे भी अधिक 'आर्ष' [archaic] है। अवेस्ताकी प्राचीन गाथाओंमे वर्तमानकालके उत्तम पुरुष एकवचनमे आ [ā] तिङ् विभक्ति पाई जाती है, जो प्रा० भा० यू० वर्तमान उत्तमपुरुष ए० व० विभक्ति *ओ से विकसित है। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रा० भा० यू० मे वर्तमानके उत्तमपुरुष एकवचनके चिह्न *ओ तथा *मि दोनों थे। सस्कृतमें केवल मि ही पाया जाता है। ग्रीकमें ओ तथा मि दोनों पाये जाते है। अवेस्तामें भी [सस्कृतकी भाँति] बादकी गाथाओंमे केवल मि रूप ही पाया जाने लगा है।

स० दधामि, अवेस्ता ददामि [dadāmi] ग्री० तिथेमि [tithemi]
स० भरामि, अवे० बरमि [barami] ग्री० फेरो [fero]

इस 'आर्ष' प्रयोगके अतिरिक्त गाथाकी विभाषामें एक और "आर्ष" [archaic] प्रयोग पाया जाता है, जो प्राचीनतम सस्कृतमे इतना अधिक नहीं पाया जाता। भारत-ईरानी वर्गमें 'सघोष महाप्राण+अघोष' सयुक्त ध्वनियाँ सघोष+सघोष महाप्राण पाई जाती है। यह नियम जर्मन विद्वान्

बार्थोलोमेके नामपर "बार्थोलोमेका नियम" कहलाता है। बार्थोलोमेने अवेस्ताकी भाषापर महान् कार्य किया है। बार्थोलोमेके इस नियमके अनुसार गाथाकी विभाषामें अत्यधिक आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं, जबकि संस्कृतमें आर्ष [प्राचीन] तथा बादके दोनों प्रकारके रूप नहीं पाये जाते हैं। आदिम भारतयूरोपीय भाषामें शब्दोंके मूल रूपोंमें आदि तथा अन्तकी ध्वनियाँ महाप्राण पाई जा सकती हैं, किन्तु संस्कृतमें दोनों स्थानोंपर प्रायः महाप्राण ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं।[1] ऐसी दशामें संस्कृतमें अन्तकी ध्वनिकी महाप्राणता प्रायः लुप्त हो जाती है। यह लोप अधिकतर 'स' ध्वनिके योगमें पाया जाता है। किन्तु इस विषयके संस्कृतमें कई अपवाद भी पाये जाते हैं। यथा संस्कृतके √दह् [*√घघ्य् *dhaghy-] के सामान्य भूतमें दक्ष-[*घक्ष नहीं] रूप पाया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत √दुह् [प्रा० भा० यू० *√घुघ्य् [*dhughy-] के सामान्य भूतमें "दुक्ष-[धुक्ष-नहीं] रूप पाया जाता है। यह प्राणताका लोप एक प्रकारकी समस्या-सा है। इसीलिए पदपाठमें, ऐसी दशामें 'द' के स्थानपर 'ध' का प्रयोग पाया जाता है इसी प्रकार √भस् तथा √घस् से व्युत्पन्न "बप्स्-" तथा "जक्ष्-" भी ऐसी ही समस्या है, जिनमें महाप्राणता सर्वथा नहीं पाई जाती। इस बातसे स्पष्ट है कि महाप्राण तथा स के योगका पूर्ववर्ती महाप्राण ध्वनिपर वैसा ही प्रभाव पाया जाता है, जैसा कि केवल परवर्ती महाप्राणका। किन्तु यह नियम उस समय कार्यशील था जब स-ध्वनिके योगसे मूल रूपोंके अन्तमें पाई जानेवाली सघोष महाप्राण ध्वनि अघोष अल्पप्राण [क्स, त्स, प्स] नहीं हुई थी। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि "सघोष महाप्राण + स"[2] से ऊष्मध्वनि भी सघोष हो

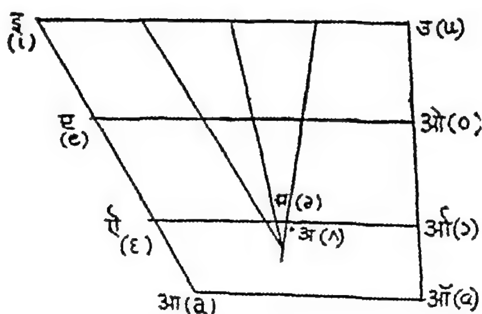
---

1 देखिये परिच्छेद ५.

२. ध्यान रखिये "स" [s] अघोष ध्वनि है, तथा इसका सघोष रूप "ज़" [z] है।

संस्कृत ध्वनियाँ तथा स्वर

किसी भी भाषाकी ध्वनियोंको सर्वप्रथम दो प्रकारकी माना जा सकता है:—स्वर तथा व्यञ्जन। स्वरोंके उच्चारणमें वायु मुखसे इस प्रकार निकलता है कि मुखके अंतर्गत उसका अवरोध नहीं होता। ये ध्वनियाँ जिह्वा तथा ओठोंकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार विभिन्न रूपमे उच्चरित होती हैं। जिह्वाको उठाया जा सकता है, नीचा किया जा सकता है, आगे बढ़ाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है तथा सामान्य अवस्थामें पड़ी रक्खा जा सकता है, ओठोंको गोलाकार बनाया जा सक्ता है, पीछे हटाया जा सकता है, अथवा अपनी सामान्य स्थितिमें रक्खा जा सकता है। कभी कभी स्वरके उच्चारणके समय नासिका-विवर भी खुला रक्खा जा सकता है, और इस दशामें सानुनासिक स्वरका उच्चारण होता है, यथा ताँश्चक्रे में, द्वितीय ध्वनि 'आ' का उच्चारण सानुनासिक [सानुस्वार] ही है। जिह्वाकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार हम इन स्वर ध्वनियोंको पश्च, अग्र तथा केंद्रीय इन तीन कोटियोंम विभक्त कर देते हैं। जिह्वाकी इन स्थितियोंके आधारपर मानस्वरोंकी उच्चारण स्थितिको हम इस चतुर्भुजसे व्यक्त कर सकते है।



इस चतुर्भुज की इ आ रेखाके स्वर इ, ए, ऍ, आ अग्र स्वर हैं, इनके उच्चारणमें जिह्वा आगेकी तरफ बढ़ती है। इ में जिह्वाकी स्थिति उच्चतम रहती है, आ में निम्नतम। इसी प्रकार पश्च ध्वनियोंमें जिह्वा पीछे सटी रहती है; वस्तुतः उसका पिछला भाग कोमल तालुकी ओर उठता है। केन्द्रीय स्वर 'अ' [ə] के समय जिह्वा सामान्य स्थितिमें पड़ी रहती है। केन्द्रीय स्वरकी पश्च-प्रकृति अ [ʌ] के समय ओठोंकी चंचलता भी पाई जाती है, जो 'अ' [ə] के उच्चारण में नहीं पाई जाती। ऍ, ऑ ध्वनियाँ विवृत हैं, इनके उच्चारण में मुख विवृत रहता है तथा जिह्वा आ या ऑ के उच्चारणकी अपेक्षा कुछ ऊपर उठी हुई रहती है। ए, ओ के उच्चारणमें जिह्वा और अधिक उठी रहती है, तथा मुख उतना विवृत नहीं रहता। स्वरोंका अक्षर सघटना [syllabic function] में प्रमुख हाथ होता है। कभी कभी दो स्वर भी एक साथ मिलकर अक्षरसघटनाका कार्य करते हैं। इन्हें ध्वनि-युग्म [dipthong] कहा जाता है। संस्कृतकी ऐ [आइ], औ [आउ] ध्वनियाँ ध्वनियुग्म हैं।

प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्रियोंने ध्वनियोंका वर्गीकरण प्रयत्न, स्थान तथा करणकी दृष्टिसे किया है। स्थान तथा करणको आधुनिक ध्वनि-विज्ञानकी परिभाषामें हम 'पॉइन्ट आव् आर्टिकुलेशन' या 'प्लेस आव् आर्टि-कुलेशन' तथा करणको 'आर्टिकुलेटर' कहते हैं। द्व्योष्ठ्य तथा दन्तोष्ठ्य ध्वनियोंको छोड़कर प्रायः सभी ध्वनियोंमें करण जिह्वाका कोई न कोई भाग होता है, स्थान उसके द्वारा स्पृष्ट अन्तर्मुखका अंगविशेष। प्राचीन भारतीय आचार्योंने अ, आ को कण्ठ्य; इ, ई, ए, ऐ को तालव्य, तथा उ, ऊ, ओ, औ को ओष्ठ्य माना है। ऋ, ॠ, तथा ऌ को उन्होंने जिह्वामूलीय माना है।[1] कात्यायन प्रतिशाख्यके मतानुसार ऌ दन्त्य है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ऋ, ॠ, ऌ वस्तुतः र्, ल् के अक्षर सघटनाकारी रूप हैं, स्वतन्त्र स्वर नहीं। ध्वनिशास्त्री अन्य स्वरोंका वर्गीकरण जिह्वाकी स्थितिके अनुसार करना विशेष ठीक समझता है।

व्यञ्जन ध्वनियोंको हम दो कोटियोंमे विभक्त करते हैं,—स्पर्श [stops], तथा निरन्तर [continuants]। स्पर्श ध्वनिके उच्चारणमें एक क्षणके लिए मुखके अंदर वायुका अवरोध हो जाता है, तदनन्तर ध्वनि मुक्तकी जाती है। यथा प के उच्चारणमे, ओठोंको एक दूसरेसे सटानेसे वायुका अवरोध होता है, तत पश्चात् ओठोंको खोलनेपर ध्वनि सुनाई देती है। निरन्तर व्यञ्जनोंमें स्पर्श ध्वनियोंकी भाँति वायुका पूर्ण अवरोध नहीं हो पाता, फलत इनका उच्चारण करते समय वायु मुखसे निकलता रहता है। श, स, ष आदि ध्वनियाँ निरन्तर हैं। भारतीय वैयाकरणोंके मतानुसार क से म तककी ध्वनियाँ स्पर्श हैं—कादयो मान्ताः स्पर्शा.। किन्तु आधुनिक ध्वनिशास्त्री अनुनासिक ध्वनियोंको 'निरन्तर' माननेके पक्षमे हैं। व्यञ्जनोंका दूसरे ढगका भेद स्वरतन्त्रियों [vocal chords] के कम्पनके आधारपर किया जाता है। सघोष ध्वनियों, यथा ग, ज, ड, द, ब आदिके उच्चारणमें स्वर-तन्त्रियोंमें कम्पन होता है जो नाद या घोषको व्यक्त करता है, अघोषध्व-नियों, यथा क, च, ट, त, प आदिके, उच्चारणमे स्वरतन्त्रियोंमें कम्पन नहीं होता फलत नाद उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्राणताके आधार पर स्पर्श ध्वनियोंको अल्पप्राण तथा महाप्राण रूपमें भी विभक्त किया जाता है। स्थानभेदकी दृष्टिसे इन व्यञ्जन ध्वनियोंका वर्गीकरण यों किया जाता है:—

१. कवर्ग ध्वनियोंको सस्कृत वैयाकरणोंने कण्ठ्य कहा है। प्रातिशाख्योंमे इनका स्थान जिह्वामूल माना गया है।[१] कवर्गके उच्चारणमे जिह्वाका मूल

---

१ कण्ठ्योऽकार प्रथमपञ्चमौ च ... ऋकारल्कारावथ षष्ठ ऊष्मा, जिह्वामूलीया प्रथमश्चवर्ग. [ऋक् प्रा० प्रथम पटल, १८], [ऋ. प्रा. प० १६–२०] साथ ही—अहविसर्जनीया' कण्ठे [शुक्लयजु प्रा० १ ७१], इचशेयास्तालौ [१·६६], उवोपोपद्मा ओष्ठे [१ ७०], ऋत्वक्कौ जिह्वामूले [१ ६५], लृलसिता दन्ते।

२ ऋ ✕ क्कौ जिह्वामूले [शु य. प्रा. १ ६५] "जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः [ऋक् प्रा १. १८]

कोमल तालु [velum] को छूता है। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इन ध्वनियोंको कोमलतालुजन्य [velar] कहना अधिक सगत समझते है।

२. चवर्ग ध्वनियोंको तालव्य माना जाता है।[1] इनके उच्चारणमें जिह्वा-मध्यके द्वारा कठोर तालुके दोनों छोरोंका स्पर्श किया जाता है। संस्कृतकी ये ध्वनियॉ शुद्ध तालव्य ध्वनियॉ थीं, पर आजकी हमारी भाषाओंकी ये ध्वनियॉ सोष्म स्पर्श है; इन्हे ध्वनिवैज्ञानिक शब्दावलीमें हम सोष्म स्पर्श [affricates] कहेंगे। इस बातका संकेत डॉ० चाटुर्ज्याने अपनी 'बगाली फोनिटिक रीडर' मे किया है। ब्रज, हिन्दी तथा अवधीकी च, छ, ज, झ ध्वनियाँ तालव्य न होकर सोष्म स्पर्श है।[2]

३. टवर्ग ध्वनियोंको मूर्धन्य कहा जाता है।[3] किंतु मूर्धन्य नाम ठीक नहीं जान पड़ता। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस वर्गकी ध्वनियोंके लिए 'रिट्रोफ्लेक्स' [retroflex] शब्दका प्रयोग करते हैं। इस वर्गकी ध्वनियोंके उच्चारणमे जिह्वाका अग्र भाग उलट कर कठोर तालुके किसी भी अंशको छूता है। जिह्वाके इस प्रतिवेष्टितत्वका संकेत प्रातिशाख्योंमे भी मिलता है।[4] इसी

---

१. इचशेयास्तालौ [शु. य. प्रा. १. ६६], तालव्यावेकारचकारवर्गौ [ऋ प्रा. १. १८]

२ Dr Saksena' Evolution of Awadhi P. 31

३. षटौ मूर्धनि [शु. य प्रा. १. ६७]; मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ [ऋक् प्रा. १. १९]

४. जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे [तैत्तरीय प्रा. २. ३७]; मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम् [अथर्वप्राति १. २२], मूर्धन्यः प्रतिवेष्टयाग्रम् [वाजसनेय प्रा. १ ७८] साथ ही देखिये—Daniel Jones' An Outline Of English Phonetics P. 119

आधारपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन ध्वनियोंको "प्रतिवेष्टित" [Retroflex] कहना ठीक होगा।

४. ळ, ळ्ह ध्वनियाँ उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित [flapped retroflex] हैं। इनके उच्चारणमें जिह्वाका अग्र भाग उलट कर झटकेके साथ जैसे किसी चीजको फेंकता, वापस लौटता है। ये दोनों ध्वनियाँ वैदिक संस्कृतमें ही पाई जाती हैं। हिन्दी, की 'ड़' ध्वनि भी उत्क्षिप्त ही है। इसीका सानुनासिक उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित रूप हिंदी 'ण' ध्वनि है।

५ तवर्ग ध्वनियाँ दन्त्य हैं।[१] इनके उच्चारणमें जिह्वा ऊपरके दाँतोंको अपने नुकीले भागसे छूती है।

६. पवर्ग ध्वनियाँ द्वयोष्ठ्य है। इनके उच्चारणमें स्थान तथा करण दोनों ही ओठ रहते हैं।

७ अनुनासिक [ङ, ञ, ण, न, म]. ध्वनियाँ अपने वर्गके साथ ही साथ अनुनासिक भी है। इनके उच्चारणके समय वायुका कुछ अंश नासिका विवरसे भी निःसृत होता है। 'न' का स्थान वैयाकरणोंने दन्त ही माना है, किन्तु इसका वास्तविक स्थान वर्त्स [teeth-ridge] माना जाता है।

८ अन्तःस्थ ध्वनियाँ [य, व]—संस्कृत वैयाकरण य, व, र, ल को अंतःस्थ मानते हैं, किन्तु आजका ध्वनिशास्त्री र, ल को अन्तःस्थ नहीं मानता। य को प्रातिशाख्यों व शिक्षाओंमें [देखिए फुटनोट[१], पूर्ववर्ती पृष्ठ] तालव्य माना गया है। आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंमेंसे कुछ य को तालव्य मानते हैं, कुछ वर्त्स्य। व द्वयोष्ठ्य ध्वनि है। इन्हींका अक्षरसंघटनाकारी रूप 'इ', 'उ' माना जाता है।

९ र, ल ध्वनियाँ द्रवित या [liquid] कहलाती हैं। प्रथम ध्वनि लुण्ठित [rolled] है, द्वितीय पार्श्विक [lateral]। प्राचीन भारतीय वैयाकरणोंके मतानुसार प्रथम मूर्धन्य है, द्वितीय दन्त्य। र के उच्चारणमें

---

१. ऌलसिता दन्ते—[शु य प्रा १. ६९]

जीभकी नोक वर्त्सका स्पर्श एक ही क्षण दो तीन बार करती है। प्राचीन प्रतिशाख्योंमें इसका संकेत मिलता है। वे 'र' का स्थान दन्तमूल मानते हैं:—रो दन्तमूले [शु. य. प्रा. १. ५८], रेफ वर्त्स्यमेके [ऋ. प्रा. १. २०]।

१०. श, ष, स ध्वनियाँ क्रमशः तालव्य, प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] तथा दन्त्य सोष्म ध्वनियाँ हैं। इनके उच्चारण करते समय जिह्वाके दोनो ओर कुछ भाग खुला रह जाता है, जिससे मुखकी वायु बाहर निकलकर 'स्-स्' जैसी ध्वनि उत्पन्न करती है। इसीलिए इन्हें सोष्म कहा जाता है।

११. ह, ह̥ ध्वनियाँ क्रमशः सघोष तथा अघोष प्राण ध्वनि हैं। भारतीय विद्वानोंमेसे कुछने इन्हें कण्ठ्य [Glutteral] माना है, कुछने उरःस्य [pulmonic]। अघोष प्राणध्वनि [ह̥] विसर्गके रूपमे संस्कृतमें पाई जाती है। आजकी भारतीय आर्य भाषाओंमे राजस्थानी तथा गुजरातीकी कुछ बोलियोंमे यह अघोष प्राणध्वनि पाई जाती है। महाप्राण ध्वनियोंमे अघोष महाप्राण ध्वनियोंमे अघोष प्राणध्वनि होती है, सघोष महाप्राण ध्वनियोंमे सघोष प्राणध्वनि।[1] यथा, ख = क् + ह̥; छ = च् + ह̥; घ = ग् + ह, झ = ज् + ह।

१२. ≍क, ≍प, व संस्कृतमें तीन ध्वनियाँ और भी पाई जाती हैं:—जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा दन्तोष्ठ्य [dentc-labial] 'व'। जिह्वा-

१. प्राणता [aspiration] के लिए प्रतिशाख्यों में 'ऊष्मा' शब्दका प्रयोग मिलता है, महाप्राणध्वनियोंको वहाँ 'सोष्म' ध्वनियाँ कहा जाता है। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टिमें यह ठीक नहीं। ऊष्मा [friction] तथा प्राणता [aspiration] भिन्न भिन्न ध्वन्यात्मक तत्त्व हैं। महाप्राणके लिए 'सोष्म' शब्दके प्रयोगके लिए देखिये—"द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः" [शु. य. प्रा. १.५४], तथा वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ, युग्मौ सोष्माणा-वनुनासिकोऽन्त्यः। [ऋ. प्रा. १. १२]

मूलीय ≍ कका उच्चारण 'ख़' सा होता है, यथा अन्तः≍करण [अन्त [ख़्] करण], उपध्मानीय दन्तोष्ठ्य ध्वनि है, इसके उच्चारणमें अधरोष्ठ ऊपरके दाँतोंका हलका सा स्पर्श करता है, इसका उच्चारण 'फ़' सा होता है, यथा अन्त≍पुर [अन्त [फ़्] पुर]। दन्तोष्ठ्य 'व्व' इसी 'फ़' का सघोष रूप है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिशास्त्रीय सकेतलिपिमें इनके लिए क्रमशः ɸ, β चिह्नोंका प्रयोग होता है। 'व्व' का उच्चारण संस्कृतमें अलगसे ध्वनि [phoneme] न होकर द्वयोष्ठ्य 'व' का ही ध्वन्यग [allophone] माना जाना चाहिए। इसका उच्चारण भी केवल वैदिक संस्कृतमें पाया जाता है, जहाँ पदादि 'व' [w] को 'व्व' [β] पढने की प्रथा है। शिक्षाओंमें इसका संकेत मिलता है:—गुरुर्व्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत् [माध्यन्दिनी शिक्षा २. ६]।

संस्कृत ध्वनियोंका यह वर्गीकरण निम्न मानचित्रसे जाना जा सकता है :—

स्थान	स्पर्श				निरन्तर			
	अल्पप्राण		महाप्राण				अनुनासिक	
	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष
कण्ठ्य या कोमलतालुजन्य	क	ग	ख	घ	ह̥	ह		ङ
तालव्य	च	ज	छ	झ	श	य		ञ
प्रतिवेष्टित या मूर्धन्य	ट	ड	ठ	ढ	ष			ण
दन्त्य	त	द	थ	ध	स	ल		न
द्वयोष्ठ्य	प	ब	फ	भ		व		म
वर्त्स्य						र		[न]
दन्तोष्ठ्य					[फ] ≍प	[व्व]		

संस्कृतके अंतर्गत अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ ऐकिक स्वर ध्वनियाँ, तथा ऐ, औ ध्वनियुग्म है। इनके अतिरिक्त 'र' तथा 'ल' के अक्षर संघटनाकारीरूप ऋ, ॠ, ऌ का भी ग्रहण संस्कृत स्वरोमे किया जा सकता है, जहाँ ये स्वरका कार्य करते है। संस्कृतमे पाँच अनुनासिक ध्वनियाँ है :— ङ, ञ, ण, न, म। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे संस्कृतमे तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ [nasal phonemes] मानी जा सकती है:—ण, न, म ; तथा ङ, ञ वस्तुतः न के ही ध्वन्यग [allophones] है। वाकेरनागेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "आल्तिन्दिश्के ग्रामातीक" [प्राचीन-भारतीयकी व्याकरण] मे 'ङ' को संस्कृतमे अलग ध्वनि माना है, किन्तु हम इस मतसे संतुष्ट नहीं।[1] ब्लॉखने अवश्य ही 'न', 'म' तथा 'ण' ये तीन अनुनासिक ध्वनियाँ संस्कृतमे मानी है।[2] कुछ विद्वानोंके मतानुसार टवर्गीय स्पृष्ट ध्वनियों तथा 'ष' को संस्कृतकी अलगने ध्वनि न मानकर तवर्ग तथा स का नतिभाव[3] [Prosody of retroflexion] मानना ठीक होगा, पर हम इस मतसे सहमत नहीं क्योंकि संस्कृतकी टवर्ग ध्वनियाँ वस्तुतः दन्त्योका नतिभाव न होकर तालव्य ध्वनियोंका विकास है।

संस्कृत स्वर-ध्वनियोंका विकास :—

संस्कृतकी स्वर-संपत्ति भारत-ईरानी स्वरोके अत्यधिक निकट है। इस भाषामे ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, ऋ [ऌ केवल एक ही संस्कृत धातु क्लृप् मे मिलता है, जिसका रूप अवेस्तामे 'क्अर्अप्' [kərəp] है], पाये जाते है। इसके अतिरिक्त एकाक्षरीभूत ध्वनियुग्म ए, ओ तथा ऐ, औ भी पाये जाते है। इनके अतिरिक्त ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ

१ Wackernagel. Altindische Grammatik [Lautlehre] V 1 p 2 §2

२ Bloch· L'Indo Aryen P. 71

३. एषा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभावः [ऋक् प्रा० ५. ६१]; दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः [वाजसनेयी प्रा० १. ४२]

के सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं, जिसे प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में "रक्त"[1] संज्ञा दी गई है।

अ—संस्कृत अ का विकास प्रा० भा० यू० *अ, *ए, *ओ तथा अक्षरघटनाकारी स्वरीभूत अनुनासिक *न् *म् से हुआ है। उदाहरणार्थ,

सं० अजति, अवेस्ता अज़इति [azaiti], ग्रीक अगेइ [agei]
∠ *अगेइ [*agei]

,, अस्ति ,, अस्तिय् [astiy], ग्रीक एस्ति [esti]
∠ *एस्ति [*esti]

,, पतिः ,, पइतिश् [paitiš], ग्रीक पोसिस् [posis]
∠ *पोतिस् [*potis]

,, दश ,, दस [dasa], ग्रीक दक [deka]
∠ *दक्म् [*dekm̥]

,, तत[2] ,, ग्रीक ततोस् [tatos]
∠ *त्न्तोस् [*tn̥tōs]

आ—संस्कृत आ का विकास इन्हींके दीर्घरूपसे हुआ है। आदिम भा० यू० आ, ए, ओ तथा स्वरीभूत न्, म् के दीर्घरूपसे आ का विकास हुआ है। यथा,

सं० मातृ [मातर्] अवे० मातर् [mātar] ग्रीक मातेर्
[mater] ∠ *मातेर् [*māter]

सं० मा ,, मा [ma] ग्रीक मे [me] ∠ *मे [me]

---

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिक [ऋक् प्रा० १. १७]
२. तनु विस्तारे इति धातो. क्तप्रत्यय ।

सं० गाम् „ गम् [gam] ग्रीक बोन् [Bōn]

∠ *ग्वोम् [gwōm]

सं० जातः अवे० ज़ातो [zato] ग्रीक ग्नोतास् [gnotos] ∠* ग्नृतास् [*gn̥tos]

„ क्षाः „ ज़् [za] „ ख्थोन् [khthōn], ∠*√घ्स्म् [*ghsm̥–]

इ, उ [ई, ऊ]—संस्कृतके ह्रस्व तथा दीर्घ इ, उ का विकास कई मूलरूपोंसे हुआ है। [१] प्राचीन भा० यू० इ, उ [ई, ऊ] संस्कृतमें इसी रूपमें पाये जाते हैं, यथा,

सं० इहि [*इधि] अवेस्ता इदी [idī] ग्रीक इथि [ithi], ∠*इधि [idhi]

„ उप „ उप [upa] „ उपो [upo] ∠*उप [upa]

„ जीव पारसी जीव [zīva], लैटिन वईऊस् [uīūs]

∠*ग्वीवुस् [*gwīws]

„ भ्रू „ अब्रू [abrū], ग्रीक ओफ्रूस् [ophrūs]

∠*ओभ्रूस् [*obhrūs]

[२] संस्कृत 'इ' कई स्थानों पर प्रा० भा० यू० अ [ə] से विकसित हुआ है। यथा,

सं० पितृ [पितर्] अवे० पितर् [pitar] ग्रीक पतेर [pater]

∠*पअतेर [pəter]

,, दुहिता [दुहितृ] ,, दुग्दा [duɣda] ,, थुगातेर [thugatēr]
∠ *दुघ्भतेर [dughətēr]

[३] संस्कृत इ, उ जहाँ इर्, उर् के रूपमे पाये जाते है, वहाँ प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] से विकसित है। यथा—

स० गुरु, अवेस्ता गोउरु [gouru], ग्रीक बरुस् [barus] ∠ *गृउस् [*gr̥us]

,, गिरि ,, गइरि [gairi] ,, ∠ *गृरि [गृर्अ] [*gr̥ri]
[*gr̥rə]

ऋ, ॠ, ऌ :—संस्कृत ऋ, ॠ, ऌ शुद्ध स्वर न होकर र्, ल् के स्वरीभूत रूप है। ऋक्प्रातिशाख्यके टीकाकार उव्वटके मतानुसार 'ऋ' को चार पादोंमे विभक्त किया जा सकता है। इनमेसे प्रथम तथा अंतिम पाद स्वरका तथा मध्यके दो पाद व्यंजनके हैं। इसे हम यों व्यक्त कर सकते है :—
ऋ = $\frac{\text{अ}}{४}$ + $\frac{\text{र}}{२}$ + $\frac{\text{अ}}{४}$ इसीका दीर्घ रूप ॠ है। इसी प्रकार ऌ को $\frac{\text{अ}}{४}$ + $\frac{\text{ल}}{२}$ + $\frac{\text{अ}}{४}$ माना जा सकता है। ऋ तथा ऌ दोनोका अवेस्तामे अर्अ [ərə] के रूपमे विकास हुआ है। ये सभी प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] *ऌ [l̥] से विकसित हुए हैं। संस्कृतका 'ऌ' जो केवल 'क्लृप्' मे पाया जाता है, सम्भवत: प्रा० भा० यू० *ऋ [*r̥] से विकसित हुआ है। प्रा० भा० यू० *r̥, *l̥ दोनो ही संस्कृतमे ऋ के रूपमे विकसित हुए है।

स० √मृद्— ∠ *मृज़्द् [*mr̥zd]

,, दृढ ∠ *दृज़्ध [*dr̥zdha]

,, वृद्ध [परि-], ∠ *वृझ्ध [wrzdha]

,, पृथु अवे० पृअर्अथु [pərəthu] ∠ *पृथु [prthu]

संस्कृत दीर्घ ऋ को संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके द्वितीया तथा षष्ठी बहुवचन 'हरीन्-हरीणाम्', 'भानून्-भानूनाम्' के सादृश्य पर ऋकारान्त शब्दोंमें बनाया गया रूप मानते हैं।[1] वस्तुतः दीर्घ ऋ केवल इन्हीं दो विभक्तियोंके बहुवचन रूपोंमें [ऋकारान्त शब्दोंमें] पाया जाता है, यथा पितॄन्, श्रोतॄन्; पितॄणाम्, श्रोतॄणाम्; मातॄः, स्वसॄणाम्। अतः इसे प्रा० भा० यू० दीर्घ *ऋ [r̄] से विकसित नहीं माना जा सकता।

ए, ओ—संस्कृत की ए, ओ ध्वनियाँ क्रमशः प्रा० भा० यू० *अइ, *एइ, *ओइ, तथा *अउ, *एउ, *ओउ से विकसित हुई हैं। ये दोनों मूलतः सन्ध्यक्षर हैं। इनके विकासके उदाहरण रूपमें ये रक्खे जा सकते हैं :—

सं० अश्वे, ग्रीक हेप्पोइ [heppoi] ∠ *एक्वोइ [ekʷoe]

,, भरेत [मि० ग्रीक, फेरोइतो, [pheroito] ∠ *भेवोइतो [bhew oito]।

संस्कृत भाषामें ही अइ [अय्], तथा अउ [अव्], ए तथा ओ के रूपमें परिवर्तित होते मिलते हैं :—मघवन्-मघोनः, भगवन्-भगोस्।

ऐ, औ—संस्कृत ऐ, औ ध्वनियुग्मोंका विकास प्रा० भा० यू० सन्ध्यक्षरों [ध्वनियुग्मों] से हुआ है, जिनमें प्रथम स्वरध्वनि दीर्घ *आ, *ए, *ओ [ā, ē, ō] रहा है। ऐ, औ संस्कृतमें भी आय् तथा आव् के रूपमें परिवर्तित होते देखे जाते हैं। यथा, गौः, गावः; नौ, नौभिः, नावं,

[1] Bloch : L'Indo-Aryen P 30.

द्यौः, द्यावा। इनके प्रा० भा० यू० से उत्पन्न विकासके लिए ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

स० अरैचम्, ग्री० एलेइप्स [eleipsa] ∠*लेयूक्व् [*leykʷ–]

,,नौः ,, नाउस् [naus] ∠*नावूस् [naw–s]

द्यौ. ,, जेउस् [प्राचीन ग्री० जेउस्] [zeus] ∠*द्येवूस् [dyew-s]

शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त सस्कृतमे स्वरोंके सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं। वदिक तथा लौकिक दोनों सस्कृतमे अधिकतर सानुनासिक स्वर दीर्घ पाये जाते हैं, आँ, ईं, ऊँ, किन्तु ह्रस्व स्वरोंके साथ भी सानुनासिकता होती है। वेदमें पदान्त आ जो न् से पूर्व होता था, दूसरे पदके आदिमें स्वर ध्वनि आनेपर सानुनासिक हो जाता था, साथ ही वह प्लुत भी हो जाता था। जैसे लोकाँऽऽअकल्पयन्, अमिनन्ताँऽऽएवै.। वैदिक तथा लौकिक सस्कृतमें दीर्घ आ, ई, ऊ तीनों पदान्त न् से पूर्व होनेपर तथा ऐसे अन्य पदसे सहित होनेपर, जिसके आदिमे चवर्गीय, टवर्गीय तथा तवर्गीय ध्वनि हो, अनुनासिक हो जाते है, यथा अहाँश्च सर्वान्, पशूँस्ताँश्चक्रे। कुछ ध्वनिशास्त्रियोंके मतानुसार ह्रस्व स्वर भी सानुनासिक होते हैं। यह रूप वहाँ पाया जाता है, जहाँ परवर्ती ध्वनि ऊष्म या 'ह' है। अँश [अश], सिँह [सिह], किँशुक [किंशुक], पुँसक [पु सक] में क्रमशः सानुनासिक अ, इ, उ ध्वनियाँ है। पाणिनिने भी ह्रस्व तथा दीर्घ 'अ' 'इ' 'उ' के वाक्यके अन्तमे होनेपर अनुनासिकीकरण माना है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका विकास—प्रा० भा० यू० व्यञ्जन ध्वनियोंका पूर्ण विकास सस्कृतमे पाया जाता है। व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे सस्कृत किस प्रकार भारत-ईरानी शाखाका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है, यह हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमे बता चुके हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमे

चता आये है प्रा० भा० यू० मे तीन प्रकारकी कण्ठ्य ध्वनियाँ थीं। सस्कृतकी कवर्ग ध्वनियाँ प्रायः प्रा० भा० यू० शुद्धय कण्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई है।

क :—प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व' पश्च-स्वर अथवा व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होनेपर सस्कृतमे क ही बने रहे है। वैसे अग्र स्वरसे पूर्व होनेपर वे च के रूपमे विकसित हुए है।

स० कविः ग्रीक क्रेअ [व] स् [kre [w] as] ∠ *क्रेव्अस् [krewəs]

,, क्रूरः लैतिन क्रुओर [Cruor] [रक्त], रूसी क्रोव्य [Krovy]

∠ *क्रुवोस् [Kruwos]

,, कः ,, क्वोस् [quos], ग्रीक पो [qo–] ∠ *क्वोस् [Kʷos]

ख :—सस्कृत ख ध्वनि प्रा० भा० यू० *ख, *ख्व से विकसित मानी जा सकती है, किन्तु हमारे मतमे सस्कृत *ख शुद्ध कण्ठ्य *ख का ही विकसित रूप है। स्टर्टवन्टके मतानुमार प्रा० भा० यू० *ख शुद्ध कण्ठ्य *क तथा भा० हित्ताइत अघोष कण्ठनालिक ध्वनि, ', x का पल्लवित रूप माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० *ख अवेस्तामे कभी ह तथा कभी ख्र पाया जाता है। इसे प्रा० भा० यू० *स्ख का भी विकसित रूप माना जा सकता है।

स० खादति ∠ *स्खादोति [skhădoti]

सं० नख, ग्रीक ओनुख् [onukh]

मख," मखोमाइ [makhomai] [युद्ध] ∠ *मखोस् [makhos]

ग :—सस्कृत ग प्रा० भा० यू० *ग तथा *ग्व से निकला है, ठीक उसी तरह जैसे संस्कृत क प्रा० भा० यू० *क तथा *क्व से।

स० उग्र ∠ *उग्र [Ugra]

संस्कृत गच्छति, ग्रीक बस्को [baskō] [मैं जाता हूँ ∠ *ग्व्म्स्ख्यति [g^w m̥skhati]

„ पृच्छति, प्रा० हाईजर्मन फ्रोस्कोंन [forskon] ∠ *पृस्ख्यति [pr̥skhati]

च :—संस्कृत च ध्वनि उन प्रा० भा० यू० *क तथा *क्व से विकसित हुई है, जिनके परे कोई अग्रस्वर था। संस्कृतमें ही कई धातुओं तथा शब्दोंमे 'क' तथा 'च' का विपर्यय देखा जाता है, जैसे स० √ शुच् [शुक्] धातुसे शुक तथा शुचि दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं।

संस्कृत चकार ∠ *केकोर [kekōre]।

„ चचक्ष ∠ *केकोक्से [kekokse]।

„ चित्, ग्रीक तिस् [tis] ∠ *क्वि [k^w i]।

ज :—संस्कृत ज प्रा० भा० यू० *ग तथा *ग्व से विकसित है, जो अग्रस्वरसे पूर्व थे। संस्कृतमें ग तथा ज का विपर्यय देखा जा सकता है, स्रक् [स्रग्], स्रजौ, स्रज।

स० ओजस्, लै० ओगस् [ogas] ∠ *अउगस् [augas]।

„ जीव, प्रा० स्लाव्योनिक ज़्हीव्प [zhivpa] ∠ *ग्वीवो [ग्वीवास्] [*g^w iwos]।

„ जगाम ∠ *ग्वेग्वोमे [g^w eg^w ome]।

झ :—'झ' को संस्कृतमे 'ज' का महाप्राण माना जाता है, पर भाषाशास्त्रीय तथ्य भिन्न है। अग्रस्वरके पूर्ववर्ती प्रा० भा० यू० 'घ' 'घ्य' संस्कृतमें आकर 'ह' के रूपमें विकसित हुए है। पश्च स्वर या अन्य ध्वनियोंके पूर्व वे 'घ' ही बने रहे हैं। अत जिस प्रकार घ, ग का महाप्राण है, उसी प्रकार भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ह, ज की महाप्राण ध्वनि है। संस्कृतकी

'झ' ध्वनि शुद्ध भारोपीय शब्दोंमे नहीं पाई जाती। अधिकतर इस ध्वनिवाले शब्द या तो बाहरसे संस्कृतमें आये हैं, या अनुकरणात्मक शब्द हैं, यथा झटिति, झणझणायित, झांकृतैर्निर्झराणाम् मे।

ह :—संस्कृतमे दो प्रकारकी 'ह' ध्वनि पाई जाती है, एक सघोष दूसरी अघोष। भारतीय विद्वानोंको इस बातका पूरा पता था, यद्यपि अघोष 'ह' के लिए कोई विशेष लिपि संकेत न होकर, केवल विसर्ग पाई जाती है। पाणिनिने या उनके पूर्ववर्ती किसी वैयाकरणने वर्णसमाम्नायमें[1] दो बार 'ह' का प्रयोग किया है—हयवरट्, हल्। इनमें प्रथम सूत्रका 'ह' सघोष है, द्वितीय वाला 'अघोष'। यहाँ हमे सघोष 'ह' के विकास पर ही संकेत करना है कि वह प्रा० भा० यू० *घ, *ध्य, *ध्वसे विकसित हुआ है।

स० द्रुह्यति ∠*√ध्रेव्‌घ [√ध्राव्‌घ] [*ध्रव्‌घ्यृति
*dhrewghyti]

„ हन्ति ∠*√ध्वन् [ध्नेन् [ध्नेन्, ध्नोन्] *ध्वनृति [gh"nti]

[ग्रीक, थेइनो [theino] [मैं मारता हूँ]

„ वहति, अवे० वज्इति [wazaiti], लै० उएहित [uehit]

∠*वृएवृएति [*wegheti]

प्रा० भा० यू० मे प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ [मूर्धन्य ध्वनियाँ] थी ही नहीं, किन्तु संस्कृत मे 'ट, ठ, ड, ढ, ण' ये प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] स्पर्श ध्वनियाँ पाई जाती है। ये ध्वनियाँ कहाँ से आई? अधिकतर ऐसी धारणा चल पड़ी है कि ये ध्वनियाँ द्रविड भाषाओंकी ध्वनिसम्पत्तिका प्रभाव है; किन्तु वे

---

१ विद्वानोंका इस विषयमें ऐकमत्य नहीं है कि वर्णसमाम्नायकी रचना पाणिनिने की थी, या उनसे पूर्ववर्ती वैयाकरण [शिव या माहेश्वर ?] ने।

ध्वनियाँ कौन सी थीं, जो इस रूपमें विकसित हुईं ? अध्ययन करनेपर पता चलता है कि संस्कृतकी इन प्रतिवेष्टित ध्वनियोंमें कई प्रकारकी ध्वनियाँ घुलमिल गई हैं। संस्कृतकी अधिकाश 'टवर्गीय' ध्वनियाँ सस्कृत में प्राकृतका [उलटा] प्रभाव है। सस्कृत में, ऋग्वेदमें ही, रेफके प्रभाव से परवर्ती दन्त्य का नतिभाव पाया जाता है, यथा 'विकट', 'उत्कट' का 'कट' वस्तुत' 'कृत' से विकसित हुआ है, इनका मूल रूप विकृत, उत्कृत हैं। कभी कभी तो यह रेफ सस्कृतमें ही स्पष्ट रूपसे वर्तमान होता है, किन्तु कभी कभी यह ऐतिहासिक विकासमें लुप्त हो गया होता है, यथा स० कटु, लिथुआनियन कर्तुस् [kartus]। यहाँ हम लिथुआनियनके आधारपर यह कह सकते हैं कि सस्कृतका वास्तविक रूप *कर्तु था, तथा यद्यपि ऐतिहासिक विकासमे रेफ लुप्त हो गया, तथापि 'त' का नतिभाव 'ट' उसीके कारण है। यह रेफ [र्] अन्य भारत यूरोपीय भाषाओंमें ल रूपमें भी हो सकता है। उदाहरणके लिए सस्कृत जठर का सबध गॉथिक किल्पेइ [kılpeı] से है। इसी आधारपर रूसी विद्वान् फोर्तुनातोफ [Fortunatov] ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि प्रायः सस्कृत प्रतिवेष्टित प्रा० भा० यू० ल + दन्त्य से विकसित है। किन्तु यह सिद्धान्त इसलिए आदृत न हो सका कि इसके कई अपवाद देखनेमें आते हैं। सस्कृत जठर की मूर्धन्य ध्वनि रेफके ही कारण हो सकती है, जो सस्कृत शब्द जर्तु, जरती आदिमें स्पष्ट रूपसे विद्यमान है। सस्कृत प्रतिवेष्टित सदा ही प्रा० भा० यू० *र या *ल से प्रभावित 'दन्त्य' ध्वनिसे विकसित हुए हैं' यही बात नहीं है। सस्कृत श ध्वनिका भी प्रतिवेष्टित विकास पाया जाता है, जो प्रा० भा० यू० *क्य से विकसित है, यथा सस्कृत शब्द पशु तथा विश् के तृतीयाचतुर्थी ब० व० मे पड्भि', विड्भ्य' रूप पाये जाते हैं। किन्तु यह कहना भी सत्य न होगा कि समस्त 'शान्त' शब्दों में 'भ' के पूर्व प्रतिवेष्टितत्व पाया ही जाता है, इसके विरुद्ध प्रमाण दृग्भि', दिग्भ्य. हैं, जो दृश् तथा दिश् के रूप है। यहाँ इस समस्याको सुलझाना सरल नहीं

है कि क्या नतिभाव ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे ठीक है, तथा 'ग्' वाले रूप ध्वनि-नियमके अपवाद हैं, अथवा यह बात विपरीत रूपमें है। तथापि, वाकेर-नागेलके मतानुसार इन स्थानोंपर नतिभाव [मूर्धन्यता] को ही नियतरूपी मानना होगा, क्योंकि ऐसा न माननेपर कण्ठ्य ध्वनिके साथ पाई जाने वाली नतिको, जैसे दिक्षु = दिक् + षु; दृक्षु = दृक् + षु मे—स्पष्ट करने मे अशक्तता होगी।[1] इसी प्रकार अन्य प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियों 'स्य', 'ग्य' 'घ्य' ने भी अपनी अपनी प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको विकसित किया है। जैसा कि हम अनुपदमे देखेंगे ये तालव्य ध्वनियाँ संस्कृत प्रति-वेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियोंके विकासमे महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।[2]

ट :—संस्कृतकी ट ध्वनि एक ओर प्रा० भा० यू० *त का विकसित रूप है, जो कभी रेफसे युक्त था, तो दूसरी ओर कभी प्रा० भा० यू० *क्य [सं० श] तथा कभी *ग्य, *घ्य [सं० ज, ह] से युक्त था। उदाहरण के लिए सं० कटु ∠ *कर्तुस् [kartus]; सं० वष्टि [वश्—ति], मृष्ट [मृज्—त], राष्ट्र [राज्—त्र] को ले सकते हैं। संस्कृतके सामान्य भूते लुङ्के अयाट् [∠ —याज्—त], अवाट् [∠ —वाह्—त] मे, जो √यज् तथा √वह् धातुके रूप हैं, प्रा० भा० यू० *ग्य, *घ्य है, जो संस्कृतमे क्रमशः ज तथा ह हो गया है। सत वर्गकी अन्य भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनमे इस बातकी पुष्टि होती है कि ये ध्वनियाँ धातुमे मूलतः स्पर्श व्यञ्जन न होकर सघोष ऊष्म थीं, यथा अवेस्ता यज़इति [yazaiti] [सं० यजति], प्रा० चर्च स्लावोनिक वेज़् [vez] [सं० √वह्]।

ठ :—संस्कृत ठ इसी प्रकार रेफ, श, ज तथा ह के योग से *थ का विकसित रूप है। यथा, जठर, गॉथिक किल्थेइ [kilpei] के आधारपर

---

1. Wackernagel Altindische Grammatik. [Lautlehre] Vol I pp 173-5 § 149

2 Bloch L'Indo-Aryen p 53.

ध :—संस्कृत ध ध्वनि प्रा० भा० यू० *ध का अपरिवर्तित रूप है, जैसे, सं० दधार, ग्रीक तेथेतइ [tethetai] ∠ *धेधोरे [dhedhoie]

प्रा० भा० यू० ध भी प्रा० भा० यू० घ, ध्व की भाँति अग्रस्वरसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें आकर ह हो जाता है। इसके उदाहरणके रूपमें हम संस्कृत हित को ले सकते हैं, जो √धा धातु से क्त [धा+क्त] प्रत्यय जोड़कर बना है। यहाँ ध का ह हो गया है। पाणिनिने स्वयं भी इस भाषाशास्त्रीय तथ्यको 'दधातेर्हिः' इस सूत्रके द्वारा स्वीकार किया है। ग्रीकमें यह प्रा० भा० यू० *ध, 'थ' [th] हो जाता है।

प :—संस्कृत प ध्वनि प्रा० भा० यू० *प का अपरिवर्तित रूप है, यथा, पिता ∠ *पअतेर [pəter], सं० पत्नी, ग्रीक पोत्निआ, ∠ * पोत्नी

फ :—संस्कृत फ प्रा० भा० यू० *फ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत फल, ग्रीक फुल्लान [phullon] [पत्र] ∠ *फल्लो— [*phallo—]

ब :—संस्कृत ब प्रा० भा० यू० *ब का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत बर्हि, अवेस्ता बर्अजिश् [barəzis̆] ∠ *बरघिस् [barghis]

भ :—संस्कृत भ प्रा० भा० यू० *भ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत भरति, अवेस्ता बरइति [baraiti], ग्रीक फेरेसि [bheresi] ∠ *भेरेति [bhe̮re̮ti]

प्रा० भा० यू० *भ वैदिक संस्कृतमें ह के रूपमें भी विकसित दिखाई देता है। √ग्रभ्—√ग्रह् जैसे वैकल्पिक रूप वेदमें पाये जाते हैं, पर यह विशेषता विभाषागत मानी जा सकती है।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे संस्कृतमें ण, न, म ये तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ मानी जा सकती हैं। ङ तथा ञ स्वतन्त्र ध्वनियाँ न होकर न के ही

ध्वन्यग है। न ध्वनि कवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ङ तथा चवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ञ हो जाती है। उदाहरणके लिए हम षङ्-कामयते, शञ्च मे, को ले सकते हैं। कभी कभी क—ग ध्वनियाँ उनसे परे न या म ध्वनि होनेपर ङ का रूप धारण कर लेती हैं, यथा वाङ्-मय, दिङ्-नाग मे। किन्तु यहाँ ङ को स्वतन्त्र ध्वनि न मानकर क-ग ध्वनियोका ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप मानना ठीक है। कुछ विद्वान् ण को स्वतन्त्र ध्वनि माननेके पक्षमे नहीं हैं। ज्यूल ब्लॉख इसे स्वतन्त्र ध्वनि माननेपर जोर देते हुए लिखते हैं :—किन्तु [ङ, ञ, ण मेसे] अकेला मूर्धन्य [ण] ही स्वतन्त्र ध्वनि है तथा स्वरमध्यगत रूपमे प्रकट होता है। यह या तो उस स्वरके बाद होता है, जो प्रागैतिहासिक रूपमे ऋ था, या वह स्वयं र या ष का परवर्ती है। यह एक स्वतन्त्र ध्वनि है, किन्तु इसकी स्थिति सीमित है। यह ध्वनि पदादिमे नहीं पाई जाती। नव्य भारतीय भाषाओमे इसका अत्यधिक विस्तार पाया जाता है।[१]

ङ, ञ—ये दोनो अनुनासिक 'न' के ही ध्वन्यग हैं। कभी कभी ऐसे स्थानोपर भी जहाँ 'कवर्गीय' ध्वनिका ऐतिहासिक कारणोसे विकल्पसे लोप हो गया होता है, 'ङ' ध्वन्यंग पाया जाता है, यथा युङ्ते, युङ्धि वस्तुत. युङ्क्ते, युङ्ग्धि के ही रूप हैं।

ण :—यह वह न ध्वनि है, जो ऋ, र, ष के प्रभावसे ण हो गई है, अथवा परवर्ती टवर्गीय ध्वनिके कारण ण हो गई है। उदाहरणके लिए इन शब्दोंको ले लें—वर्ण, नृणाम्, कृपण, शोभण, निवण्ड, मण्डयति।

न :—संस्कृत न प्रा० भा० यू० *न का अपरिवर्तित रूप है, यथा संस्कृत मनस्, ग्रीक मेनोस् [menos] ∠ *मेनोस् [menos]

म :—संस्कृत म प्रा० भा० यू० *म का अपरिवर्तित रूप है, यथा

१ Bloch L'Indo Aryen P. 71.

संस्कृत मातृ [मातर्], ग्रीक मातेर् [mātei], लैतिन मातेर् [mātei]
∠ *मातेर् [*māter]

,, नामन्, लैतिन नोमेन् [mōmen] ∠ *नोमेन् [nōmen]

अन्तस्थ ध्वनियोंको लेनेके पूर्व सुविधाकी दृष्टिसे हम सोष्म ध्वनियोंको पहले ले लेते हैं। ये ध्वनियाँ तीन हैं :—श, ष, स। श का अध्ययन हम कर चुके है, अतः यहाँ ष तथा स को ही लेंगे। इनके साथ 'ह' के उस रूपको भी लेंगे, जो अघोष 'ह़' है।

ष :—संस्कृत 'ष' प्रा० भा० यू० *स अथवा भारतईरानी श का ही विकसित रूप है। जहाँ ये ध्वनियाँ ऋ, र, तथा टवर्ग के योगमें साथ ही इ, उ, ए, ओ तथा कण्ठ्य ध्वनिकी परवर्ती होती है, ष हो जाती हैं। वैसे ढ के विकासमें हम बता चुके हैं कि ष वस्तुत स [अघोष ऊष्म ध्वनि] का ही प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] रूप है, जो अ, आ से भिन्न स्वरसे परवर्ती होनेपर ष हो जाता है।

स :—संस्कृत स प्रा० भा० यू० *स का अपरिवर्तित रूप है, यथा—

संस्कृत अस्ति, ग्रीक एस्ति [esti], लैतिन एस्त [est] ∠ *एस्ति [esti]

ह़ :—यहाँ हम ह के अघोष रूपको लेंगे। अघोष ह़ का उच्चारण संस्कृतमें सदा पदान्तमें पाया जाता है। इसे संस्कृतमें विसर्ग कहते हैं। रामः, हरिः मे यही अघोष ह़ है। संस्कृतमें विसर्गके उच्चारणकी एक विशेषता है कि वह पूर्ववर्ती स्वर ध्वनिसे युक्त होकर उच्चरित होता है। रामः, हरिः का वास्तविक उच्चारण [रामह, हरिहि] होता है। यह अघोष ह़ प्रा० भा० यू० पदान्त *स् या *र् से विकसित हुआ है।

संस्कृत अन्तःस्थोंका विकास :—प्रा० भा० यू० भाषाकालसे ही इस परिवारकी भाषाओंमें अन्तःस्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में य, व, र, ल के अतिरिक्त न, म भी अन्तःस्थ थे। अन्तःस्थोंने भारतयूरोपीय भाषाओंकी उस विशेषतामें प्रमुख कार्य किया है, जो अपश्रुति कहलाती है। वैसे वैज्ञानिक दृष्टिसे अन्तःस्थोंका विचार हमें स्वरध्वनियोंके साथ ही करना चाहिए था, किन्तु सुविधाकी दृष्टिसे हमने ऐसा नहीं किया है। हम देखते हैं कि संस्कृत य, व, र, ल प्रा० भा० यू० *य, *व, *र, *ल से विकसित हुए हैं, किन्तु फिर भी प्रत्येक प्रा० भा० यू० *र तथा प्रत्येक प्रा० भा० यू० *ल संस्कृतमें क्रमशः र तथा ल के रूपमें विकसित हुए हैं, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा। प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके विकासकी भाँति वैदिक संस्कृतकी दूसरी विशेषता प्रा० भा० यू० *र, *ल का विकास है। ऋग्वेदमें र, ल ध्वनियोंका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि ऋग्वेद कालमें ही कई विभाषाओंमें इनका विकास परस्पर एक दूसरेके लिए पाया जाता है। प्रत्येक प्रा० भा० यू० *ल अवेस्तामें र हो गया है, और ऋग्वेदमें भी यह प्रायः र ही पाया जाता है, वहाँ ल बहुत कम पाया जाता है। यह मानना गलत न होगा कि भारत-ईरानी शाखामें आकर प्रा० भा० यू० *ल, र हो गया है। जहाँ ग्रीक आदिमें ल पाया जाता है, वहाँ यदि इस शाखा में र है, तो वह इसी वैभाषिक विशेषताके कारण। उदाहरणके लिए संस्कृत √रक्ष्, ग्रीक एलेक्सो [alekso], सं० रिच्, लैटिन लिंक्वो [linquo] सं० गर्भ, ग्रीक डेल्फोस् [delphos] को ले सकते हैं। किन्तु भारत-ईरानी शाखामें ऐसी भी विभाषा रही होगी, जिसमें प्रा० भा० यू० *ल अपरिवर्तित रहा होगा, यथा सं० लोक, लै० लुकुस [lucus], सं० श्लोक, ग्रीक क्लुओ [kluo]। वैसे संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जिनमें प्रा० भा० यू० *र, ल हो गया है,

यथा सं० क्रोश लिथुआ० क्रौक्ति [krouktı], सं० लुम्प्, लैटिन रुम्पो [rumpo]। इन कारणोंसे यह स्पष्ट है कि संस्कृत का र, ल का विकास खिचड़ी-सा रहा है। ये ध्वनियाँ केवल मूल शब्दों [धातु तथा प्रातिपदिकों] में ही परिवर्तित न होकर प्रत्ययों तकमें परिवर्तित हो जाती है, यथा, सं० शुक्-ल, [शुक्ल] शुक्-र [शुक्र], सं० भल्ल ∠ *भद्-ल, भद्-र [भद्र]। इसीलिए प्रत्याहार सूत्रोंमें पाणिनिने बताया है कि उनके व्याकरण में र से र का ही नहीं ल का भी ग्रहण होता है। बादके संस्कृत विद्वानोंने भी 'र, ल' में अभेद माना है, यमक तथा श्लेष अलंकारमें इनका अभेद वाला प्रयोग बहुत पाया जाता है [रलयोरभेदः]। संस्कृत य, व प्रा० भा० यू० *य, *व से विकसित हुए हैं, यथा,

सं० युगम्, ग्रीक ज़ुगोन् [zugon], लै० जुगुम् [zugum],
गॉथिक जुक् [zuk], प्रा० अंग्रेज़ी ज्योक [zyok],
आ० अंग्रेजी योक [yoke] जर्मन ज़ोख [zoch],
रूसी इगो [igc] ∠ *युगोम् [yugom]

सं० अश्व, ग्रीक हेप्पोस् [heppos], लिथु० अश्व [ašva]
∠ *एक्वोस् [ekʷos]

सं० अविः ग्रीक ओउइस् [ouis], लैटिन ओविस् [ovis],
प्रा० आयरिश ओइ [oi] गॉथिक अवि स्त्र [awi-sti]
प्रा० अं० [eowe, eown [अं० ewe] लिथु० अविस् [avis],
प्रा० स्लावोनिक, ओव्यत्सा [ovy-tsa], रूसी ओव्त्सा
[ovtsa] ∠ *ओवि [owi]

जैसा कि हम बता चुके हैं इन्हीं चार अन्तःस्थ ध्वनियोंके स्वररूप इ, उ, ऋ, ऌ, हैं। संस्कृतके सन्धि तथा सम्प्रसारणके नियमोंसे यह स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे इनमें विशेष भेद नहीं है—दधि + अत्र [दध्यत्र],

मधु + अरिः [मध्वरिः], इयेष, उवाच आदि उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है। इन छः अन्तःस्थों [यदि न्, न्, को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो, जो प्रा० भा० यू० में अन्तःस्थ थे, किन्तु संस्कृतमें नहीं] में से य, व का विकास संस्कृतमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। य तो कभी-कभी दो स्वरोंमें सन्धि न होने देनेके लिए भी प्रयुक्त होता है, यथा रमया, धिया में। यहाँ रमा तथा धी प्रातिपदिक हैं, जिनमें तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्ति आ [टा] जोड़ी गई है। ध्यान देनेपर पता चलेगा कि रमा + आ, धी + आ से क्रमशः *रमा, *ध्या रूप बननेकी सम्भावना है, साथ ही एक गड़बड़ी यह भी होती है कि प्रातिपदिकका अक्षर-भार तथा विभक्ति रूपका अक्षर-भार [syllabic weight] एक सा बना रहता है। अतः एक ओर इस सन्धिको रोकनेके लिए, दूसरी ओर द्व्यक्षर प्रातिपदिक [रमा] को त्र्यक्षर विभक्तिरूप तथा एकाक्षर प्रातिपदिक [धी] को द्व्यक्षर विभक्ति रूप बनानेके लिए 'य' का प्रयोग किया गया है। पर यह ध्यान देना होगा संस्कृतमें यह 'य' श्रुति [glide] न होकर शुद्ध ध्वन्यात्मक तत्त्व [phonological element] है।

इसी सम्बन्धमें दो शब्द संस्कृतमें पाई जानेवाली अपश्रुतिके विषयमें कह दिये जायँ। 'अपश्रुति' से हमारा तात्पर्य स्वर ध्वनियों तथा स्वर ध्वनियुग्मोंके उन परिवर्तनसे है, जो मूल भारोपीय भाषामें होता था। ये स्वर सम्बन्धी परिवर्तन, मुख्यतः पूरे शब्दके उदात्तादि स्वरकी प्रकृति तथा स्थानसे सम्बद्ध थे, तथा गुण सम्बन्धी एवं मात्रा सम्बन्धी हो सकते थे। संस्कृत भाषाके छात्रके लिए इनमेंसे मात्रिक अपश्रुति विशेष महत्त्वशालिनी है, किन्तु यहाँ गौणी अपश्रुति पर भी कुछ कह देना आवश्यक होगा। गौणी अपश्रुतिमें प्रा० भा० यू० अ, ए, ओ के ह्रस्व तथा दीर्घ रूप परस्पर परिवर्तित होते थे। अर्थात् इस प्रकारकी अपश्रुतिमें एक स्वर-ध्वनि सर्वथा भिन्न ध्वनि बन जाती थी। प्रा० भा० यू० में तथा ग्रीक आदि भाषाओंमें जहाँ प्रा० भा० यू० स्वर शुद्ध रूपमें वर्तमान हैं, ए, व ओ के ह्रस्व तथा

यजुर्वेदके उच्चारणमें [ऋग्वेदमें भी] यद्भूत यच्च भाव्यम् का उच्चारण "जद्भूतं जच्च भावियम्म" होता है। इसी प्रकार सूर्य्य आत्मा जगत-स्तस्थुषश्च का उच्चारण सूर्ज्ज आत्मा जगतम्तस्थुखश्च होता है। इसी प्रकार पदादि 'व' का उच्चारण भी वहाँ एक विशेषता रखता है। माध्य-न्दिनी शिक्षाकारके मतानुसार इसका उच्चारण 'गुरु' होता है।

गुरुर्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत् ॥ [वही २–६] माध्यन्दिनी शिक्षाकारका तात्पर्य 'गुरु' शब्दसे यहाँ व के दन्त्योष्ठ्य रूप [व्व, β] से है। सस्कृत वैयाकरणोंने व को दन्तोष्ठ्य मानता है—[वकारस्य दन्तोष्ठ्यम्]। व का दो तरहका उच्चारण यजुर्वेदमें पाया जाता है, पदादिमें व्व [β], पदमध्यमे व [ʋ][1]। शुक्ल यजुर्वेदी आज भी पदादि व का उच्चारण दन्तोष्ठ्य [dento-labial] करते हैं, यथा ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुष. का याजुष उच्चारण ततो व्विराढजायत व्विराजो अधिपूरुख होता है। किन्तु पदमध्यमें य, व का उच्चारण ज, व नहीं होता, यथा तस्माज्जाता अजावय के उच्चारणमें, जो इसी तरह उच्चरित होता है।

'ष' का उच्चारण 'ट' वर्गीय ध्वनिसे अयुक्त होनेपर ख होता है। माध्यन्दिनीशिक्षा तथा केशवीशिक्षामें इस विशेषताका उल्लेख मिलता है।

पकारस्य खकार स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत् ॥

[माध्य० शि० २–१]

षः खष्टुमृते च ॥ [केशवीशिक्षा ३]

उदाहरणके लिए सहस्रशीर्षा पुरुष का उच्चारण सहस्रशीर्खा पुरुख' किया जाता है। किन्तु "व्यतिष्ठद्दशागुलम्" मे टुकयोग है इसलिए यहाँ ष का उच्चारण ख नहीं होता। यजुर्वेदकी चौथी उच्चारण विशेषता, जिसे ऋग्वेदने भी अपना लिया है, अनुस्वारके उस उच्चारणमे सम्बद्ध है, जब उसकी परवर्ती ध्वनि सोष्म [श, ष, स] या प्राणध्वनि [ह] हो। ऐसी

१ देखिये, वही निबंध।

…ध्वनिमें अनुस्वारका उच्चारण 'गुम्' होता है। यथा अंशुना का उच्चारण अग्गुंशुना होता है, तथा पुरुष एवेदं सर्वं का उच्चारण पुरुख एवेदगुं सर्वं होता है। ये विशेषताएँ वैदिक कालकी ही कुछ विभाषागत विशेषताएँ रही होंगी। इनमें पदादि य का ज होना, तथा ष का ख होना तो प्राकृतमें भी पाया जाता है। कई संस्कृतके पण्डित आज भी लौकिक संस्कृतके पदादि य का ज तथा ष का ख उच्चारण करते देखे जाते हैं। पदादि संस्कृत य का उच्चारण कई मैथिल तथा बंगाली पण्डित ज करते हैं।

संस्कृत ध्वनियोंकी सन्ध्यात्मक विशेषता [Prosodic features] —

ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियोंकी उस विशेषताका भी बड़ा महत्त्व है, जिसे हम पारिभाषिक पदका प्रयोग करते हुए "सन्ध्यात्मकता" [prosody] कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत हम उस विशेषताको लेते हैं, जो व्याकरण ग्रन्थोंमें अच्सन्धि, हल्सन्धि तथा विसर्गसन्धिके नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार स्वर ध्वनियाँ तथा व्यञ्जन ध्वनियाँ परस्पर मिलकर पद, वाक्यांश तथा वाक्यमें एक नये रूपमें परिवर्तित हो जाती हैं, इसका विस्तारसे विवेचन संस्कृत व्याकरणके सन्धि प्रकरणके अन्तर्गत देखा जा सकता है। यहाँ पर हम कुछ महत्त्वपूर्ण विषयोंपर संकेत मात्र करेंगे, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ व्याकरणकी दृष्टिमें रखकर नहीं लिखा गया है।

[१] पाणिनिका 'इको यणचि' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि
उ, ऋ, लृ तथा य्, व्, र्, ल् में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, तथा पर…
ध्वनिके स्वर होनेपर इनका स्वरूप पुनः व्यञ्जनत्वको प्राप्त कर लेत…
दध्यानय, मध्वरिः, धात्रंशः, लाकृतिः।

[२] पाणिनिका 'एचो ऽयवायावः' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है…
ए, ओ, ऐ, औ क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् ये ध्वनियुग्म…
तभी सन्धिमें ये पुनः वास्तविक रूपको प्राप्त कर लेते हैं हरये, …
नायकः, पावकः।

[३] भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे अ तथा आ, इ तथा ई, उ तथा ऊ में कोई ध्वन्यात्मक भेद नहीं। इसी बातका संकेत 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र करता है। इनमे जो भेद है, वह ध्वन्यात्मक [phonematic] न होकर सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा मात्रात्मक [qualitative] है।

[४] संस्कृत 'श' का 'छ' से घनिष्ठ संबंध है, यह संकेत पाणिनिके सूत्र 'शश्छोटि' से मिलता है।

[५] स्वर ध्वनिकी पूर्ववर्ती अघोष स्पर्श ध्वनि भी संधिमें सघोष हो जाती है। ध्यान रखिये सघोष ध्वनिके सम्पर्कमे आकर अघोष भी सघोष हो जाती है। इसी तरह अघोष स्पर्श ध्वनिसे परे सघोष स्पर्श ध्वनि होनेपर भी अघोष सवर्गीय सघोष ध्वनि बन जाती है। दिक्+इन्द्र [दिगिन्द्र], दिक्+गजः [दिग्गज], दिग्डिण्डिम।

[६] इसी तरह अघोष या सघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनिसे परे अनुनासिक स्पर्श ध्वनि होनेपर वह ध्वनि सवर्ग अनुनासिक हो जाती है। दिक्+नागः [दिङ्नाग], षट्+नगर्यः [षण्णगर्यः]।

[७] रेफ, ष या मूर्धन्य ध्वनियोंके सम्पर्कमें आकर दन्त्य ध्वनियाँ भी प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] हो जाती है।

[८] हम देख चुके है, संस्कृत ह का विकास मूलतः *घ तथा *ध से हुआ है। अतः संधिमें इसका यह मूल रूप पुनः आ जाता है। यदि ह से पूर्व कण्ठ्य ध्वनि होती है तो यह घ हो जाता है, यदि ह से पूर्व दन्त्य ध्वनि होती है तो यह ध हो जाता है। वाक्+हरिः [वाग्घरि], तत्+हरिः [तद्धरि], साथ ही यदि पूर्ववर्ती ध्वनि अघोष है, तो ह के सघोषत्वके कारण वह भी सघोष हो जाती है।

[९] अजन्त पुल्लिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंके "आन्" वाले पदोंके बाद चवर्ग या तवर्ग ध्वनियोंके आनेपर क्रमशः 'ष्' या 'श्' का आगम हो जाता है, तथा अनुनासिक स्पर्श ध्वनि 'न्' पूर्ववर्ती स्वरको सानुनासिक बनाकर स्वयं लुप्त हो जाती है। तान्+तान्=ताँस्तान्,

अहीन् + च [सर्वान्] = अहीँश्च [सर्वान्]। इससे इस कल्पनाकी पुष्टि होती है कि प्रा० भा० यू० द्वितीया विभक्ति चिह्न *ओन्स् [ons] था।

[१०] यद्यपि विसर्गका उच्चारण अघोष 'ह' होता है, तथापि इसका संबंध 'ह' से न होकर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे स से है। यह स् रेफ [र्] से भी घनिष्ठ संबंध रखता है। संभवतः इसीलिए पाणिनिने विसर्गको 'रु' संज्ञा दी है। यह विसर्ग परवर्ती स्पर्श ध्वनिके अनुसार उसका सस्थानीय रूप धारण कर लेता है। कण्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व यह जिह्वामूलीय हो जाता है, ओष्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व उपध्मानीय हो जाता है [जिन्हें हम क्रमशः वज्राकार विसर्ग [X] और गजकुम्भाकृति विसर्ग [⌣] [भी कहते हैं]; दन्त्य ध्वनियोंके पूर्व यह विसर्ग स् रूपमें, तालव्य ध्वनियोंके पूर्व श् रूपमें, तथा प्रतिवेष्ठित ध्वनियोंके पूर्व ष् रूपमें पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें हम ततXकिम्, पुन⌣पुनः, ततस्ते, ततश्चक्रे, धनुष्टंकार- को ले सकते हैं।

[११] अ, आ, ई, ऊ से भिन्न स्वर ध्वनिसे परे होनेपर तथा बादमें किसी स्वर, सघोष स्पर्श या 'य' के होनेपर विसर्ग 'र' हो जाता है। यह विशेषता "हरिर्ययौ" इस उदाहरणमें देखी जा सकती है। भा० यू० परिवारकी अन्य भाषाओंमें 'स्' के र् के रूपमें परिवर्तन होनेकी स्थिति लैतिनमें देखी जाती है। लैतिनमें स्वरमध्यगत [intervocalic] स्, र् हो जाता है। उदाहरणके लिए लैतिनके फ्लोस् [flos] शब्दका षष्ठी बहुवचन रूप फ्लोरिस [floris < *flosis] बनता है। यह ध्वनिशास्त्रीय तथ्य इस बातका संकेत करता है 'स्' तथा 'र्' का परस्पर कोई संबंध माना जा सकता है। ग्रीकमें भी कई विभाषाओंमें यह स् ध्वनि स्वरमध्यगत होनेपर र् हो गई थी।[१] वस्तुतः स्वरमध्यगत स् पहले सघोष ज़ बना होगा, तदनन्तर यह र् बना होगा। इसका विकास यों रहा होगा।

---

१ Atkinson Greek Language p 45

Also see Buck Comparative Greek and Latin Grammar pp 132–33.

VSV⟶VZV⟶VRV

[यहाँ V स्वरका, S अघोष दन्त्य सोष्मध्वनिका, Z सघोष दन्त्य सोष्म ध्वनिका, R रेफका चिह्न है।] अघोष दन्त्य सोष्म ध्वनि स्वर या अन्य सघोष ध्वनिके प्रभावके कारण सघोष बन जाती है, तथा रेफ उसी सघोषत्वका प्रतीक है। इस तरह ऊपर दिये गये उदाहरणकी मध्यात्मक सरणि यों मान सकते हैं।

हरिस् यथैक [हरि यथैकः]⟶हरिज़् यथैक⟶हरिर् यथैकः [हरिर्यथैकः] इस प्रकार हमें यहाँ *हरिज़् जैसे रूपकी कल्पना करनी पड़ती है।

इसीके दूसरे उदाहरण हम ये दे सकते हैं:—गौः + गच्छति—गौर्गच्छति, तैः + भृतम् = तैर्भृतम्, मुनेः + मनः = मुनेर्मनः, शत्रुः + हरति = शत्रुर्हरति, गौः + आगच्छति = गौरागच्छति आदि।

[१२] विसर्गका एक तीसरे प्रकारका विकास और पाया जाता है। विसर्गके पूर्व दीर्घ स्वर ध्वनि आ, ई, ऊ के होनेपर तथा परे सघोष ध्वनि होनेपर उसका लोप हो जाता है। विसर्गके पूर्व ह्रस्व स्वर ध्वनि तथा परे रेफ होनेपर ह्रस्व स्वर ध्वनि दीर्घ बन जाती है तथा विसर्गका लोप हो जाता है। [ढ्रलोपे पूर्वस्य च दीर्घोऽण], यथा हरी रम्यः [हरिः + रम्यः], शम्भू राजते [शम्भुः + राजते]। इनका ध्वनिशास्त्रीय कारण यह बताया जा सकता है कि यहाँ भी 'विसर्ग' [स्] पहले ज़् [z] बन कर फिर लुप्त हुआ संस्कृतमें ज़् [z] जैसी ध्वनिका अभाव है अतः विसर्ग [स्] के सघोष रूपका लोप हो जाता है। पर जहाँ इस लोपसे अक्षर भार [syllabic weight] में गड़बड़ होती है, वहाँ पहले ह्रस्व स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी कमी पूरी की जाती है। यदि विसर्गके पूर्वका अक्षर स्वत दीर्घ है तो अक्षर-भारकी गड़बड़ीका प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ लोप होनेसे कोई कमी नहीं होती, अतः न नवीन ध्वनिके सन्निवेशका ही प्रश्न उठता है, न उन स्वरध्वनियोंके दीर्घीकरणका ही। इसे हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

[१]—$\bar{V}$S+C[B]—=—$\bar{V}$C[B][1]—[इमा गताः, एता गच्छन्ति]

[२]—$\bar{V}$S+V=—$\bar{V}$ V—[इमा आगताः, इमा अत्र]

[३]—$\bar{V}$S+R [H]—=—$\bar{V}$ R [H]—[इमा राजन्ते, इमा हरन्ति]

[१३] विसर्ग सन्धिका एक तीसरा प्रकार वह होता है जहाँ विसर्ग [स्] से पूर्व तथा परे दोनों ओर अ ध्वनि हो। ऐसे स्थलोंपर दोनों स्वर तथा मध्यगत विसर्ग ओ का रूप धारण कर लेते हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह माना जा सकता है कि यहाँ भी स् [:] पहले सघोष 'ज़्' [z] होता है। फिर उसका लोप कर उसकी पूर्ति 'व्' [w] पूरकके द्वारा की जाती है। हम इसे यों बता सकते हैं :—रामः + अयम् = *राम [ज़्] + अयम् = राम [w] ऽयम् [राम [उ] ऽयम्] = रामोऽयम्। भाव यह है 'व्' श्रुतिका स्वरगत पूरक रूप [closure] अक्षर-भार [syllabic weight] को कायम रखनेमें सहायता करता है। साथ ही यह 'व्' *रामायम्' जैसे रूपको बननेमें भी रोकता है, जो अ + अ वाली संधिमें पाया जाता है।

[१४] संधि प्रकरणमें संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जो सन्धिगत रूप धारण नहीं करते। इन्हींको प्रगृह्य पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। अजन्त शब्दोंके द्विवचनरूपोंमें तथा क्रियाके द्वि० व० रूपोंमें ई, ऊ, ए, वाले रूप प्रगृह्य हैं। इसी तरह अमी, इ, अहो, आ भी प्रगृह्य हैं। इनके उदाहरण ये हैं :— इ इन्द्र, कवी इह, आ एवम्ः साधू आगच्छत', अमी अश्वा', विष्णू इमे, याचेते अर्थम्, अहो अपेहि। प्रगृह्य रूप जैसेके तैसे बने रहते हैं उनमें संहिता स्थितिमें कोई विकार नहीं होता।

---

१. $\bar{V}$ = दीर्घ स्वर [आ, ई, ऊ], S = विसर्ग, स्, C [B] = सघोष व्यंजन V = स्वर. R = रेफ; H = प्राणध्वनि, ह।

विसर्ग संधिके प्रकरणमें कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनके विसर्गका व्यंजनके परे रहनेपर सदा लोप पाया जाता है, जैसे भो:, एष:, स: के संधिगत रूपोंमें—भो नैषध, स ददर्श, एष गच्छति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संधिमें ध्वनिशास्त्र बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, किस प्रकार एक ध्वनि दूसरे प्रकारकी ध्वनिके साथ आकर अपना रूप बदल देती है। एक साथ दो विभिन्न प्रकृतिकी ध्वनियोंके उच्चारणमें वक्ताको असुविधा होती है। वह उनका उच्चारण विभिन्न रूपमें तभी कर सकता है, जब कि दोनों ध्वनियोंका उच्चारण एक साथ न कर क्षण भरके लिए बीचमें ठहर जाय। यदि वह एक साथ अविच्छिन्न प्रवाहमें इनका उच्चारण करेगा, तो ये ध्वनियाँ परस्पर प्रभावित अवश्य होंगी। इस संबंधमें हम देखते हैं कि एक साथ अघोष तथा सघोष ध्वनिका उच्चारण करनेमें वक्ताको असुविधा होती है। यह एक ध्वनिशास्त्रीय तथ्य है कि प्रथम ध्वनिके अघोष होनेपर तथा द्वितीय ध्वनिके सघोष होनेपर वह भी उसी वर्गकी सघोष ध्वनि हो जायगी। यथा दिक् + गज: [दिग्गज:], वाक् + दण्ड: [वाग्दण्ड] में हम देखते हैं कि एक साथ उच्चारणके कारण प्रथम पदके अंतकी अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि परवर्ती सघोष ध्वनिके कारण सघोष हो जाती है। इसी प्रकार परवर्ती ध्वनिके अनुनासिक होनेपर पूर्ववर्ती अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि सवर्गीय अनुनासिक हो जाती है, यह भी हम देख चुके हैं। इन्हें हम सघोषीकरण [prosody of voicing] तथा अनुनासिकीकरण [prosody of nasalization] कहेंगे। यदि इन पदोंका उच्चारण संहिता [sentence] के रूपमें न किया जाय और पद स्वतन्त्र-उच्चरित किये जायँ तो ये 'सन्ध्यात्मकताएँ' नहीं रहेंगी। हम तीन उदाहरण ले लें, दिक् + गज: [दिग्गज], तत् + मतम् [तन्मतम्], तत् + ढक्का [तड्ढक्का]। इनका संहितागत उच्चारण कोष्ठक वाला होगा। एक श्वासमें उच्चरित किये जानेपर, हमारा उच्चारण कोष्ठक वाला ही होगा, चाहे हम उसे बचानेका कितना ही प्रयास क्यों न करें। किन्तु यदि प्रत्येकका स्वतन्त्र

उच्चारण करेंगे तो संधिका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, तथा ठिक् कहकर कुछ देर बाद गजः कहा जाय, तो 'क्' के उच्चारणमें कोई विकृति नहीं आयगी।

संस्कृतमें जहाँ विसर्ग संधिमें विसर्गका लोप हो जाता है, वहाँ विसर्गके स्थानपर एक क्षणिक विराम-सा पाया जाता है। संधिमें इस क्षणिक विरामका भी बड़ा महत्त्व है। जहाँ उपधावर्ती स्वर ध्वनिके बादका विसर्ग लुप्त हो गया है, तथा अपर पदके आदिमें स्वर ध्वनि है तो पुनः संधि न होने देनेके लिए उच्चारण कर्ता बीचमें कुछ रुककर उच्चारण करता है। यहाँ वह त्वरितगतिका आश्रय इसलिए नहीं लेता कि एक श्वासमें उच्चारण करनेपर स्वरध्वनियोंमें फिर-से दूसरी संधि होनेकी संभावना है। यह क्षणिक विराम संस्कृतमें कोई ध्वन्यात्मक तत्त्व (phonematic element) न होकर केवल सन्ध्यात्मक तत्त्व (prosodic element) है। संभवतः यह एक कण्ठनालिक स्पर्श (glottal stop) है, जैसा कि अरबी भाषामें 'हमजा' का उच्चारण होता है। इस उच्चारण संबंधी विशेषताको इस उदाहरणसे स्पष्ट कर दें।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमंगलः ॥ (रुद्रसूक्त) का उच्चारण "असौ जस्ताम्रो ? अरुण ? उत बभ्रुः सुमंगलः होता है। यहाँ हम देखते हैं कि ताम्रो + अरुण, अरुण + उत में संधि न होने देनेके लिए बीचमें क्षणिक विराम पाया जाता है, जिसके लिए हमने ऊपरके उच्चारणमें ? चिह्नका प्रयोग किया है। वैदिक संस्कृतमें ए तथा ओ से परे अ के होनेपर अ का लोप नहीं होता। लौकिक संस्कृतमें यह लुप्त हो जाता है, तथा वैदिक ताम्रो अरुण लौकिक संस्कृतमें ताम्रोऽरुण हो जायगा। द्रुतगतिसे उच्चारण करने पर अरुण उत का उच्चारण *अरुणोत हो जायगा, इसे बचानेके लिए ही यह विराम पाया जाता है। विसर्गका लोप होनेपर या ए, ओ का लोप होनेपर भी यह क्षणिक विराम लौकिक संस्कृतके उच्चारणमें भी पाया जाता है। हम एक उदाहरण ले लें—

रम्या इति प्रासवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्ती'', यहाँ रम्याः + इति तथा विविक्ता. + इति में विसर्गका लोप हो गया है, तथा उच्चारण करते समय पाठक 'रम्या' के बाद आधे क्षण भर ठहर कर 'इ' का उच्चारण करता है। यदि यह विराम न होगा तो वाक्योच्चारणका सन्ध्यात्मक रूप *रम्येति, *विविक्तेति हो जायगा। यह रूप एक ओर व्याकरणात्मक रूपको गड़बड़ा देगा, क्योंकि यहाँ दोनों द्वितीया बहुवचनान्त रूप हैं, दूसरी ओर वर्णिक छन्द भी गड़बड़ा जायगा, जहाँ चतुरक्षर समुदाय त्र्यक्षर (trisyllable) तथा पञ्चाक्षर समुदाय चतुरक्षर हो जायगा। इसीको रोकनेके लिए इस 'कण्ठनालिक' विरामका प्रयोग होगा।

एक बार संधि होनेपर पुन. संधि न होने देनेके लिए इस विरामके अतिरिक्त अन्य साधनका भी प्रयोग पाया जाता है। यह है बीचमें य् या व् श्रुतिके पूरकका प्रयोग[1]। इस स्थानपर ये शुद्ध ध्वनि तत्त्व न होकर सन्ध्यात्मक तत्त्व ही होते हैं। संस्कृतके संधिप्रकरणमें हम देखते हैं कि जहाँ अच्संधिमें एक बार पूर्ववर्ती पदके अन्तकी ए, ओ ध्वनिका लोप हो जाता है, वहाँ संहितागत रूप दो तरहके पाये जाते हैं, एक विराम युक्त रूप, दूसरा श्रुतिगत रूप। यथा,

हरे + इह = हर + इह < हर इह [१] / हर य इह = हरयिह [२]

विष्णो + इह = विष्ण + इह < विष्ण इह [१] / विष्ण व् इह = विष्णविह [२]

यहाँ हम स्पष्टतः दो तरहके रूप देखते हैं। य्, व् श्रुतिहीन रूपोंका उच्चारण हर ? इह, विष्ण ? इह करना होगा। इन उच्चारणमें य्, व् श्रुति का प्रयोग इसलिए होता है कि कहीं *हरेह, *विष्णेह रूप न बन

१ देखिये,—मेरा लेख, अन्त स्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका २००६]

जायँ, तभी अग्र स्वरके संबंधमें य् तथा पश्च स्वरके संबंधमें व् का प्रयोग करनेपर हरयिह, विष्णविह रूप बनेंगे।

यहाँ इन य्, व् श्रुतियोंपर दो शब्द और कह दिये जायँ। वैसे तो यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि य्, व् का श्रुतिविभाजन परवर्ती ध्वनिके रंग [colour] पर आधृत है, यथा ओष्ठ्य, कण्ठ्य तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको गहरी [या गाढ-रंगित] [dark] तथा तालव्य और दन्त्य ध्वनियोंको हलकी [या ईषद्रंजित] [light] माना जाता है। व् श्रुतिको गाढरंजित [dark] ध्वनियोंसे सबद्ध माना जा सकता है, तथा य् श्रुतिको ईषद्रंजित [light] ध्वनियोंमें। किन्तु यह सिद्धान्त सब जगह ठीक नहीं बैठता। इसके पहले हम यह देख लें कि यह श्रुति-तत्त्व मोटे तौरपर कहाँ कहाँ हो सकता है :—[१] जहाँ ए, ओ का लोप हो गया है: यथा ऊपरवाला उदाहरण, [२] जहाँ 'स्' सघोष होकर 'ज़्' हो गया है, तदनन्तर 'ज़्' संस्कृत ध्वन्यात्मक तत्त्व न होनेके कारण लुप्त हो गया है, पर सख्यात्मक भार [prosodic weight] की रक्षाके लिए किसी तत्त्वकी आवश्यकता होती है, जो इस लोपकी कमी पूरी कर सके। हम देखते हैं कि कई स्थलोंपर जहाँ भारत ईरानी वर्गकी विशेषताके कारण 'ज़्' [z] ध्वनि अवेस्तामें पाई जाती है, उसके समानान्तर रूपोंमें संस्कृतमें य्, व् श्रुतियोंमेंसे अन्यतरका प्रयोग पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि जहाँ कहीं स्वरके बाद विसर्ग या 'स्' होगा, वहाँ स्वरध्वनि या सघोष व्यञ्जनके परे होनेपर विसर्ग या स् सघोष रूप [ज़्, z] धारण कर लेता है। एकबार और हम उस सूत्रको याद कर लें।

$$-\alpha h+C\ [B]=-\alpha S+C\ [B]=-\alpha ZC\ [B]$$

अब जहाँ कहीं अवेस्तामें स्वरमध्यगत या सघोष ध्वनिमध्यगत स्, ज़् हो जाता है, संस्कृतमें वह लुप्त होकर $-\alpha^{[w]}C\ [B]$ या $-\alpha^{[y]}C$ [B] रूप बन जाता है। हम कुछ उदाहरण ले लें।

[१] एधि :—संस्कृतमें यह √ अस् धातुका रूप है, इसे हम अस्+धि करेंगे। अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप ज़्दि [zdi] पाया जाता

है, जिसका विकास प्रा० अवेस्ता रूप *अज़्+धि से मान सकते हैं। संस्कृतमें यह सरणि यों होगी, अस्+धि=*अज़्+धि=अ [O]+धि=अ इ [य्] धि=एधि। इस तरह हम देखते हैं स् पहले ज़् होता है, फिर उसका लोप हो जाता है, जहाँ हमने शून्य-व्यञ्जन [O] का संकेत किया है। तदनन्तर 'य्' श्रुतिका स्वर रूप 'इ' उच्चरित होता है और बादमें अ+इ में संधि होकर ए हो जाता है। भाषावैज्ञानिकके मतमें एधि का रूप इस तरह निष्पन्न माना जा सकता है।

[२] सेदुः—संस्कृतमें यह √सद् धातुके लिट् के प्र० पु० बहुवचनका रूप है। यहाँ √सद् धातुके दुर्बल रूप या शून्य रूप [zero-grade] में स्द् [sd] होगा। इस तरह सेदुः रूपकी निष्पत्ति यों होगी—

स्द् [√सद्]+उः=स+स्द्+उः=*स+ज़्द्+उः=स+[O] द्+उ =स+ य् द्+उः=स इ दुः=सेदु हम देखते हैं √सद् के दुर्बल रूपमें उ का लिट् विभक्ति चिह्न लगाकर यह रूप निष्पन्न होता है। दूसरे रूपमें लिट्के कारण 'स' का द्वित्व होता है, जो प्र० पु० ए० व० ससाद में स्पष्ट हैं। तदनन्तर स्, ज़् बनकर लुप्त होता है, तथा उसकी कमी य् श्रुतिके द्वारा पूरी की जाती है।

[३] नेदिष्ट—इसी तरह नेदिष्ट की व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे √न—स्द्+ष्ट यों मानी जा सकती है। यहाँ भी 'स्द्' वाली अघोष सोष्म ध्वनि सघोष सोष्म बनकर लुप्त होती है, तथा श्रुतिके प्रयोगसे नेदिष्ट रूप निष्पन्न होता है।

[४] यशोभि —यहाँ व् श्रुति वाला उदाहरण देना भी आवश्यक है। यशस् शब्दसे भिः सुप् विभक्ति चिह्न जोड़कर यशोभिः रूप निष्पन्न होता है। इस रूपको हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

यशस्+भिः=*यशज़्+भि =यश [O]+भिः=
यश व्+भिः=यश उ भि =यशोभिः।

जिस तरह ऊपरके उदाहरणों में य् श्रुति इ बनकर सधिगत रूपोंमें ए पाई जाती है, वैसे यहाँ व् श्रुति उ बनकर संधिगत रूपोंमें ओ पाई जाती है। सोऽहम् [सः + अहम्] वाली ओ ध्वनिकी भी ऐसी ही कहानी है, जो वस्तुतः सस् [सः] + अहम् = सज़् + अहम् = स व् + अहम् = स उ अहम् = सोऽहम् है। इसमें भेद यही है कि यहाँ परवर्ती अ का लोप हो जाता है, जो लौकिक संस्कृतमें प्रायः 'अवग्रह' [ऽ] से सूचित किया जाता है।

वैसे ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि कोई कोई भाषामें किसी विशेष श्रुतिके प्रति विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। लौकिक संस्कृतमें य् श्रुतिकी अपेक्षा व् श्रुतिका सध्यात्मक रूप ओ अधिक देखा जाता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीने इसी परम्पराको अपनाया है, वैसे वहाँ य् श्रुतिका अभाव नहीं है, तथा अपभ्रंशमें तो य् श्रुतिका स्वरमध्यगत प्रयोग परिनिष्ठित [standardised] हो गया है। मागधीमें य् श्रुतिके प्रति अभिनिवेश है। संस्कृत विसर्गके स्थानपर जहाँ शौरसेनी-महाराष्ट्री व् [उ] श्रुतिके ओ वाले रूपको अपनाती है, मागधी य् [इ] श्रुतिके ए वाले रूपको। हम अकारान्त शब्दके प्र० बहुवचनके रूप ले लें। संस्कृत देवाः के समानान्तर रूप शौ० देवाओ तथा मागधी देवे है।

श्रुतियोंका यह विचार केवल विसर्गके संबंधमें किया गया है, अतः यहाँ प्राकृत तथा अपभ्रंश वाली पदमध्यगत श्रुतिका विवेचन करना अनावश्यक समझा गया है। हिंदीकी पदमध्यगत श्रुति संबंधी विशेषतापर कुछ प्रकाश हमने अन्यत्र डाला है।[1]

संस्कृत भाषामें स्वर [accent] :—

किसी भी भाषाके पदोंको अक्षरों [syllable] में विभक्त किया जा सकता है। ये पद एकाक्षर, द्वयक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर हो सकते हैं। अक्षर-घटनाका यह विश्लेषण हम असमस्त [व्यस्त] पदोंके विषयमें करते हैं।

1. देखिये मेरा लेख: अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका, २००१]

लौकिक संस्कृतके समासान्त पदोंमें तो बीसियों अक्षर पाये जाते हैं, जैसे कादम्बरीके समासान्त पदोंमें। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे उनका महत्त्व नहीं, न वहाँ भाषाकी नैसर्गिकता ही है। अक्षरमें स्वर प्रमुख है, वह अक्षरका मेरुदण्ड है, अत. अक्षर, कोरा स्वर, स्वर तथा व्यञ्जन, व्यञ्जन [एक या दो] तथा स्वर, तथा व्यञ्जन [एक या दो], स्वर तथा व्यञ्जन [एक या दो], इस तरह कई तरह का हो सकता है। यदि हम स्वर के लिए V तथा व्यजनके लिए C चिह्नका प्रयोग करें, तो अक्षरके प्रकारोंको हम यों बता सकते हैं —[१] V, [२] VC, [३] C [c] V, [४] C [c] VC [c]। इनके उदाहरण क्रमशः उ, आम्, सा [त्वा], पात् [स्पश्, स्पन्द्] दिये जा सकते हैं। यह स्वर ध्वनि कभी ह्रस्व हो सकती है, कभी दीर्घ।

अक्षर ही वह तत्त्व है जिसके उच्चारणमें दो तरहकी स्वर–प्रकृति[1] पाई जाती है .—एक स्वरका आरोह [rising tone], दूसरा स्वरका अवरोह [falling tone]। इन्हींकी मिश्रित स्थिति वह होती है जहाँ उच्चारणकर्ता उच्च स्वर-स्थितिसे एकदम नीचेकी ओर उतरता है, जहाँ आरोहसे एकदम अवरोह की ओर आता है, इसे ही ध्वनिशास्त्री "rising-falling tone" कहते है। हमारे यहाँ ये ही क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं। जैसा कि प्रातिशाख्योंमें बताया गया है .—

[१] उदात्त स्वरसम्पन्न अक्षरके उच्चारणमें गात्रोंकी शक्तिका आरोह [ऊर्ध्वगमन] होता है —

[उच्चैरुदात्त. १/१०८], आयामेनोर्ध्वगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसञ्ज्ञो भवति।[2]

---

१. यहाँ 'स्वर' शब्दका अर्थ स्वरध्वनि न होकर गलेकी आवाजके उतार या चढ़ावसे है।

२ शुक्लयजु प्रातिशाख्य [कात्यायन] १ १०८ तथा उसका उव्वट कृत भाष्य पृ० २२

[२] अनुदात्त स्वर वाले अक्षरके उच्चारणमें गात्रोंकी शक्तिका मार्दव [अधोगमन] पाया जाता है।

[नीचैरनुदात्तः १, १०८]; नीचैर्मार्दवेणाधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसञ्ज्ञो भवति][1].

[३] जहाँ एक बार उदात्त स्वरके कारण गात्रोंका आयाम [आरोह] हो, तदनन्तर अनुदात्तस्वरके कारण गात्रोंका मार्दव [अवरोह] हो, वहाँ दोनों तरहके प्रयत्नोंमें मिश्रित स्वर स्वरित कहलाता है।

[उभयवान्स्वरितः । १।११०; उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्न अनुदात्तस्याधोगमन गात्राणां प्रयत्न आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्यां स स्वरितसञ्ज्ञो भवति][2]

[उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम् ।][3].

[४] स्वरितके बादके अनुदात्त स्वरोंको, जहाँ एक साथ गात्रोंका मार्दव पाया जाता है, अलगसे पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। वे 'प्रचय' या 'एकश्रुति' कहलाते हैं।

[स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ॥][4].

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितकी इन उच्चारण स्थितिको शौनकने ऋक्प्रातिशाख्यमें क्रमशः आयाम, विश्रम्भ तथा आक्षेप कहा है:—

[उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय स्वराः । आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रया. ॥][5].

---

१ वहीं तथा उस पर उव्वट कृत भाष्य १. १०८, पृ. २२.

२ वहीं, १ ११०. पृ. २३.।

३ शौनकीय ऋक् प्रातिशाख्य, तृतीय पटल, २.

४ शौं० ऋ० प्रा०, तृतीय पटल, ११।

५ वहीं, तृ० प० १.

एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरके स्वर-विभाजनका क्रम अलग अलग तरहका देखा जाता है। साथ ही इनका उच्चारण पदरूपमे अन्य होता है, संहिता रूपमे अन्य। इस बातको आजके ध्वनिवैज्ञानिकोने पद-स्वर [word-intonation] तथा संहितास्वर [sentence intonation] के भेदको स्पष्ट कर स्वीकृत किया है। जहाँ तक एकाक्षरके स्वरका प्रश्न है, पद रूपमें उसका स्वर उदात्त भी माना जा सकता है, अनुदात्त भी, पर अधिकतर उसे अनुदात्त ही माना जाता है। वाक्यमे उसका स्वर बदल भी सकता है। वैसे वैदिक संस्कृतमे कई एकाक्षर [monosyllable] स्वर स्वतः उदात्त होते है, कई अनुदात्त। अन्य पदोमे [द्व्यक्षरादि पदोमे] प्रायः पूरे पदमें एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है, बाकी स्वर अनुदात्त [और स्वरित] ही होगे। एक ही प्रकारकी ध्वन्यात्मक [phonatic] या अक्षरात्मक [syllabic] संघटना [sequence] मे स्वर-भेदसे अर्थ-भेद हो सकता है। संस्कृतमें भी स्वर-भेदसे एक ही ध्वन्यात्मक संघटना [phonematic sequence] वाले पदोंका अर्थ-भेद देखा जाता है। यह अर्थ भेद समासमे बहुत काम करता देखा जाता है, जहाँ मुख्य कारण स्वर भेद [difference of accent] ही होता है। हम एक प्रसिद्ध उदाहरण को ले-लें—इन्द्रशत्रु। जहाँ तक इस समस्त पदमें पदद्वयके व्यस्तरूपका प्रश्न है, हम उस पर विचार न कर इस समस्त पदके चतुरक्षर रूपपर ही विचार करेगे। जैसा कि हम संकेत कर चुके है प्राय प्रत्येक पदमे एक ही उदात्त स्वर हो सकता है [वैसे इस नियमके कुछ अपवाद भी है, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे], इस पदमे भी एक ही अक्षर उदात्त-स्वर सम्पन्न हो सकता है। व्यस्त पदोंको लेनेपर हम देखेंगे कि इन्द्र तथा शत्रु दोनों पदोंका प्रथमाक्षर उदात्त है, किन्तु समस्त पदम यह उदात्त स्वर या तो पूर्व पदमें ही रह सकता है, या उत्तर पदमें ही। अब हमे यही देखना है कि इन्द्रशत्रु मे उदात्त स्वर किस अंशमे होगा। द्व्यक्षरों [disyllables] में उदात्तस्वर प्राय प्रथमाक्षर [first syllable]

पर पाया जाता है, किन्तु पदोंके समस्त होनेपर कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उदात्त स्वर अंतिम अक्षर [final syllable] पर पाया जाता है: क्योंकि ध्यान दीजिये कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उत्तर पद प्रधान होता है। जब कि बहुव्रीहिमें यह उदात्त स्वर प्रथम अक्षर पर ही बना रहता है, क्योंकि वहाँ अन्य पदार्थकी प्रधानता होती है। यदि स्वरके आरोह या आयाम-मार्दवको व्यक्त करने के लिए हम आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंकी प्रणालीका आश्रय लें तो उसे यों व्यक्त करेंगे:—

[१] इन्द्रशत्रुः [बहुव्रीहि][1].— — — —

[२] इन्द्रशत्रुः [तत्पुरुष][2]. — — — —

इस संबंधमें आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंका मत है कि उच्चतम स्वर [उदात्त] पदमें एक ही होता है, पर बाकी अनुदात्त स्वर सभी एक कोटिके नहीं होते तथा उनके स्वरमें भी सूक्ष्म भेद होता है, मोटे पर तौरपर वे सभी अनुदात्त कहलाते हैं।

प्रा० भा० यू० में स्वरका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वरकी पूर्ण रक्षा की है। शुद्ध उच्चारणकी रक्षाकी इच्छासे भारतीय मनीषियोंने उदात्त तथा अनुदात्त स्वरोंका संकेत करनेके लिए चिह्न बनाये, साथ ही पद व संहिता गत स्वर परिवर्तनका विवेचन किया। भारतकी भाँति ग्रीसमें भी ग्रीक भाषाके शुद्ध उच्चारणकी रक्षाके लिए हेलेनिक समयसे ही स्वरचिह्नोंका प्रयोग आरंभ हो गया था, जो अलेग्जेंड्रियन वैयाकरणोंके हाथों परिष्कृत हुआ। प्राचीन ग्रीकमें तीन प्रकारके स्वर-चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है—´, `, ^ जो क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितके प्रतीक हैं। ग्रीकमें प्रायः अनुदात्त स्वरके अक्षरोंको अचिह्नित

---

1. इन्द्रः शत्रुर्यस्य सः [जिसका शत्रु इन्द्र है]—बहुव्रीहि।
2. इन्द्रस्य शत्रुः [इन्द्रका शत्रु]—तत्पुरुष।

को 'स्वतन्त्र' [free] माना है। यहाँ ग्रीक या लैतिनकी तरह उदात्त स्वर किसी सीमामें संकुचित नहीं है, वह कहीं भी, किसी भी अक्षरमें हो सकता है। साथ ही ग्रीक या लैतिनकी तरह संस्कृत स्वरप्रक्रियाका नियामक तत्त्व न तो पदांत अक्षरकी मात्रा [जैसा कि ग्रीक में है] है, न उपधा अक्षरकी मात्रा ही [जैसा कि लैतिनमें है], किंतु संस्कृत स्वरप्रक्रिया पदकी व्युत्पत्ति [उसमें प्रयुक्त प्रत्यय, विभक्ति आदि] तथा उसके वाक्यगत [संहितागत] प्रयोगपर निर्भर करती है।

[१] संस्कृतमें प्रायः प्रत्येक पदमें केवल एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमें पाई जाती है। सं० ततः, ग्रीक ततोस्[1] [tato's] सं० जानु, ग्रीक गोनु [go'nu]। पर कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें वेदमें प्रमुख स्वर स्वरित पाया जाता है। किन्तु यह रूप प्रायः 'य' 'व' वाले संयुक्ताक्षरमें पाया जाता है, जो वस्तुतः 'इ' 'उ' के ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप हैं। उदाहरणके लिए हम रथ्यम्, तन्वम् इन दो पदोंको ले लें। यहाँ यह विशेषता पाई जाती है कि अनुदात्तके एकदम बादमें स्वरित आ गया है, जो सदा उदात्तके बाद होता है। यह विशेषता इस बातका संकेत करती है कि इन द्व्यक्षर [disyllabic] पदोंका उच्चारण त्र्यक्षर [trisyllabic] होता था, तथा वहाँ द्वितीय अक्षर उदात्त स्वर युक्त था। वस्तुतः इनका उच्चारण रथियम्, तनुवम् होता है। विद्वानोंको पता है कि गायत्री मन्त्रके 'वरेण्य' पदका उच्चारण भी

---

१ सुविधाकी दृष्टिसे ग्रीक शब्दोंके देवनागरी लिपीकरणमें मैंने वैदिक स्वर चिह्नोंका ही प्रयोग किया है।

'वरेणियं' होता है, तथा ऐसा करनेपर ही तत्सवितुर्वरेण्यं इस पदमें आठ अक्षर पूरे होते हैं।[1].

[२] समासान्त पदोंमें प्रायः एक ही उदात्त स्वर होता है, किन्तु उन द्वन्द्व समासोंमें जहाँ दोनों पदांश द्विवचनमें हैं, तथा उस तत्पुरुष में, जहाँ पूर्वपद षष्ठ्यन्त है, दोनो पदांशोंमें उदात्त स्वर पाया जाता है, यथा मित्रा-वरुणा, बृहस्पतिः।[2]

[३] कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें सभी अक्षर अनुदात्त होते हैं, तथा उदात्त स्वरका अभाव होता है। इनमें प्रमुख वे क्रिया पद हैं, जो वाक्यकी समापिका क्रियाएँ होते हैं।[3] यथा, अग्निमीळे पुरोहितम् में, जहाँ 'ईळे' में कोई उदात्त स्वर नहीं है। यदि सम्बोधन वाला रूप वाक्य या पादके आदिमें नहीं होता, तो यह भी उदात्तस्वररहित [enclitic] होता है। सम्बोधनकी ऐसी ही विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है[4]।

[४] समस्त पदोंमें प्रायः कर्मधारय तथा तत्पुरुषमें उदात्त अंतिम अक्षर पर होता है, बहुव्रीहिमें प्रथमाक्षर पर, जैसे राजपुत्रः [तत्पुरुष], राजपुत्रः [बहुव्रीहि]।[5]

[५] सन्धिमें यदि प्रथम द्वितीय दोनों अक्षरोंमसे कोई भी या दोनो उदात्त होते हैं, तो सन्धिज अक्षर उदात्त होता है। इस तथ्यका सकेत महाकवि कालिदासने भी इस उपमाके द्वारा किया था—निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः

---

१. गायत्री वर्णिक वृत्त है तथा उसके प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर [वर्ण] होते हैं।

2 Macdonell · Vedic Grammar p 452, rule 7

3 Ibid. p 454-5

4 Atkinson · Greek Language p 57.

5 Macdonell Vedic Grammar p 457-8

स्वरानिव। उदाहरण, नुदस्वाथ [नुदस्व + अथ], नान्तरः [न + अन्तरः] ।

[६] वाक्यमें अर्थात् संहितापाठमें भी ये स्वर एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। उदात्तके बाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, तथा वह खड़ी लकीरसे चिह्नित होता है, उसके बाद आनेवाले अनुदात्त एकश्रुति या प्रचय कहलाते हैं, और तब तक अचिह्नित छोड़ दिये जाते हैं, जब तक कोई उदात्त स्वर नहीं आता, किन्तु ज्यों ही कोई उदात्त स्वर आया उससे पूर्ववर्त्ती अक्षरको अनुदात्तके चिह्नसे चिह्नित कर दिया जाता है, यह इस बातका द्योतक है कि उच्चारण कर्ताको अपना स्वर ऊँचा करना है, इसी तरह स्वरित इस बातका चिह्न है कि उसे स्वर नीचा करना है। इस सबधमें हम संहिता-पाठका एक उदाहरण ले लें—

१ येना सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो

२ जगच्च विश्व मुदियर्षि भानुना ॥

१. — — — —
— — — — — — — — —

२. — — — —
— — — — — — — — —

किन्तु ये ही पद व्यस्त होनेपर पदपाठमें यों हो जायँगे :—

येना । सूर्य । ज्योतिषा । बाधसे । तमो ।

जगत् । च । विश्वं । उत् ऽइयर्षि । भानुना ॥

लौकिक संस्कृतमें आकर स्वर चिह्नका प्रयोग नहीं पाया जाता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ स्वर नहीं पाया जाता। वस्तुतः वहाँ

इन नियमोंकी पाबन्दी ढीली हो गई और आज इस सम्बन्धमें लौकिक संस्कृतमें कोई नियम नहीं है। वैसे पाणिनिने अपनी व्याकरणमें इसको ध्यानमें रखकर सूत्र बनाये हैं, पर स्वरोंकी अत्यधिक महत्ताको उन्होंने भी वैदिकी प्रक्रियामें ही माना था, ऐसा संकेत मिल सकता है। संभवतः इसीलिए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें स्वरवैदिकी प्रक्रियाका विचार विशेषतः वैदिक प्रयोगोंके सम्बन्धमें ही किया है।

संस्कृत पद-रचना

[संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम]

संस्कृतके पद[1] प्रा० भा० यू० पदोंकी भाँति उन समस्त चिह्नोंके द्योतक हैं, जिन्हें हम तीन भागोंमें विभक्त कर सकते है। इनमेसे प्रथम अश मुख्य भावका द्योतक है, जिसे हम मूल रूप [धातु या शब्द] कह सकते हैं। अन्य दो अश तथा प्रत्यय विभक्ति-चिह्न हैं। इन चिह्नोंमें कई प्रकारकी तात्त्विक प्रक्रियाएँ पाई जा सकती हैं, तथा प्रमुख रूपसे स्वर परिवर्तन भी पाया जाता है। इनमें प्रत्ययका अस्तित्व हो सकता है, उसका अभाव भी हो सकता है। इन परिवर्तनोंमेंसे कतिपय मुख्य परिवर्तन ये हैं :—

[१] अनुनासिकका नतिभाव[2] [ietioflexion], यथा यान, किन्तु प्रयाण।

[२] स्पर्शध्वनियोंका सयोजन, यथा, ददाति, दत्त, देहि, विश, विड्भि, विक्षु।

[३] प्राचीन भारत यूरोपीय कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंका सस्कृत पदरचनामें दो प्रकारका ध्वन्यात्मक विकास, यथा, हन्ति, जिघ्नते, घन, भजति, भाग.।

[४] प्रा० भा० यू० तालव्य 'क्य्' का सस्कृतमें आकर दो प्रकारका विकास, इस सबधमे सस्कृतके क, कस्य, किम् जैसे रूप भारत-ईरानी वर्गमें चिद् की अपेक्षा अधिक नवीन हैं। इस परिवर्तनका एक पद रचनात्मक महत्त्व भी है, तथा यह परिवर्तन स्वर ध्वनिके आधार पर पाया जाता था।[3]

---

१. सुब्-तिङन्तं पदम्।

२. दन्त्यस्यमूर्धन्यापत्तिर्नति.। [शुक्लयजु प्रातिशाख्य १.४२]।

३. Bloch L'Indo Aryen P. 99

भारतके प्राचीन निरुक्तकार यास्कने वैदिक शब्द "शेव" को "शिष्यते" से गृहीत [व्युत्पन्न] माना है। इस व्युत्पत्तिमें उन्होंने 'व' को एक प्रत्यय माना है, जो ष् के स्थानपर प्रयुक्त हुआ है। इसी उदाहरणमें दूसरी विशेषता मूलतत्त्व शिष् के स्वरका गुणीभाव है। इस प्रकार शे तथा शि दोनों एक ही मूल [धातु] से जनित दो रूप हैं। अन्य स्थानोंपर उन्होंने स्वरध्वनिके लोपका भी उल्लेख किया गया है, जो स० प्रत्तः[1] [√दा], स्तः [√अस्], जग्मुः [√गम्] में स्पष्ट है। इसी प्रकार यास्कने गतम् [√गम्], राजा [राजन्] में व्यञ्जन ध्वनिके लोपका उल्लेख किया है। संस्कृत पृथुः तथा ऊति को उन्होंने √प्रथ् तथा √अव् से व्युत्पन्न माना है, जहाँ मूल स्वरध्वनि परिवर्तित हो गई है।[2] स्वर-ध्वनिके इस प्रकारके परिवर्तन प्रा० भा० यू० में भी पाये जाते हैं, जो हम 'अपश्रुति' के अन्तर्गत देख चुके हैं। भारतीय वैयाकरण इन स्वर-परिवर्तनोंको गुण

---

१. दुदाञ् दाने क्त। अव उपसर्गात्त इति तादेश.—शब्दार्थचिन्तामणिः, भाग २ पृ० २४२।

२. यास्क तथा बादके वैयाकरणोंने ५ प्रकारके निरुक्त माने हैं। इनमें प्रथम चार प्रकारके निरुक्तोंमें ध्वनिपरिवर्तन आते हैं। ये हैं — वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार तथा वर्णनाश। वर्णागमका उदाहरण 'सुन्दर' लिया जा सकता है, जो सुनरसे बना है। यहां "द" ध्वनिका आगम हो गया है। वर्णविपर्ययका 'सिंह' [हिनस्तीति सिंहः] है। वर्णविकार जैसे √भज् से भाग: या षट्+दशसे षोडश: तथा वर्णनाश जैसे प्रत्तः, जग्मुः, गतम् आदिमें या पृषत्+उदरसे बने रूप पृषोदर में।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥
वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः
षोडशादौ विकारः स्यात् वर्णनाशः पृषोदरे॥

तथा वृद्धि कहते हैं। हमें ऐसा पता चलता है कि प्रा० भा० यू० में मूलरूपों [धातु तथा शब्दों] मे एक निश्चित व्यञ्जनसंघटना [consonantal sequence] तथा परिवर्तनशील स्वर [प्रायः एक ही परिवर्तनशील स्वर] पाये जाते होंगे। प्रा० भा० यू० में हम इनके ए, ओ, ए, ओ अथवा "शून्य रूप [स्वराभाव, zero-vowel] को देख सकते हैं। भारत-ईरानी वर्गमे ये अ आ के साथ सम्मिलित हो गये हैं, और इस प्रकार यहाँकी ध्वन्यात्मक प्रक्रिया मे केवल एक ही प्रकारके मात्रिक परिवर्तनकी उपलब्धि होती है, जो अ–रूप, आ–रूप तथा शून्यरूप हैं, जिन्हें हम क्रमशः भर्–, भार्–, भृ– मे देख सकते हैं। इसी संबंधमें यह भी जान लें कि र्, य्, व् के स्वरीभूत रूप ऋ, इ, उ की भाँति अनुनासिक न्, म् वाले रूपोंमे भी यह अपश्रुत्यात्मक प्रवृत्ति पाई जाती थी। यदि हम भारतीय वैयाकरणोंकी पारिभाषिक शब्दावलीका प्रयोग करें, तो हम कह सकते हैं कि न् तथा म् वाले गुण रूप [भाषाशास्त्रीके मूल रूप], वृद्धिमे अन्, अम् तथा मूलरूप में [भाषाशास्त्रीके शून्य रूपमे] अ पाये जाते हैं। उदाहरणके लिये, गम् तथा मन् धातुरूपोंमे वृद्धिरूप [भाषाशास्त्रीका दीर्घरूप] पाया जाता है। इसीके 'ग्म' [जग्मु], 'म्न' [मम्नाते] रूपोंमे गुणरूप [भाषाशास्त्रीका मूल रूप], तथा गत, मत में मूल रूप [भाषाशास्त्रीका शून्यरूप] पाया जाता है। संस्कृतके इ, उ वाले मूल रूपोंके गुण रूपोंमे तथा वृद्धि रूपोंमे क्रमशः ए तथा ओ, एवं ऐ तथा औ ठीक वही कार्य करते हैं, जो संस्कृतके ऋ [र] वाले मूल रूपोंमे अर् तथा आर् करते हैं।

इन सब प्रकारके रूपोंके विवेचनसे हमारा तात्पर्य यह है कि प्रा० भा० यू० शब्दोंकी भाँति संस्कृतके समान पदोंमें हम एक धातु [मूल, root] मान सकते हैं। यह धातु अथवा मूल रूप ही संस्कृतकी पदरचनाका मेरुदण्ड या "न्यूक्लियस" [nucleus] है। इसके पहले कि हम संस्कृतके इन मूलरूपोंपर दृष्टिपात करें, हम प्रा० भा० यू० मूलरूपोंकी कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेना होगा—

[१] प्रा० भा० यू० मूलरूपोंमें आरम्भ तथा अन्तमें सघोष महाप्राण ध्वनि पाई जा सकती है, किन्तु सघोष अल्पप्राण नहीं, इस प्रकार यहाँ *भेव्ध् [*bhewdh] [सं० बुध्] जैसे रूपोंकी स्थिति मानी जा सकती है,* *बेव्द् [**bewd] जैसे रूपोंकी नहीं।

[२] जिन प्रा० भा० यू० मूल रूपोंकी प्रथम ध्वनि सघोष महाप्राण है, उनके अन्तमें अघोष ध्वनि नहीं पाई जा सकती। इस प्रकार *भेव्ध् जैसे रूप हो सकते हैं, किन्तु *भेव्त् [*bhewt] जैसे रूप नहीं।

[३] प्रा० भा० यू० मूल रूपोंमें एक साथ ऐसी दो अन्तःस्थ ध्वनियाँ नहीं पाई जा सकती, जो व्यञ्जनका कार्य कर रही हों। अतः यहाँ *तेव्ल्, *तेय्र्प्, *मोय्न् जैसे मूल रूप नहीं पाये जा सकते।

अब इन मूलरूपोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत वैयाकरणोंने इन्हें धातु रूप [क्रियात्मक] माना है। किन्तु, जैसा कि हम देखते हैं, कई मूल रूप ऐसे हैं, जिन्हें हम धातुरूप नहीं मान सकते। उदाहरणके लिए 'पद्–' तथा 'मह्–' को ले सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने किसी धातुके कोई न कोई प्रत्यय जोड़ कर सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। उनके उणादि प्रत्यय इस चेष्टाके प्रमाण हैं। किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे हम इस तथ्यको अस्वीकार नहीं कर सकते कि प्रा० भा० यू० भाषाके कालमें उनके बोलने वालोंमें संज्ञा, क्रिया तथा विशेषण जैसी व्याकरणात्मक भावनाका उदय नहीं हुआ था तथा उनके लिए इनका परस्पर भेद इतना स्पष्ट नहीं था, जितना कि सभ्यताके विकास तथा बुद्धि के कारण उनके बाद के वंशजों के लिए। इस प्रकारके तथ्यका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इस प्रकार के समस्त शब्द [क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि] एक ही धातुसे व्युत्पन्न हो सकते थे। वस्तुतः ये मूल रूप किसी निश्चित व्याकरणात्मक अर्थका बोध न करा कर एक सामान्य भावके द्योतक

थे, जिसे हम क्रिया, संज्ञा जैसे संकुचित दायरेमें आबद्ध नहीं कर सकते। ये केवल प्रत्ययविहीन अथवा विकरण-विहीन [athematic] मूल रूप थे, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रत्ययों अथवा विकरणों को जोड़कर किसी भी भावके लिए किया जा सकता था। इन्हीं मूल रूपोंमे कृत् या तद्धित प्रत्यय, तथा सुप् या तिङ् विभक्ति प्रत्यय लगा कर पद-रचना होती है। इसके बाद विभिन्न पदों [धातुरूपभिन्न पदों] को भी नाना प्रकारके भावबोधनके लिए समस्त किया जा सकता है, तथा यह समासप्रक्रिया कहलाती है।

व्याकरणात्मक दृष्टिसे हम संस्कृतके शब्दोको संज्ञा [नाम], क्रिया [आख्यात], अव्यय, संख्यावाचक शब्द, तथा सर्वनाम इनमें विभक्त कर सकते हैं। इस परिच्छेदमें हम नाम शब्दोंकी पदरचनापर प्रकाश डालेंगे। संस्कृतके संज्ञा-रूप अधिकतर हिन्द-ईरानी [भारत-ईरानी] वर्गसे ही विकसित हुए है। *इनकी रचनामें प्रायः वे ही नियम तथा तत्त्व* पाये जाते हैं, जो ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओंके नाम-शब्दों [substantives] मे। नाम-शब्दोंको सर्वप्रथम हम व्यस्त तथा समस्त दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं। इनकी रचनामें प्राय भिन्न प्रणाली पाई जाती है।

प्रातिपदिक या मूल शब्दः—व्यस्त शब्दोंकी पद-रचनामें हमे यह समझ लेना चाहिए कि इन मूल रूपों [प्रातिपदिकों] को हम दो कोटियोंमे विभक्त कर सकते हैं। एक वे मूल रूप, जिनकी पदनिर्मितिमे कोई प्रत्यय या विकरण नहीं लगता। दूसरे वे जिनके मूल रूप तथा अन्य प्रकारके सुप् तथा कृत् या तद्धित प्रत्ययके बीचमें कोई न कोई प्रत्यय या विकरण लगता है। इस प्रकारके प्रत्यय उन मूल रूपों [धातुओं] मे भी लगते हैं, जिनसे क्रियारूप बनते है। इन्हीं प्रत्ययों या विकरणोंके आधार पर हम इन मूलरूपोंको सविकरण [thematic] तथा अविकरण [athematic] इन दो कोटियोंमे विभक्त कर देते है। यहाँ हम केवल नाम शब्दोंका ही विचार कर रहे है, क्रियारूपों की रचनामें इन विकरणोंकी प्रक्रियाका उल्लेख

हम अगले परिच्छेदमे करेंगे। विकरणविहीन [अविकरण] मूलरूप संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमें अत्यधिक पाये जाते हैं। अन्य यूरोपीय भाषाओंमें ये प्रायः लुप्त हो गये हैं। उदाहरणके लिए द्यो, क्षा, गौ [गो], भ्रू के मूल रूपोंको ले सकते हैं, जिनसे प्रथमा विभक्ति एकवचनमें द्यौः, क्षाः, गौः, भ्रूः रूप बनते हैं। इनमें मूलरूप तथा 'सुप्' प्रत्यय ['सु'] [प्रा० भा० यू०* स्] के बीचमें किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं हुवा है। इसी प्रकार राज् तथा विश् इन मूल रूपोंके राट्-ड् तथा विट्-ड् रूपों [प्रथमा एकवचन रूपों] मे भी विकरण-विहीनता देखी जा सकती है। ये विकरणविहीन रूप उन मूल रूपोमे भी बनाये जा सकते हैं, जिनमें द्वित्व पाया जाता है; यथा हु से जुहु तथा दृह से दध्रक्। इस प्रकारके रूपोंमें एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि इ, उ तथा ऋ अन्तवाले मूल रूपोंमें यह मूल रूप 'त्' से युक्त पाया जाता है। यथा मित्, स्तुत्, कृत् तथा दिद्युत् मे जो क्रमशः मि, स्तु, कृ तथा द्यु इन मूल रूपोसे बने हैं। इस प्रकारके "त्' के प्रयोगकी उत्पत्ति का पता नहीं। ब्रुगमानके मतानुसार यह 'त्', '-तो' [*तो] प्रत्ययका ही अपभ्रंशात्मक रूप है।

सविकरणात्मक मूलरूपोंमें अधिकतर अ विकरण प्रयुक्त होता है। तात्त्विक दृष्टिसे तो "थिमेटिक" 'अ' विकरण नहीं है, क्योंकि प्रायः सविकरण मूल रूपोंको भी अविकरण मूलरूपोंका ही विकसित रूप माना जाता है तथा भारतयूरोपीय भाषाओं मे प्रायः अविकरण मूलरूपोंको सविकरण बनानेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इस प्रकारके 'अ' विकरणका उदाहरण हम "√भृ" [प्रा० भा० यू० *भेर्, *[bher] को ले सकते हैं, जिनमें यह 'थिमेटिक' अ पाया जाता है, यथा सं० भरति [भर्-अ-ति], प्रा० भा० यू० *भेर्-ओ-ति [*bher-o-ti] मे। इसी प्रकार वृ तथा शुच् [शुक्] मे बने वर [वृ + अ] तथा शोकमें भी यह 'अ' विकरण पाया जाता है। यह 'अ' विकरण प्रा० भा० यू० के द्वित्ववाले मूल रूपोंमे

प्रयुक्त होने लगा था, यथा सं० चक्र, ग्री० कुक्लोस् [kuklos]। संस्कृतमें आकर तो यह "अ" द्वित्व रूपोंमें अत्यधिक प्रयुक्त होने लगा, यथा रुरोद, दधर्ष आदि रूपोंमें, जो रुद् तथा धृष् के रूप हैं। इसी 'अ' से संबद्ध एक प्रत्यय अस् [*ओस्, *os] भी है, जो सं० नभस् [ग्रीक नेफास्, nephos] सं० श्रवस् [ग्री० केवास्, kewos] में पाया जाता है। इन विकरणोंकी सबसे बड़ी विशेषता स्वरसे संबंध रखती है। यदि मूल रूपपर उदात्त स्वर [rising tone] होता है, तो भिन्न प्रकारके शब्दकी उत्पत्ति होती है, और यदि उदात्त स्वर विकरणपर पाया जाता है तो शब्द सर्वथा भिन्न प्रकारका होता है। उदाहरणके लिए √वृ [धातु, मूलरूप] से अ जोड़कर वर रूप बनता है। यदि यह रूप "वरः"[1] होगा तो इसका अर्थ "इच्छा" है, किन्तु "वर"[2] का अर्थ "वरण करने वाला" होगा। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे एकको हम "व्रियते अनेन" मानेंगे, तो दूसरेको "वृणुत इति" मानेंगे। संस्कृतके शब्द "स्वयंवरा"[3] [दे० रघुवंश—स्वयंवरा

---

१. 'वरः' में जो वृ + अ [वर् + अ] से बना है, उदात्त 'वर्' के 'अ' पर अथवा 'वर्' वाले अक्षर [syllable] पर है, तभी तो 'व' में उदात्त है, र में स्वरित [जो कि मूलतः अनुदात्त है]। उदात्तका कोई चिह्न नहीं होता, अनुदात्तका चिह्न अक्षरके नीचे पड़ी लकीर [—] है, स्वरितका अक्षरके सिरपर खड़ी लकीर [|]। उदात्तके ठीक बादका अनुदात्त, यदि उसके बाद फिरसे कोई उदात्त स्वर नहीं है, तो स्वरित होता है। यह [rising tone] के एकदम बादवाला [falling tone] है।

२. वर में, जो भी वृ + अ [वर् + अ] से बना है, स्वर भिन्न है, यहाँ उदात्त स्वर 'अ' विकरणमें है 'वर्' का अक्षर अनुदात्त है।

३. स्वयं वृणुते इति सा स्वयंवरा।

कृष्णविवाहवेषा] में दूसरा रूप है, जब कि स्वयंवर[1] में पहला। स्वरके कारण इन अ-विकरणवाले रूपोंमे अर्थभेदके अन्य उदाहरण ये हैं :—

चोद 'अंकुश', चोद 'प्रेरित करनेवाला', शोक 'प्रकाश', शोक 'प्रकाशमान'।

प्रा० भा० यू० भाषामें ही मूलरूपोंके विकरणयुक्त [thematic] तथा विकरणविहीन [athematic] दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते थे। संस्कृतने कई नाम-रूपोंमे इस प्रकारके प्राचीन वैकल्पिक रूपोंके कुछ चिह्न सुरक्षित रखे हैं यथा, आप, अपाम्; पादम्, पदः, भ्रूः, भ्रुवः, गौः, गाम्, गवाम्, श्वा, श्वानम्, शुनः, इन विभिन्न रूपोंमें। कुछ रूपोंमें ये चिह्न नष्ट हो गये हैं, यथा वाक् वाचम्, वाचा में। वस्तुतः संस्कृत भाषाके शब्द-भाण्डारमें अधिक अंश नामरूप है, जिसमें मूल रूपोंने विकरण [अन्तःप्रत्यय] संयुक्त रहता है। ये प्रत्यय अन्य प्रकारके भावोंको व्यक्त करते हैं, किन्तु इसमें वे अधिक तथा न्यून रूपमें एक साधारण भाव [सामान्य] का भी बोध कराते हैं। उदाहरणके लिए निष्ठा प्रत्यय तथा तुलनाबोधक [तरप्, तमप् आदि] प्रत्ययोंको लिया जा सकता है। कभी कभी नाम रूपोंसे पुनः नाम रूपोंकी उत्पत्ति होती है। इनमें कई रूपोंमें प्रथम अक्षरके स्वरमें वृद्धि पाई जाती है, यथा सौमनसम् [सुमनस् से], सात्त्वम् [सत्त्वसे], पार्थव [पृथुसे], भार्गव [भृगुसे]। इस प्रकारकी व्युत्पत्ति संस्कृत की एक प्रमुख विशेषता है।

प्रत्यय—संस्कृतके अधिकतर प्रत्यय [affixes] रूप तथा प्रयोग दोनों दृष्टियोंसे प्रा० भा० यू० तथा भारत-ईरानी प्रत्ययोंसे मिलते हैं। यहाँ हम संस्कृतके प्रमुख कृदन्त तथा तद्धित प्रत्ययोंपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करेंगे।

---

१. स्वयं व्रियते अनेन [स्वयं वा] इति स्वयंवरः।

संस्कृतका शतृ प्रत्यय,—"अत्" [अन्त्] प्रा० भा० यू० कृत् प्रत्यय *एन्त, *ओन्त [ent,ont] से विकसित हुआ है। इस प्रत्ययका प्रयोग वर्तमानके लिए होता है। इसके उदाहरण भरन्, पश्यन्, भवन् हैं। इसी अन्त् का दुर्बल रूप "अत्" भी पाया जाता है, जो संस्कृत तथा ग्रीक दोनोंमे मिलता है। यह दुर्बल रूप हम "सत्" [सन्त्] ह्वत् [हन्त्], भरत् [भरन्त्] आदिमें देख सकते हैं। इसी कृदन्त प्रत्यय *एन्त से तद्धित प्रत्यय—वन्त् का विकास माना जाता है, जो ग्रीकमें भी वेन्त [went] रूपमे पाया जाता है। यह वेन्त [वेत] कभी कभी उस् के रूपमे भी पाया जाता है। यह उ, व का ही दुर्बल रूप है। संस्कृत पर्वन्, परु॰ [परुष्], धन्वन्, धनु॰ [धनुष्] उदाहरण इस तथ्यके पोषक हैं। इसी प्रत्ययसे सम्बद्ध "-वांस्" है, जो वैयाकरणोंकी परिभाषामे "क्वसु" कहलाता है। इसके दुर्बल रूप "-वस्" तथा "-उस्" में अनुनासिक तत्त्वका सर्वथा अभाव पाया जाता है। ग्रीकमे भी यह प्रत्यय अनुस्वार हीन ही पाया जाता है। सं० विद्वान्, विद्वान्सौ, विदुष, विद्वत्सु, ग्रीक (व) एइद् (वो) ओस्' [(w) eid(w) os]। संभव है, संस्कृतमें आकर इस प्रत्ययमें 'अन्त्' [शतृ] के सादृश्यपर अनुस्वारका प्रयोग होने लग गया होगा।

संस्कृतके [कृदन्त] प्रत्यय ईयस् तथा इष्ठ के समानान्तर प्रत्यय ओ [-योस्] [o,-yos] तथा इसो [iso] ग्रीकमें पाये जाते हैं। संस्कृतके इन प्रत्ययोंको प्रा० भा० यू० *योस् (सं० यस्) से विकसित माना जाता है। इस प्रत्ययके कई प्रकारके अपश्रुत्यात्मक रूप पाये जाते है, जिन्हें हम *इस्, *येस् *योस् मान सकते हैं। संस्कृत मे भी इसका सबलरूप ईयस् तथा दुर्बलरूप इष्ठ दोनों पाये जाते हैं। इष्ठ वस्तुतः इस् [यस् का दुर्बलरूप] तथा + त के संयोगसे बना होगा। इसे हम प्रा० भा० यू० *इस्तो [isto] से विकसित मान सकते है। संस्कृतके स्वादीयस् तथा स्वादिष्ठ मे यही प्रत्यय है। संस्कृतके क्वसु की भाँति इसके सबलरूपमे भी

अनुस्वारका समावेश हो गया है, जो संस्कृतकी ही विशेषता है, यथा स्वादीयांसो।[१] इसी प्रत्ययके दुर्बलरूप–*इस् मे *ओन्स जोड़कर प्रा० भा० यू० मे ही एक नवीन प्रत्ययका विकास हो गया था। इस *इसोन्स से विकसित "ष्ठ" रूप संस्कृतमे पाया जाता है, यथा सं० तेजीयस् [तीक्+ईयस्, तेजस्+ईयस्], तीक्+ष्ण [तीक्ष्ण]। ये सभी प्रत्यय ठीक उसी तरह तुलनाबोधक है जैसे संस्कृतके तद्धित प्रत्यय "तरप्" तथा "तमप्", जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। कभी कभी "ईयस्" के ये विभिन्न रूप एक साथ भी जोड दिये जाते थे, यथा 'तेघिष्ठ' [तैत्तरीय आरण्यक २.१३.१] मे, जिसमे वस्तुतः एक साथ ष्ण तथा इष्ठ इन दो प्रत्ययों को जोड़ दिया गया है।

संस्कृतके "–अन्" तथा "–मन्" को प्रा० भा० यू० *एन् तथा *मेन् से विकसित माना जाता है। ये दोनों ग्रीकमे भी ओन तथा म के रूपमे पाये जाते है। उदाहरणके रूपमे संस्कृत तक्षन्, ग्री० तेक्तोन [tektōn]; तथा संस्कृत होम, ग्री० खेउम [kheu-ma] को ले सकते है। संस्कृतमे इस मन् का म रूप भी पाया जाता है, जो संस्कृत धर्मन् तथा धर्म दोनों रूपोंसे स्पष्ट है। इस प्रत्यय से बने हुए रूप प्रायः नपुंसक पाये जाते है तथा इनमे मूल रूप पर उदात्त स्वर पाया जाता है। किन्तु इनमेसे कुछमे प्रत्ययपर भी उदात्त स्वर पाया जाता है और ये रूप पुल्लिंग होते है। उदाहरणके लिए ब्रह्मन् पुल्लिंग है, किन्तु ब्रह्मन् नपुंसकलिंग।

संस्कृतके निष्ठा प्रत्यय त, तवत् [क्त, क्तवत्] वस्तुतः भाषाविज्ञानिक दृष्टिसे दो प्रत्यय न होकर एक ही प्रत्ययके दो रूप है। ये दोनों ही प्रा० भा० यू० *तो से विकसित हुए है। ये भूतकालिक विशेषणके रूपमे प्रयुक्त होते है। यह तो ग्रीकमे भी पाया जाता है। संस्कृतमे क्त प्रत्यय वाला भूतकालिक

१ Bloch: L'Indo Aryen. P. 108.

विशेषण कर्मवाच्य [भाववाच्यमें भी] प्रयुक्त होता है, किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे प्रा० भा० यू० में यह केवल कर्तृवाच्यमे प्रयुक्त होता होगा। इसमें उदात्त स्वर सदा प्रत्ययांशपर पाया जाता है। धीरे धीरे यह प्रत्यय पहले नपुंसक हुवा तथा बादमे कर्मवाच्य [तथा भाववाच्य] में प्रयुक्त होने लगा। 'त' के ये तीनों क्रमिक रूप हम सूत [कर्तरि प्रयोग], धूत [नपुंसक लिंग] तथा हृत· [कर्मवाच्य प्रयोग] मे देख सक्ते हैं। *तो का ही कार्य करनेवाला एक और प्रा० भा० यू० प्रत्यय था, *नो[1]। यह भी 'क्त' की भाँति संस्कृतमें आकर कर्मवाच्यसे संबद्ध हो गया। आगे जाकर यह 'न' वस्तुत· 'त' का ही रूप माना जाने लगा। पाणिनिने "रदाभ्यां निष्ठातो न· पूर्वस्य च द" इस सूत्रमे इस 'न' [*नो] को 'त' [*तो] का ही आदेश माना है। यह प्रत्यय पूर्ण, सम्पन्न आदिमें स्पष्ट है, किन्तु इसका वास्तविकरूप स्वप्न [स्वप्+न], दान [दा+न] में भी हम देख सकते हैं, जहाँ यह प्रयोग कर्मवाच्यमे नहीं है। ध्यान दीजिये, कर्मणि प्रयोगमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर पाया जाता है, जब कि नाम शब्दोंमें यह उदात्त स्वर मूल रूप [धातु] पर पाया जाता है। इसीसे संबद्ध एक दूसरा प्रत्यय ति माना जा सकता है, जो ग्रीकमे सि के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतका यह क्तिन् प्रत्यय गति, मति, प्रीति, ज्ञाति आदि स्त्रीलिंग रूपोंमे पाया जाता है। वस्तुत· यह 'ति,' 'त' का ही स्त्रीलिंग रूप रहा होगा। इस बातसे यह भी पुष्टि होती है कि ये सब त [*तो] प्रत्ययके ही विभिन्नरूप रहे होंगे। एक दूसरे प्रत्यय 'तु' को भी इसीमे जोड़ा जा सकता है, किन्तु इस विषयमें ऐसा देखा जाता है कि जहाँ 'क्त,' क्तवत्, 'क्तिन्'के साथ धातु [मूलरूप] का दुर्बलरूप [weak form] पाया जाता है, वहाँ इसके साथ उसका सबलरूप [strong form] पाया जाता है। संस्कृतके तत , मत ,

[1] Bloch L'Indo-Aryen P 110

ततवत्, मतवत्, ततिः, मतिः में √तन् [तनु विस्तारे] तथा √मन् के दुर्बलरूप—त तथा म—पाये जाते हैं, जबकि "तन्तु," "मन्तु" में इन्हीं धातुओंके सबलरूप देखे जा सकते हैं। इसी प्रत्ययने संस्कृतके "तुं" [तुमुन्], तवे, तवै का विकास हुआ है। वैदिक संस्कृतमें ये सभी रूप पाये जाते हैं; किन्तु लौकिक संस्कृतमें केवल 'तुमुन्' ही पाया जाता है। इसके उदाहरण गन्तु, गन्तवे [वैदिकरूप], गन्तवै [वैदिकरूप] दिये जा सकते हैं।

संस्कृतके तर् [तृच्] को प्रा० भा० यू० *तेरो [tero] से विकसित माना जाता है। यह प्रत्यय सबंधियोंके नामोंमें बहुत पाया जाता है। माता, पिता, भ्राता, दुहिता, जामाता आदि शब्दोंमें यही तृच् [तर्] प्रत्यय है। ग्रीकमें भी इसका विकास 'तेर' [ter] के रूपमें हुआ है, जो हम पतेर [pater], मातेर [mater] आदि शब्दोंमें देख सकते हैं। इन शब्दोंमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर प्रायः पाया जाता है। इसी *तेरो का *त्रो रूप भी पाया जाता होगा, जो बादमें जाकर एक स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें विकसित हो गया। इस प्रकार जहाँ संस्कृतमें तृच् [*तेरो] प्रत्यय क्रियाके कर्त्ताके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, वह त्र [*त्रो] जो वस्तुतः *तेरो का ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा।[1] संस्कृत नेता [–तृ] तथा नेत्र, खनिता [–तृ] तथा खनित्र, मन्ता [–तृ] तथा मन्त्रमें हम इन दोनों प्रत्ययोंको देख सकते हैं। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः ये "त्र" प्रत्यय-वाले रूप नपुंसक हैं, 'मन्त्र' शब्द अवश्य इसका अपवाद है, क्योंकि यह पुंल्लिंग है। इस प्रत्ययवाले रूपोंमें उदात्त स्वर धात्वंशपर पाया जाता है।

तद्धित प्रत्ययोंमें संस्कृतके तुलनाबोधक 'तरप्' तथा 'तमप्' के समानान्तर प्रत्यय तेरो [tero] तथा तुमुस् [tumus] क्रमशः ग्रीक तथा लैतिनमें पाये जाते हैं। संस्कृतमें इन 'तरप्' तथा 'तमप्' को कृदन्त प्रत्यय

---

1 Bloch: L'Indo-Aryen p. 110

'ईयस्' तथा 'इष्ठ' से प्राय. अर्थकी दृष्टिसे भिन्न नहीं माना जाता, किन्तु मूलरूपमें इन दोनों मे भेद रहा होगा। प्रथम तो ये गौण प्रत्यय [तद्धित] है, वे प्रमुख प्रत्यय [कृदन्त]। दूसरे 'ईयस्' तथा 'इष्ठ' किसी कर्त्ताके आन्तरिक गुणकी उत्कर्षताको व्यक्त करते है, जब कि 'तरप्' दो वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी, तथा 'तमप्' अनेक वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी उत्कर्षता बताता है। तात्त्विक दृष्टिसे "तर" तथा "तम" अलगसे प्रत्यय न होकर 'त' प्रत्यय [जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका हैं] के साथ दूसरे प्रत्यय "र" तथा "म" को जोड़कर बनाये गये है। ये र तथा म प्रत्यय स्वतन्त्र प्रत्ययोंके रूपमे भी अपर, प्रथम जैसे शब्दोंमें देखे जा सकते है। इन प्रत्ययोंका विशेष विवेचन विशेषणोंके प्रसगमे देखिये।

संस्कृतका दूसरा प्रमुख प्रत्यय मन्त है, जिसका वन्त रूप भी पाया जाता है, यहाँ यह मतुप् कहलाता है। प्रा० भा० यू० में इसका केवल *वेन्त रूप ही था, किन्तु भारत ईरानी कालमे ही इसका मन्त रूप भी पाया जाने लगा। सभव है, 'मान' [स० शानच्] के सादृश्यपर यह रूप बना हो। इस तद्धित प्रत्ययका प्रयोग सबधबोधक विशेषणके रूपमें पाया जाता है, संस्कृत मघवन्, अवे० मगवन् [maγwan], स० *पुत्रवन्त [पुत्रवन्तों], अवे० पुथ्रवन्त [puθrawant], स० *मधुमन्त [मधुमन्तो], अवे० मदुमन्त [maδumant] मे यही प्रत्यय है।

संस्कृतके भावबोधक प्रत्यय त्व तथा ता को भी प्रा० भा० यू० से ही विकसित माना जाता है। इन्हींके तात्, ताति [ता से बने], त्वन [त्व से बना] रूप भी संस्कृतमे पाये जाते है। इस प्रकार हम वैदिक संस्कृतमे देव शब्दके भाववाचक रूपको देवत्व, देवता, देवतात्, देवताति, देवत्वन इन कई उदाहरणोंमे पा सकते है। संस्कृतके 'त्व' तथा 'त्वन' के समानान्तर सुनो [suno] प्रत्यय ग्रीकमे पाया जाता है। ये दोनों ही वस्तुत. *तु [-अ-न] से विकसित हुए है। संस्कृतके 'ता' 'तात्' 'ताति' सभव है, कृदन्त प्रत्यय 'त' से विकसित हुए हों।

समास-प्रक्रियाः—

संस्कृत पदरचनाकी एक प्रमुख विशेषता समास-प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रा० भा० यू० का ही विकास है, तथा ग्रीक, लैतिन, अवेस्ता आदि सभी भारतयूरोपीय भाषाओंमें पाई जाती है। जब हम संस्कृतकी समास-प्रक्रियाका उल्लेख करते हैं, तो हमारा तात्पर्य संस्कृतके उन समस्त रूपोंसे है, जो संस्कृतकी बोलचालकी भाषामें पाये जाते होंगे, तथा जिनका रूप वैदिक संस्कृत एवं बादकी लौकिक संस्कृतकी ही कई साहित्यिक कृतियोंमें पाया जाता है। इस संबंधमें पहले यह समझ लें कि विश्वकी भाषाओंको हम सर्वप्रथम दो प्रकारकी मान सकते हैं—[१] सावयव तथा [२] निरवयव। निरवयव या व्यास-प्रधान भाषाओंमें प्रत्येक शब्द अलग होता है तथा ये शब्द निश्चित भावका बोध कराते हैं। चीनी आदि एकाक्षर परिवार की भाषाएँ इसी कोटिकी हैं। सावयव भाषाओंको पुनः तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है:—[१] समास प्रधान, [२] प्रत्ययप्रधान, [३] विभक्तिप्रधान। समास प्रधान भाषाओंमें सारे शब्द समस्त होकर प्रयुक्त होते हैं तथा कभी कभी तो पूरा का पूरा वाक्य ही समस्त पद सा होता है। अमेरिकाके जंगली लोगोंकी भाषाएँ इस कोटिमें आती हैं। प्रत्यय प्रधान भाषाओंमें किसी भी शब्दका दूसरे शब्दसे संबंध बतानेके लिए प्रत्ययोंका प्रयोग किया जाता है। तुर्की, तथा तामिल, तेलगू, आदि द्रविड़ परिवारकी भाषाएँ इस कोटि की हैं। विभक्ति प्रधान भाषाओंमें किन्हीं दो शब्दोंके संबंधको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे हम संस्कृतमें सुप् तथा तिङ् विभक्तियोंका प्रयोग करते हैं। समस्त भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इस विभक्तिप्रधान कोटिमें आयेंगी। वैसे इन भाषाओंमें प्रत्यय तथा समास-प्रक्रिया भी पाई जाती है, किन्तु ये इन भाषाओंकी प्रमुख विशेषताएँ नहीं हैं। उदाहरणके लिए, संस्कृतमें यह आवश्यक नहीं कि "राजपुत्र" ही कहा जाय, वहाँ 'राज्ञः पुत्र' से भी काम चल सकता है। वैदिक संस्कृतमें यह समास प्रक्रिया प्रा० भा० यू० तथा ग्रीककी भाँति संकुचित तथा सीमित,

अतएव स्वाभाविक रही है। लौकिक संस्कृतके परवर्ती साहित्यमें आकर, दण्डी, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदिमें प्रचुर समस्त पदावलीका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु वह संस्कृतका वास्तविक रूप न होकर, कृत्रिम रूप है। वहाँ भी संस्कृत वैसे विभक्तिप्रधान ही है, क्योंकि समस्त पदोंके अन्तमें तो विभक्तिका प्रयोग होता ही है। शुद्ध समासप्रधान भाषाओं [यथा अमेरिकाकी जंगली भाषाएँ] में ऐसी कोई विभक्तियाँ प्रयुक्त नहीं होतीं।

तो, संस्कृतमें दो या अधिक शब्दोंको समस्त पदके रूपमें प्रयुक्त करनेकी यह प्रणाली प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुई है। यह समस्त पद, विभक्ति, स्वर तथा पदरचनाकी दृष्टिसे एक पदके रूपमें व्यवहृत होता है। जहाँ तक इन समस्त पदोंके कलेवरका प्रश्न है, संस्कृतमें ये पद ग्रीककी भाँति नातिदीर्घरूपमें ही पाये जाते हैं।[1] ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें तीन शब्दोंसे अधिक समस्त रूपवाले समासान्त पद नहीं पाये जाते। साथ ही ऐसे शब्द भी बहुत कम हैं, उदाहरणके लिए हम "पूर्व-काम-कृत्वन्" को ले सकते हैं। समस्त पदोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि इनमें [प्रायः] उदात्त स्वर एक ही स्थान पर पाया जाता है, तथा प्रथम शब्दका प्रयोग निर्विभक्तिक रूपमें होता है। किन्तु इसके अपवाद भी पाये जाते हैं। यह अपवाद प्रायः द्वन्द्व समासोंमें—देवताद्वन्द्वोंमें—पाया जाता है, वैसे कुछ अन्य प्रकारके समस्त पदोंमें भी यह अपवाद देखा जा सकता है [देखिये परिच्छेद ४]। लिंगकी दृष्टिसे इन समस्त पदोंका लिंग प्रायः वही होता है, जो कि उत्तर पदका होता है, किन्तु कुछ नपुंसक रूप भी पाये जाते हैं। इन समासोंको सर्वप्रथम हम तीन कोटियोंमें विभक्त करते हैं:—

[१] **उभयपदार्थ प्रधान**—इस कोटिके समासोंमें प्रत्येक पद स्वतन्त्र होता है, उदाहरणके लिए द्वन्द्व समास।

---

१ ध्यान रखिये लौकिक संस्कृतके परवर्ती काव्योंकी भाषा इस नियमके प्रतिकूल है, किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नहीं है।

[२] **उत्तरपदार्थ प्रधान**—इस कोटिके समासोंमें उत्तरपद, प्रथम [पूर्व] पदकी अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है, उदाहरणके लिए तत्पुरुष तथा कर्मधारय।

[३] **अन्यपदार्थ प्रधान**—इस प्रकारके समासान्त पद किसी अन्य-पदको विशिष्ट करते हैं। ये विशेषण होते हैं, यथा बहुव्रीहि।

यहाँपर हम इन्हीं तीनों प्रकारके समासोंका विवेचन करेंगे। भाषा-शास्त्रीय दृष्टिसे 'द्विगु' तथा 'अव्ययीभाव' इन दो प्रकारके समासोंका विकास बादका है। द्विगु वस्तुतः कर्मधारयका ही एक रूप है,[1] जहाँ प्रथम पद सङ्ख्यावाचक होता है [यथा नवग्रह, सप्तर्षि], तथा अव्ययीभावको कर्म-धारय या बहुव्रीहिमें विकसित माना जा सकता है। अव्ययीभावमें पूर्वपद अव्यय पाया जाता है, यथा यथाशक्ति, उपकूलम्, उपकुम्भम्। इस प्रकार-के समासान्त पद ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, यथा एप-अरोउरास् [ep-aro-uros] [जिसका खेत मिल गया हो], "अंखि-अलोस्" [ankhialos] [समुद्रतटके समीप, स० उपकूलम्]।[2]

संस्कृतमें दो प्रकारके द्वन्द्व समास पाये जाते हैं। इनमें प्रथम कोटिके अन्तर्गत दोनों ही पद विशेषण होते हैं, यथा नीललोहित, ताम्रधूम्र, अरुण-पिशङ्ग में। इस प्रकारके समास वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं, किन्तु इनका प्रयोग कम ही पाया जाता है।[3] दूसरे प्रकारके द्वन्द्वोंमें दोनों ही पद संज्ञा होते हैं। इन्हें भी पुनः दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं, [१] देवताद्वन्द्व; [२] साधारणद्वन्द्व। देवताद्वन्द्वोंमें प्रायः दोनों पद द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं, तथा दोनों पदोंमें स्वतन्त्र रूपसे उदात्त स्वर पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम "मित्रा-वरुणा", "सूर्या-चन्द्रमसा" को ले सकते

---

१. Wackernagel Altindische Grammatik vol. II. P. 305.
२. ibid vol II P 310
३. Wackernagel Altindische Grammatik P. 171;74[B]

हैं। ऐसा जान पड़ता है, इस प्रकारके समासोंमें युग्म होनेके कारण दोनोंको द्विवचन मान लिया गया है। कभी कभी ऐसे भी प्रयोग पाये जाते हैं, जहाँ ये पद समस्त न होनेपर भी द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं, यथा—

इन्द्रा नु पूषणा [ऋ. ६७, ५, ७१], इन्द्रान्वग्नी [६, ५६, ३],

विष्णू अगन् वरुणा [तै. आ. २.६.४.५]

चक्षु र्महि मित्रयो रा मेति प्रियं वरुणयोः [६.५१.१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समासमें देवताद्वन्द्वपद प्रायः सविभक्तिक रूप में पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें 'मित्रयो-र्वरुणयो' [ऋ. ७, ६६, १] जैसे समस्त पदोंकी उपलब्धि होती है, जहाँ पूर्व तथा उत्तर दोनों पद षष्ठी द्विवचन में है।[1] इस प्रकारकी प्रवृत्ति हम अवेस्तामें भी पाते हैं, जैसे 'अहुरएब्य-मिथ्रएब्य' [ahuraebya miθraebya], जो संस्कृतके असुरेभ्यो-मित्रेभ्य के द्वारा अनूदित किया जा सकता है। बाद में जाकर धीरे धीरे ऋग्वेदमें ही ये द्वन्द्व उस विकासकी ओर बढते प्रतीत होते हैं, जो लौकिक संस्कृतमें पाया जाता है। ऋग्वेदमें ही कई स्थानोंपर बादमें 'सूर्या-चन्द्रमसा' के प्रथम पद 'सूर्या' के 'र्या' वाले अक्षर [syllable] का उदात्त स्वर लुप्त हो गया है, तथा उसकी बादकी ऋचाओंमें 'इन्द्र-वायू' [प्राचीनरूप 'इन्द्रा-वायू'] जैसे रूप पाये जाने लगे हैं। इन्हींसे मिलते जुलते द्वन्द्व वे हैं, जिनमें द्वन्द्व पद बहुवचनमें पाया जाता है, यथा अहोरात्राणि [अघमर्षणसूक्त], अजावय [पुरुषसूक्त]। कुछ द्वन्द्व समाहृत होकर नपुंसकके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं, यथा इष्टा-पूर्तम्, कृता कृतम्, केशश्मश्रु।

---

१. ibid P 151-52 § 63 [C]

लौकिक संस्कृतमें जहाँ कहीं हम प्रथम पदमें द्विवचन देखते हैं, वे सब वैदिक कालीन द्वन्द्वोंके ही अवशेष हैं। संस्कृतमें बादमें आकर नवीन शब्दोंमें इनका सर्वथा लोप हो गया है, यथा राम-लक्ष्मणौ में। ये वैदिक कालीन द्वन्द्व कभी-कभी एक ही पदके द्विवचन रूपमें प्रयुक्त होते हैं, तथा इनके कुछ अवशिष्ट संस्कृतमें भी पाये जाते हैं। वेदमें द्यावा, मित्रा का प्रयोग द्यावा-पृथिवी, मित्रा-वरुणा के अर्थमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें भी हम पितरौ [जगतः पितरौ वन्दे] का प्रयोग माता-पितरौ के अर्थमें देखते हैं।

तत्पुरुष समासोंमें प्रथम पद किसी न किसी कारक [विभक्ति[1]] का बोध कराता है। इसमें यदि प्रथम पद कर्म, करण, अपादान अथवा अधिकरणका बोध कराता है, तो प्रायः द्वितीय पद धातुज संज्ञा [verbal noun] होता है। किन्तु यदि यह प्रथम पद सम्प्रदान अथवा संबंधका बोध कराता है, तो वह केवल संज्ञा होता है। उदाहरणके लिए क्रमशः गोघ्न, देवदत्त, पङ्कज [गो-ज], अहर्जात; विश्व-शम्भू [विश्वाय...], विश्पति, देव-किल्बिष को ले सकते हैं। कभी-कभी इनमेंसे प्रथम पदकी विभक्तिका लोप नहीं होता। इस प्रकारके समास वैयाकरणोंकी परिभाषामें 'अलुक्' कहलाते हैं। धनंजय; वाचास्तेन; दस्यवेवृक; दिवोज; ब्रह्मणस्पतिः, शुनःशेप, रथेष्ठा, सरसिज में यही अलुक् प्रवृत्ति पाई जाती है।[2] इस प्रकारकी प्रवृत्ति अवेस्तामें भी पाई जाती है; यथा वीरअम्-ज्न् [vīrəm-zan] [सं० *वीरंहन्]। इस संबंधमें यह कह देना आवश्यक होगा कि तत्पुरुष समास ऋग्वेदमें कम ही पाये जाते हैं। प्राचीन ग्रीकमें भी इस प्रकारके समास कम ही हैं। अधिकतर ये समास पद तथा पति के संयोगमें पाये जाते थे, यथा ग्रीक द-पेदोन [dapedon], देस्-पोतेस् [despotes] (प्रा० इ० *देम्पातेस् [dem-potes] — [मिलाइये सं० दम्पतिः [*दमन्पतिः]।

---

१. ibid pp 245 and following, § 99

२. ibid p 241 § 97 (a)

वैदिक सस्कृतमें कर्मधारय समास, जिनमें पूर्वपद विशेषण होता है, इनसे भी कम पाये जाते हैं। प्राचीनतम उदाहरण एक-वीरः, चन्द्र-माः, महा-धन हैं। कई कर्मधारयोंमें उपसर्ग भी प्रथम पदके रूपमें प्रयुक्त पाया जाता है, यथा प्रणपात्। कुछ उदाहरणोंमें प्रथम पद धातुज अश होता है यथा त्रसदस्यु, शिक्षा-नर, रदा-वसु, जिनमें वस्तुतः प्रथम पद लोट्के मध्यम पुरुप एकवचनका रूप है [शिक्षा तथा रदा मे पूर्व पदका अतिम स्वर अ दीर्घ हो गया है]।[1] लौकिक सस्कृतमे आकर ये कर्मधारय प्रचुरतामे पाये जाने लगे हैं।

बहुव्रीहि समास अन्य-पदार्थ-प्रधान होते है। प्राचीन भाषामें ये कर्मधारयकी अपेक्षा विशेप पाये जाते हैं। इस तथ्यसे यह निष्कर्प निकलता है कि ये समास वस्तुतः विशेपणीभूत कर्मधारय ही हैं, जिनमें शुद्ध कर्मधारयसे केवल यही भेद है कि इनमें उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर पाया जाता है। इस प्रकारके स्वरभेदको हम चतुर्थ परिच्छेदमे दिखा चुके हैं। तुलनात्मक भापाशास्त्रमें इन बहुव्रीहि समासोंका उद्भव एक प्रकारका सामस्यिक प्रश्न है। वाकेरनागेलके मतानुसार बहुव्रोहि समास वस्तुतः व्यस्त रूपोंसे विकसित हुआ है। वह बताता है कि इन्द्रज्येष्ठा देवा को इन्द्रो ज्येष्ठः · · देवाः से विकसित माना जा सकता है।[2] इस प्रकारके व्यस्त रूप जिनसे इन बहुव्रीहियोंका विकास माना जा सकता है, लैतिन तथा प्राचीन फारसीमें भी पाये जाते हैं। वाकेरनागेलने इसी सबधमे इन दोनों भापाओसे ये उदाहरण दिये है :—

उर्ब्स् अतीका फुइत, तीरी तेन्युएरे कोलोनी कार्थागो।

[urbs antica fuit, tiri tenuere coloni Carathago]

[कार्थेग [एक] प्राचीन नगर था, [जहाँ] तीरीन लोग निवासी थे]। सस्कृतमे इसे यों अनूदित कर सकते हैं, आसीत् कार्थागो [इति] पुरा-

1 ibid p. 316 § 120 (c)

2 Wackernagel Altindische Grammatik p 290 § 112 (c)

तना पुरी; तीरिणः [तीरिन.] निवासिनो बभूवुः। यहाँ हम 'तीरीन लोग रहते थे' के स्थान पर, इसे "जहाँ तीरीन लोग रहते थे" इस रूपमे समस्त बहुव्रीहि बनाकर "तीरिनिवासिनी" [तीरिणः निवासिनः यस्या सा] का प्रयोग भी कर सकते है। इसी प्रकार बहुव्रीहिका विकास माना जा सकता है। वाकेरनागेलका फारसीवाला उदाहरण यह है :—"मर्तिया फ्राद नाम" [martiya frada nāma], [एक मनुष्य, फ्राद [उसका] नाम [था]]। इसे भी संस्कृतमे "फ्रादनामा" के रूपमे बहुव्रीहि बनाया जा सकता है। इस सब विवेचनका तात्पर्य यह है कि यह समास व्यस्त वाक्यसे ही विकसित हुआ है। बहुव्रीहिके उदाहरणके रूपमे हम अश्वपृष्ठ, यमश्रेष्ठ, प्रयतदक्षिण, ऊम्रबाहु, हतमातृ, राजपुत्र, हिरण्यनेमि, दुष्पद, सुपर्ण, अपत् [अपात्] ले सकते है।

संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामके रूपोका विवेचन करनेके पूर्व हमे थोड़ा उन परिवर्तनोकी ओर ध्यान देना होगा, जो एक ही शब्दके विभिन्न रूपोमे पाये जाते है। जैसा कि हम देख चुके है सप्रत्यय या अ-विकरणयुक्त [थेमेटिक] नाम रूपोमे प्रायः एक अपरिवर्तनशील अन्तःप्रत्यय 'अ' [थेमा thema] पाया जाता है। किन्तु प्राचीनकालसे ही प्रत्ययहीन रूपोकी संख्या बहुत पाई जाती है, जिनके अंतर्गत अन्तःप्रत्यय [विकरण] स्वरकी मात्रा तथा उदात्तादिस्वरकी दृष्टिसे बड़ा भेद पाया जाता है।

पुरुषवाचक सर्वनामो [personal pronouns] तथा कतिपय निर्देशात्मक सर्वनामो [demonstrative pronouns] मे प्रायः एक ही प्रकारका अन्तःप्रत्यय पाया जाता है। अहम्, माम्, मम, स, सा, तत, तस्य, ते आदिमे। जिनमे मूलरूपमे रेफ, 'इ' 'उष्मध्वनि' या उ पाया जाता है, उनके कई रूपोमे प्रायः 'न' [अन्तःप्रत्यय] का प्रयोग होता है। वास्तवमे यह प्रयोग नपुंसक लिंगके रूपोकी ही विशेषता है। पुल्लिंग व स्त्रीलिंगमे यह बहुत कम पाया जाता है।

अहर् , अह्न., अह्नाम् [अवेस्ता अश्नम् [asˇnam]

असृक् , अस्न., हित्ताइत, एश्हर [esˇhaı], एश्नश् [esˇnasˇ]

अक्षि, अक्ष्णः

दधि, दध्न.

शिरष् , शीर्ष्ण.

यूष् [यूः], यूष्ण. [ऋग्वेद]

दोष् [दो.], दोष्ण.

दारु, द्रुण· [वैदिकरूप], दारुण. [लौकिक संस्कृत]

स्वरका परिवर्तन भी हम कई रूपोंमें देख सकते हैं, उदाहरणके लिए 'उ' कारान्तके दो प्रकारके परिवर्तन हम गुरो. [गुरु] तथा दिव. [द्यु] में देख सकते हैं। प्रा० भा० यू० में जहाँ ओ, ए तथा शून्य का परिवर्तन पाया जाता है, भारत ईरानी वर्गमें आ, अ, तथा शून्य [zero] पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम वृत्रहा, वृत्रहणम्, वृत्रघ्नः को ले सकते हैं जिनमें क्रमशः आ, अ तथा शून्य रूप पाये जाते हैं। ठीक यही रूप क्रमशः पिता, पितरं, पित्रे मे पाये जाते हैं।

संस्कृत शब्दरूपः—सस्कृत शब्दरूपोंमें तीन लिग, तीन वचन तथा आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं। सस्कृतके लिंग विधानके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि यह अशत. व्याकरणात्मक है, यही कारण है कि हमें 'दार' जैसे स्त्रीवाचक शब्दोंमें पुलिंग मिलता है, तो 'कलत्र' 'मित्र' जैसे अनपुसक वाची शब्दोंमे भी नपुसक लिंग। सस्कृत वैयाकरणोंने व्याकरणात्मक लिग विधानके नियमोंकी अवतारणा की है। प्रा० भा० यू० लिंगविधानके विषय मे विद्वानोंका यह मत है कि वहाँ मूलत दो ही लिंग रहे होंगे, एक 'सामान्य-लिंग' जिसमे पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग दोनों समाहित होते हैं, तथा दूसरा 'नपुसकलिंग'। हित्ताइत भाषामे इस प्रकारका लिंगविधान पाया जाता है, जहाँ स्त्रीलिंगका अभाव देखा जाता है। इसके बाद कहीं जाकर प्रा० भा० यू० के परवर्ती विकासमे स्त्रीलिगका विकास हुआ है। किन्तु जहाँ तक

द्विवचनके अस्तित्वका प्रश्न है, उसके चिह्न हित्ताइत तकमें पाये जाते हैं। संस्कृत, ग्रीक, तथा लिथुआनियन आदिके आधारपर मेये एव अन्य 'भाषा-शास्त्रियोंने प्रा० भा० यू० में द्विवचनका अनुमान किया है तथा हित्ताइत भाषाके विश्लेषणने उसकी पुष्टि कर दी है।

संस्कृत शब्दोंकी आठ विभक्तियोंमें जोड़े जानेवाले विभक्ति चिह्न निम्न हैं :—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०
प्रथमा	स्	—	औ [आ]	ई	अस्	इ[1]
द्वितीया	अम्	—				
तृतीया	आ [एन]	आ [एन]	भ्याम्	भ्याम्	भिस्	भिस्
चतुर्थी	ए	ए			भ्यस्	भ्यस्
पञ्चमी	अस्	अस्				
षष्ठी			ओस्	ओस्	आम्	आम्
सप्तमी	इ	इ			सु	सु
सम्बोधन	—	—	औ	ई	अस्	इ

संस्कृतके संज्ञारूपोंको अदन्त तथा हलन्तकी दृष्टिसे पुनः विभाजित किया जा सकता है। अदन्त शब्दोंको निम्न कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है:—

1. नपुंसक लिंगके बहुवचनमें अदन्त शब्दोंमें 'इ' के पूर्व 'न्' जोड़ दिया जाता है, यथा ज्ञानानि। यह 'न्' अघोष तथा ऊष्म व्यञ्जनके अन्तमें होने पर भी जोड़ा जाता है, यथा धनूंषि, जगन्ति, प्रयञ्जि।

[१] अकारान्त तथा आकारान्त शब्द.
[२] इकारान्त तथा उकारान्त शब्द.
[३] ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द
[४] ऋकारान्त शब्द.
[५] ध्वनियुग्मान्त [diphthong-ending] शब्द.

हलन्त शब्दोंको भी दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं।

[१] अपरिवर्तनशील अन्त वाले शब्द, इस कोटिके शब्दोंके रूपोंमे परिवर्तन नहीं पाया जाता, यथा जगत्, पात्, वाक् आदि।

[२] परिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त शब्द, इस कोटिके शब्दोंमें वे आते हैं, जो त्, न्, स् अथवा च् अन्त वाले प्रत्ययोंसे बनते हैं। महत्, कनीयस्, हस्तिन्, वृत्रहन्, प्रत्यञ्च् आदि इस कोटिके शब्दोंके उदाहरण हैं।

यहाँ हम केवल संस्कृत विभक्तिचिह्नोंका ही भाषावैज्ञानिक विकास देंगे। शब्दरूपोंका संकेत हमने परिशिष्ट 'ख' में किया है, जहाँ तुलनात्मक दृष्टिसे ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर अजत तथा हलन्त शब्दरूपोंका भी विवरण मिलेगा।

एकवचन रूप

संस्कृतके पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंगके प्रथमा एकवचनमें दो प्रकारके रूप पाये जाते हैं। कुछ रूपोंमें [प्रायः अदन्तोंमे] 'स्' [सुप्] विभक्ति-चिह्न जोड़ा जाता है। यह विभक्तिचिह्न अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, तथा ऊकारान्त शब्दोंमें तथा ध्वनियुग्मान्त शब्दोंमे नियत रूपसे जोड़ा जाता है। आकारान्त तथा ईराकान्त शब्दोंमें इस स् का प्रयोग कम पाया जाता है, जिसके उदाहरण विश्वपाः, [पु०], सुधीः, [पु०] श्रीः, ह्रीः [स्त्री०] दिये जा सकते हैं। हलन्त शब्दोंमें यह स् नहीं जोड़ा जाता। किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० *स् *[*–s]

[स० म्] कुछ हलन्तोंमें भी जोड़ा जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके वाक्, विद्, विद्वान् के समानान्तर रूपोंके लिए अवेस्ता वाग्श् [waxš], विश्, [wiš], ग्रीक एइदोस् [eidōs] [अर्थ, पण्डित या ज्ञानी] को लीजिये।[1] इससे स्पष्ट है कि संस्कृतके क्, ट्, न्, जो इन रूपोंमें पाये जाते हैं, सम्भवतः भारत-ईरानी प्रथमा विभक्ति चिह्न स् के ही अन्य विकसित रूप हैं। वैसे पिता, सखा, हर्त्ता, श्वा आदि रूपोंमें इस स् का सर्वथा अभाव है। अवेस्तामें हम इसे देख सकते हैं—पिता, हखा, स्पा [pitā; haxā; spā]। 'स्' के प्रयोगके लिए प्रा० भा० यू० रूपोंसे विकसित रूपोंके ये उदाहरण ले सकते हैं:—

वृक:	ग्रीक	लुकोस्	[lukos]
गिरि:	अवे०	गइरिश्	[gairiš]
क्रतु:	,,	ख्रतुश्	[xratuš]
द्यौः	ग्रीक	ज़ेउस् = *द्ज़ेउस्	[zeus = *dzeus]

इन शब्दोंके द्वितीया एकवचन रूपोंमें 'म्' विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है। यह म् हलन्त शब्दोंके रूपोंमें अम् हो जाता है, यथा * दधत्—दधतम्। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० स्वरीभूत *म् से माना जाता है, जो ग्रीकमें न तथा अ के रूपमें विकसित हुआ है।

संस्कृत अश्वम्	अवे०	अस्पअम् [aspəm]	ग्री०	हेप्पोन्	[heppo-n]
,, पादम्	,,	पाद्अम् [padəm],	,,	पोद	[poda]

यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ संस्कृतमें अदन्तोंमें म् जोड़ा जाता है, वहाँ ग्रीकमें "न" पाया जाता है, और हलन्तोंमें संस्कृतमें अम् जोड़ा जाता है, ग्रीकमें केवल अ ही पाया जाता है।

---

1. Bloch. L' Indo-Aryen. p 117.

संस्कृतमें नपुसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीयाके एकवचन दोनों एकसे ही होते हैं। इनमें भी हम दो प्रकारकी कोटियाँ विभक्त कर सकते हैं। अकारान्त शब्दोंमे 'म्' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, किन्तु अन्य स्वरान्त तथा हलन्त शब्दोंमे "शून्य [zero]" विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। इस सबधमें, पदरचनाशास्त्रमें इस "शून्य" के महत्त्वपर दो शब्द कह दिये जायँ। वस्तुत यह "शून्य [O]" भी ठीक वही कार्य करता है, जैसा कोई विभक्ति चिह्न या प्रत्यय। उदाहरणके लिए संस्कृतके 'क्विप्' प्रत्ययको ले लीजिये। यह क्विप् प्रत्यय वर्तमान काल [लट्] के प्रथम पुरुष एक-वचनके रूपको स्वरहीन बना देता है, पठत्, भवत्, कुर्वत्, किन्तु इसके साथ अन्य कोई ध्वनि नहीं जोड़ी जाती। अर्थात् ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे क्विप्का कोई महत्त्व भले ही न हो, किन्तु पदरचनाकी दृष्टिसे इसका महत्त्व मानना ही होगा। विशेष स्पष्टीकरणके लिए क्विप्-प्रक्रियाको भाषा-वैज्ञानिक यों व्यक्त करेगाः—

करोति [*कुर्वति] + क्विप् [O] = कुर्वत् + O = कुर्वत्
पठति + क्विप् [O] = पठत् + O = पठत्
भवति + क्विप् [O] = भवत् + O = भवत्

यहाँपर हमे कोई न कोई प्रत्यय मानना पड़ता है, भाषावैज्ञानिक उसे 'शून्य' [zero] कहेगा, पाणिनिने उसके लिए 'क्विप्' सज्ञा दी है। आजसे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनिने इस "शून्यके" पदरचनात्मक महत्त्वको भली भाँति समझा था। तभी तो ध्वनि, प्रत्यय आदिके लोपकी परिभाषा "अदर्शन लोपः" से उनका तात्पर्य मेरी समझमें यह था कि यद्यपि वह ध्वनि, प्रत्यय या विभक्तिचिह्न दिखाई नहीं देता, तथापि प्रकृतिमें विकार उत्पन्न करनेमें वह पूर्णत. शक्त होता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह विकार कभी कभी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता। नपुसक लिंगके हलन्त शब्दोंके प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन रूपोंमें प्राय. यही "शून्य" विभक्तिचिह्न [zero inflexion] पाया जाता है। जगत् शब्दके प्रथमा-द्वितीया एक-

वचनके रूप जगत् में भाषाशास्त्री स्पष्ट ही "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न मानेगा।

शब्द		विभक्तिचिह्न [प्रथमा द्वितीया-ए०व०]		पद
जगत्	+	O	=	जगत्
भवत्	+	O	=	भवत्
गच्छत्	+	O	=	गच्छत्

यदि ऐसे 'शून्य' विभक्तिचिह्नकी सत्ता न मानी जायगी, तो ये पद प्रथमा या द्वितीया एकवचनके रूपका बोध नहीं करा सकेंगे। नपुंसक लिंगके दोनों तरहके रूपोंके उदाहरण ये हैं:—

सं०	क्षत्रम्	अवेस्ता	ख्शथ्र्अम्	[xšaθrəm]
,,	मधु	,,	मडु	[maδu]
,,	स्वर्	,,	ह्वर्अ	[hwarə]
,,	मनः	,,	मनो	[mano]
,,	महत्	,,	मज़त्	[mazat]

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया एकवचनमें इ सुप् विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है। इस इ सुप् विभक्तिचिह्नको हम अक्षि, सक्थि, अस्थि, दधि में देख सकते हैं[1]। संस्कृतके इन तथाकथित इ-कारान्त नपुंसक लिंग शब्दोंमें वस्तुतः वह 'शून्य' विभक्तिचिह्न नहीं माना जा सकता, जिसे हम मधु, मनस् [:] या महत् में देख सकते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे इन प्रथमा द्वितीया एकवचन रूपोंको अक्ष [—न्], सक्थ [—न्], अस्थ [—न्] दध [—न्] रूपोंमें 'इ' विभक्तिचिह्न जोड़कर बनाया माना जा सकता है। इस प्रकारका इ सुप् प्रत्यय हम वारि में भी देख सकते हैं, जहाँ वार् + इ है। वार् शब्द संस्कृतमें स्वतन्त्ररूपमें भी पाया जाता है, जिसका उदाहरण 'वारां निधिः' में देखा जा सकता है। यही कारण है कि इन

1 Wackernagel Altindische Grammatik Vol 2 p 34 § 11(d)

शब्दोंके अन्य विभक्तिके रूपोंमें हम 'इ' का सर्वथा अभाव पाते है, यथा दध्न', दध्नाम्, अक्ष्णा, अक्ष्णे, आदि रूपों में। यदि 'इ' शब्दका ही ध्वनिभूत अश [ध्वन्यश] होता, तो *दधिन, *दधिनाम्, *अक्षिणा, *अक्षिणे रूप पाये जाने चाहिए थे, जैसा कि उकारान्त शब्दोंके रूपोंमे पाया जाता है, यथा मधु के इन रूपोंमें मधुन', मधुनाम।

तृतीया एकवचनमें कई प्रकारके सुप् चिह्न पाये जाते हैं। महर्षि पाणिनिने इन सभी तृतीयैकवचन विभक्तिचिह्नोंको 'टा' के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि इनमेंसे अधिकतर आ से विकसित हुए हैं, जो वेदमें पाया जाता है। स० वाचा [लौकिक सस्कृत वचसा भी], पदा, मनसा, ज्मा, क्षमा, वृत्रघ्ना, पित्रा जैसे तृतीयैकवचनान्त वैदिक तथा कुछ लौकिक सस्कृत रूपोंमें यही आ विभक्तिचिह्न है। सस्कृतके अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें तृतीया एकवचनका विभक्तिचिह्न "एन" [स० देवेन] देखा जाता है। ऋग्वेदमें ही यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु वहाँ साथ ही साथ 'आ' वाला रूप भी पाया जाता है। इस तरह वहाँ 'देवा' 'देवेन' दोनों रूप तृतीया एकवचनमें मिलते हैं। यह '–एन' वस्तुत. तेन, येन जैसे सर्वनाम शब्दोंके तृतीया एकवचन रूपोंके सादृश्य पर चला होगा। वाकेरनागेलने अन्य प्रकारके तृतीयैकवचनान्त सुप् विभक्तिचिह्नोंको इस तरह विभाजित किया है :—

आकारान्त रूपोंमें अया तथा आ विभक्तिचिह्नके रूप पाये जाते हैं। इकारान्त तथा उकारान्त रूपोंमे [इ] या, [उ]वा, इना, उना, तथा ई, ऊ इस प्रकार तीन तीन तरहके विभक्तिचिह्न पाये जाते है[1]। उदाहरणके लिए हम वैदिक सस्कृतसे आकारान्त शब्दोंके तृतीयैकवचनके विकल्प रूप स्वधा, स्वधया, जिह्वा, जिह्वया ले सकते है। इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके तृतीयैकवचन रूपोंमे प्राचीनतम रूप निःसन्देह ई तथा ऊ वाले है, यथा, वैदिक सं० चित्ती [लौ० स० चित्या], वै० स० क्रतू [लौ० स० क्रतुना]। वस्तुतः

1 ibid. p 34 35. § 12

प्राचीन भारतयूरोपीय तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्तिकी कल्पना *अ [*ə] के रूपमें की जा सकती है, जिसके कारण ह्रस्व इ, उ दीर्घ होकर तृतीयैकवचनान्त रूप बनेंगे। या तथा वा वाले रूप ईकारान्त देवी जैसे शब्दोंके रूप देव्या के सादृश्यपर पाये जाने लगे होंगे। इसी प्रकार तृतीया एकवचनका ना वाला विभक्तिचिह्न इनन्त शब्दोंके तृतीयैकवचनान्त रूपोंके सादृश्यपर बना होगा, यथा—

करि [न्]–करिणा : : हरि–हरिणा : : भानु–भानुना

चतुर्थी एकवचनमें 'ए' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जिसे प्रा० भा० यू० *अइ तथा *एइ का विकसित रूप माना जाता है। ग्रीकमें चतुर्थीके एकवचनमें ओइ का प्रयोग होता है, यथा लोगोइ [logoi] [अर्थ, शब्दके लिए]। अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'ए', 'आय' का रूप धारण कर लेता है, यथा देवाय। ईकारान्त रूपों [स्त्रीलिंग रूपों] में यह ऐ के रूपमें विकसित देखा जाता है, यथा देव्यै [देवीसे चतु० ए० व०]। आकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके चतुर्थी एकवचन रूपोंमें मूल शब्द तथा सुप् प्रत्ययके बीचमें याय अंश जोड़ दिया जाता है, यथा सूर्यायै [सूर्या ने चतु० एकवचन]।

पञ्चमी एकवचन तथा षष्ठी एकवचन दोनोंके रूपोंको साथ-साथ ही लिया जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, इन दोनोंका विभक्तिचिह्न अस् है। इसका अपवाद हम केवल अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाते हैं, जहाँ पञ्चमीमें आत तथा षष्ठीमें स्य विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं। पञ्चमीके इस आत् को हम प्रा० भा० यू० *ओद् [तथा *एद्] से जोड़ सकते हैं। यह *ओद्, आद् के रूपमें लैतिनमें भी पाया जाता है। ग्रीकमें वस्तुतः पञ्चमी [Ablative] का ही अभाव है¹। लैतिनमें तो सम्भवतः यह स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी पाया जाता होगा। लैतिनके 'मेन्साद् [mensād] [टेबुलसे], अम्नोद् [amnōd] [नदीसे], इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि संस्कृतके 'देवात्–द्' के

१ देखिए परिशिष्ट ग।

सदृश विभक्तिचिह्न वहाँ पाया जाता है[1]। षष्ठीके एकवचनमे प्रा० भा० यू० में *एस् तथा ओस् विभक्तिचिह्न की कल्पना की गई है, जो पञ्चमीका भी विभक्तिचिह्न था। संस्कृतका 'अस्' विभक्तिचिह्न इसीसे विकसित हुआ है, जो हरे: [हरि + अस्], विष्णोः [विष्णु + अस्] में स्पष्ट है। यहाँ यह रूप पञ्चमी तथा षष्ठी दोनोंके एकवचनमें पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दोंके षष्ठी एकवचनका स्य विभक्तिचिह्न वस्तुतः सर्वनाम शब्दों के षष्ठी एकवचनका विभक्तिचिह्न था। धीरे धीरे तस्य, यस्य के सादृश्य देवस्य आदि रूपोंका विकास हुवा है। षष्ठीका विभक्तिचिह्न स् के रूपमें ग्रीक तथा लैतिनमें भी विकसित हुवा है :—ग्रीक, खोरास् [khōras] [देशका], पोलिओस् [polios] [पुरीका, सं० पुरः, पुर्याः], लैतिन, मेन्सास [mensas] [टेबुलका], सिउइस् [oiuis] [नागरिकका]। यह संस्कृत पञ्चमी-षष्ठी विभक्तिचिह्न अस् इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंमें ए॰ तथा ओ॰ रूप धारण कर लेता है। ऋकारान्त शब्दोंमें यह उ॰ [सं० पितु] पाया जाता है।

सप्तमी एकवचनका चिह्न 'इ' है। यह 'इ' विभक्तिचिह्न मनसि, नरि, विशि, तन्वि में तथा दूरे, हस्ते, देवे [अ + इ = ए] में स्पष्ट है। हलन्त शब्दोंके सप्तम्यैकवचन रूपोंमें भी यह 'इ' विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस 'इ' का विकास कहीं-कहीं ग्रीक भाषामें भी मिलता है, यथा ग्रीक पोलि [poli] [सं० पुरि]। वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे सप्तम्यन्त [एकवचन] रूप भी मिलते हैं, जिनमें कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता। वस्तुतः इन रूपोंमें "शून्य–विभक्तिचिह्न" [zero-inflexion] होता है। वैदिक भाषामें इकारान्त, उकारान्त, ईकारान्त तथा 'अन्' अन्त वाले शब्दोंके सप्तमी एकवचनके रूपोंमें कोई ध्वन्यात्मक विभक्तिचिह्न [phonetic inflexion] नहीं पाया जाता, उदाहरणके लिए, "परमे व्योमन्" यहाँ

1 Atkinson Greek Language p 82

व्योमन् वस्तुतः सप्तम्येकवचनान्त रूप है, जो लौकिक संस्कृतमें व्योम्नि बन जाता है। कुछ ऐसे भी हलन्त शब्दोंके सप्तमी ए० व० रूप हैं, जो शून्य रूपोंसे लगते हैं, यथा अहर्। इन अर् अन्तवाले रूपोंको सप्तम्यन्त माना जाय, या स्वर् की भाँति केवल क्रियाविशेषण ? वस्तुतः ये सभी शून्य रूपवाले अथवा शून्य विभक्तिचिह्न रूप आरम्भमें क्रियाविशेषण ही थे। बादमें आकर इनके साथ भी सुप् प्रत्यय इ का प्रयोग होने लग गया होगा। किन्तु अन् अन्तवाले शब्दोंमें भारत-ईरानी वर्गतक यह इ का प्रयोग नहीं पाया जाता। वेदोंमें यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, यथा अहन्, अश्मन् जो सप्तम्यन्त रूप हैं। वैदिक भाषामें ईकारान्त तथा ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके सप्तमी एकवचन रूपोंमें "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा नदी, तनू, चमू। इन रूपोंको अकारान्त शब्दोंके रूपोंके सादृश्यपर जनित माना जा सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत दम शब्दका सप्तमी एकवचनका दमे तथा बहुवचनका दमेषु रूप होता है; इसी आधारपर ये रूप यों बने होंगे—

दमे : दमेषु : : नदी : नदीषु : : चमू : चमूषु : : तनू : तनूषु

संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जानेवाला औ [हरौ, भानौ] आ० भा० यू० न होकर भारत-ईरानी वर्गकी विशेषता है। यह *औ अवेस्तामें ओ तथा अव के रूपमें पाया जाता है। यह *औ विभक्तिचिह्न आरम्भमें केवल उकारान्त शब्दोंकी ही विशेषता थी, तथा इकारान्त शब्दोंका विभक्तिचिह्न *आइ रहा होगा। धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर अग्नौ, गिरौ, इष्टौ में भी यह चिह्न पाया जाने लगा। इस *आइ का संकेत हम वैदिक संस्कृतके कुछ सप्तमी ए० व० रूपोंमें, जैसे धुता, अग्ना में पा सकते हैं, जहाँ यह चिह्न ध्वनिपरिवर्तनके कारण केवल 'आ' रह गया है। इनका प्राचीन रूप हम *धुताइ, *अग्नाइ मान सकते हैं[1]।

---

१. Bloch : L'Indo-Aryen P 119.

सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें स्त्रीलिंग रूपोंमें एक और विभक्ति चिह्न पाया जाता है,—"आम्"। यह आम् आकारान्त, साथ ही ह्रस्व एवं दीर्घ इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० *आइ [आ + इ] से मानी जा सकती है, जिसका प्रयोग आकारान्त शब्दोंमें पाया जाता था। यह *आइ विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गमें आकर *आया के रूपमें विकसित हुआ, तथा अवेस्तामें "अय" के रूपमे पाया जाता है।[१] संस्कृतमें आकर इसमें अम् जोड़ दिया गया है, और इस तरह यह विभक्तिचिह्न ठीक उसी तरह आयां [आया + अम्] बन गया है, जैसे अवेस्ताका तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी द्विवचनका विभक्ति-चिह्न ब्य [bya] संस्कृतमे भ्याम् हो गया है। सप्तमी एकवचनके ये रूप दोनों भाषाओंके इन समानान्तर उदाहरणोंमें देखे जा सकते हैं :—

सं० ग्रीवायाम्, अवेस्ता ग्रीवय [griwaya]

संबोधन एकवचनके रूपोंमें प्रायः शून्य विभक्ति रूप ही पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दोके इन रूपोंमे शून्य विभक्तिचिह्न पाया जाता है। किन्तु ग्रीकमें इनके समानान्तर ओकारान्त शब्दोंके संबोधनके एकवचन रूपोंमें ए [e] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यथा लोगे [loge] [हे शब्द]। किन्तु अन्य अन्तवाले ग्रीक शब्दोंके इस विभक्तिके ए० व० रूपोंमे कोई चिह्न नहीं पाया जाता, जब कि संस्कृतके आकारान्त शब्दोंके रूपोंमे 'ए' अन्तवाले रूप [सं०रमे = रमा + इ], इकारान्त तथा उकारान्तोंमें ए तथा ओ अन्तवाले रूप [हरे ∠ *हरि + आ = *हरा + इ], [भानो ∠ *भानु + आ = *भाना + उ], तथा ईकारान्त रूपोंमें दीर्घ ईकारका ह्रस्व इ पाया जाता है, [देवि, नदि]। हलन्तोंमें ये रूप प्रायः मूल रूप या

1 Wackernagel Altindische Grammatik Vol. III. P 43§16 [1]

२. वर्णविपर्यय हो गया है।

शून्य विभक्तिचिह्न युक्त ही पाये जाते हैं। लैतिन भाषाके संबोधन एक-वचन रूपोंमें केवल कुछ ही शब्दोंके साथ ए विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस सम्बन्धमें '—वन्त' शब्दोंमें सम्बोधन एकवचन रूपोंमें प्रायः 'स्' पाया जाता है, यथा इन रूपोंमें—चिकित्वः, ऋतत्वः, ओजीयः।

द्विवचन रूप

संस्कृतके द्विवचन रूप, भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय, तो आठ विभक्तियोंमें केवल तीन ही तरहके पाये जाते हैं। प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधनमें औ विभक्ति चिह्न [यथा, देवौ], तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीमें भ्याम् विभक्तिचिह्न [यथा, देवाभ्याम्], षष्ठी तथा सप्तमीमें योः विभक्ति चिह्न [यथा देवयोः] पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि द्विवचन संस्कृतमें एक भिन्न वचनके रूपमें पाया जाता है, फिर भी रूपोंकी अल्पता तथा समस्त विभक्तियोंमें अलग-अलग रूपोंका न होना, भविष्यमें द्विवचन-के लोपका पूर्वचिह्न कहा जा सकता है। लैतिनमें तो यह द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। लिथुआनियन, गॉथिक तथा प्राचीन ग्रीकमें इसके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें भी संस्कृतकी भाँति द्विवचनके रूप संकुचित ही हैं। सारी छः विभक्तियोंमें केवल दो ही द्विवचन रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए 'लोगोस्' [logos] शब्दके प्रथमा [nominative], द्वितीया [accusative], तथा सम्बोधन [vocative] के द्विवचनके रूपोंमें लोगो [logo], तथा शेष विभक्तियोंके रूपोंमें लोगोइन् [logoin] रूप पाये जाते हैं। द्विवचनका रूप वस्तुतः प्रा० भा० यू० में बहुत कम रहा होगा। इसका प्रयोग उन दो वस्तुओंके लिए पाया जाता होगा जो युग्मोंमें पाई जाती थीं।[1] दो हाथ, दो पैर, दो कान, दो आँखके युग्मोंके आधारपर द्विवचन-का जन्म हुआ। धीरे धीरे वैदिक संस्कृतमें उन दो देवताओंके लिए भी

[1] Otto Jespersen The Philosophy of Grammar P. 205.

यह द्विवचन प्रयुक्त होने लगा, जो युग्म रूपमे आहूत किये जाते थे, मित्रावरुणा, नासत्या, अश्विना, इन्द्राग्नी, द्यावापृथिवी। आगे जाकर माता-पिता, पति-पत्नी आदिके युग्मके लिए भी पितरौ, दम्पती जैसे द्विवचनान्त रूपोंका प्रयोग होने लगा। इसके बाद तो द्विवचनका प्रयोग किन्हीं दो चीजोंके भाव-बोधनके लिए होने लगा।

संस्कृतके अकारान्त तथा हलन्त शब्दोंमें आ [औ] विभक्तिचिह्नका प्रयोग प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधनमें पाया जाता है। यह आ प्रा० भा० यू० *ओ [व्] से विकसित हुआ है, जो ग्रीकमें ओ [Ō] तथा भारत-ईरानी वर्गमें आ पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें हम इन द्विवचन रूपोंको ले सकते हैं, वैदिक संस्कृतके रूप—नासा, नरा, श्वाना, पादा [पादौ], पितरा [पितरौ], बृहन्ता, हस्ता [हस्तौ][1]। इस सम्बन्धमें यह कह दिया जाय कि अवेस्तामें जहाँ आकारान्त शब्दोंके इन विभक्तियोंके द्विवचन रूपोंमे ओ पाया जाता है, वहाँ हलन्त शब्दोंके इन रूपोंमे आ पाया जाता है, यथा—

अवेस्ता	जस्तो [zasto]	वै० संस्कृत	हस्ता [हस्तौ]
,,	स्पान [spana][2] [*स्पाना]	,,	श्वाना
,,	नर [nara][3] [*नरा]	,,	नरा

इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंकी इन विभक्तियोंके द्विवचनरूपोंमें ई तथा ऊ अन्त वाले रूप पाये जाते हैं। इन्हें हम प्रा० भा० यू० 'श्वा'

१. ये सब वैदिक संस्कृतके रूप हैं। लौकिक संस्कृतमें विभक्ति चिह्न सदा 'औ' होता है।

२ अवेस्तामें यह द्विवचन चिह्न 'आ' ह्रस्व होकर अ के रूपमें पाया जाता है जैसे नर [*नरा], स्पान [*स्पाना]। कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह अवेस्ता ग्रन्थकी लिपिकी विशेषताके कारण हो गया है, वस्तुतः यह दीर्घ [आ] ही है।

*'अ' *[ə] से विकसित मान सकते हैं। पती, अग्नी, बाहू, भानू में यह दीर्घत्व पाया जाता है। आकारान्त शब्दोंमें ए अन्त वाले रूप पाये जाते हैं, जो प्रा० भा० यू० *अइ का विकसित रूप है। यह रूप संस्कृतके यमे, उर्वरे, उभे में पाया जाता है। नपुंसकलिंग शब्दोंमें [अकारान्तको छोड़कर] ई का प्रयोग पाया जाता है, यथा वचः से वचसी। इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त नपुंसक शब्दोंके इन रूपोंमें बीचमें 'न्' अन्तःप्रत्ययका प्रयोग होता है, यथा अक्षि-णी; मधुनी, जानुनी, कर्तृणी।

तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीका विभक्तिचिह्न भ्यां है। अवेस्तामें इसका ब्यम् तथा ब्यां [*ब्या] रूप पाया जाता है। प्राचीन फारसीमें आकर यह रूप बिया हो गया है। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में *"भ्" के साथ ही ऐसे सुप् प्रत्ययोंमें *"म्" वाले रूप भी पाये जाते थे, तथा ये *म् वाले रूप बाल्तो-स्लाविक-वर्गकी भाषाओंमें विकसित हुए हैं। इस सम्बधमें अवेस्ता तथा संस्कृतके रूप विशेष समीप हैं, यथा संस्कृत पितृभ्याम्, अवेस्ता नरब्य [narabya] [सं० नराभ्यां; नृभ्यां,], ब्रवत्ब्यम् [brawatbyam] [सं० भ्रुवद्भ्याम्]। अवेस्तामें किन्हीं शब्दों [प्रायः अकारान्त शब्दों] के इन रूपोंमें स्वरको दीर्घ करनेके स्थानपर ध्वनियुग्म [diphthong] का प्रयोग पाया जाता है, जब कि संस्कृतमें मूल शब्दका अंतिम स्वर दीर्घ हो जाता है संस्कृत हस्ताभ्याम्, अवेस्ता ज़स्तएब्य [zastaebya], प्राचीन फारसी दस्तइबिय [dastaibiya]।

संस्कृतमें षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचनका विभक्ति चिह्न ओस् [अयो] दो प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्नोंका सम्मिलित रूप माना जाता है। भारत-ईरानी *अउ, अवेस्ता ओ तथा भारत-ईरानी *आस् अवेस्ता अस्, जो क्रमशः सप्तमी तथा षष्ठीके विभक्तिचिह्न हैं, प्राचीन संस्कृतमें उभयोः के रूपमें विकसित हो गये थे। अत: ओस्की उत्पत्ति प्रा० भा० यू० -*[ओय्],

*ओउस् से मानी जाती है[1]। यह विभक्तिचिह्न ग्रीककी विभाषाओंमें आइओइस् [οιοις] के रूपमे विकसित हुवा है।

जैसा कि हम अष्टम परिच्छेदमे देखेंगे भारतीय आर्य भाषाओंमे प्राकृत-कालमे आकर द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। वहाँ द्विवचनका स्थान बहुवचनमे ले लिया है। लौकिक संस्कृतमें द्विवचन अवश्य पाया जाता है।

बहुवचन रूप

लौकिक संस्कृतके प्रथमा बहुवचनमें 'अ·' [अस्] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है वैदिक संस्कृतमें अकारान्त शब्दोंमें प्रथमा बहुवचनमें "अस " विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है, यथा देवासः [देव + अस·] में। संस्कृतके इस अस् को प्रा० भा० यू० *आस् से विकसित माना जा सकता है। ग्रीकके प्रथमा बहुवचनमें इ तथा एस् दो तरहके विभक्तिचिह्न वाले रूप पाये जाते हैं। जहाँ तक संस्कृतके असस् वाले रूपका प्रश्न है, उसका संबंध इस एस् से जोडा जा सकता है। सोस्यूर तथा ब्रुगमानके मतानुसार संस्कृतके ये दोनों चिह्न प्रा० भा० यू० *आस्-एस् के विकसित रूप हैं।[2] वैदिक संस्कृतमें अस् तथा असस् वाले दोनो रूप एक साथ पाये जाते हैं, यथा,

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास· [ऋ वे ५ ५९·६]
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते [ऋ ५·६०·५]
हर्षमाणासो धृपिता मरुत्व· [ऋ १०·६४·१]
हर्षमाणा हृपितासो मरुत्वन् [अथ वे ४ ३१·१]

हलन्त शब्दरूपोंमें केवल अस् विभक्तिचिह्न ही पाया जाता है, जो उसी प्रा० भा० यू० चिह्नका रूप है, यथा आप·, धीमन्त·। यह अस् अकारान्त

१ Wackernagel Altindische Grammatik Vol III p 57 § 22 [C]

२ Wackernagel Altindische Grammatik p 101 § 41 [d]

तथा आकारान्त शब्दोंके अतिरिक्त अन्य अदन्तोंमें भी पाया जाता है, यथा गिरयः, भानवः, गावः, नावः। प्रथमा बहुवचनकी दृष्टिसे नपुंसकलिंगके रूपोंका विशेष भाषावैज्ञानिक महत्त्व है। लौकिक संस्कृतमें इनमें इ विभक्ति-चिह्न पाया जाता है, जिसके पूर्व एक अनुनासिक [न] अन्तःप्रत्ययका समावेश पाया है। इस प्रकार अदन्तोंमें,—"...आनि", .."ईनि" "...ऊनि" "...ॠणि"[1] अन्त वाले रूप पाये जाते हैं। इन रूपोंको हम प्रथम कोटिके नपुंसक प्रथमा बहुवचन रूप मानते हैं। द्वितीय कोटिमें वे शब्द आते हैं, जो हलन्त हैं। इनके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भी इ ही है तथा उसमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है,—आनि, अञ्चि, अन्ति[2]। जिन नपुंसक हलन्त शब्दोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व कोई अनुनासिक तत्त्व होता है, वहाँ प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व अनुनासिक तत्त्वका समावेश कर दिया जाता है,—"आंसि [यथा पयस्, पयांसि], ईंपि [हविष्, हवींषि], ऊंषि [धनूंषि], यह तीसरी कोटि है। चौथी कोटिमें शक्, युज् जैसे हलन्त शब्द आते हैं, जिनके शङ्कि, युञ्जि जैसे रूप बनते हैं। ये पहले तृतीय कोटिमें ही रहे होंगे।

वैदिक संस्कृतके नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन सर्वथा भिन्न रूपमें मिलते हैं। प्रथम कोटिके रूपोंमें नि के प्रयोगके साथ साथ केवल आ, ई, ऊ अन्तवाले रूप भी मिलते हैं, जिनमें नि विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, यथा 'नामानि गुह्या [६.४१.५] अमर्ता वृतानि [१.१६५.७], उरू वरांसि [१०.८६.२]। द्वितीय कोटिके शब्दोंमें वेदमें आ तथा आनि दोनों अन्तवाले रूप पाये जाते हैं, यथा नामा, नामानि। वैदिक संस्कृतमें तृतीय कोटिके रूप तो पाये जाते हैं, पर चतुर्थ कोटिके नहीं। अतः वैदिक संस्कृतके रूपोंको दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है :— [१] हलन्त शब्दोंके रूपोंमें इ विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जैसे,

---

१. यथा, ज्ञानानि, वारीणि, मधूनि, कर्तॄणि।

२. यथा नामानि, प्रत्यञ्चि, जगन्ति।

चत्वारि, [२] अदन्त शब्दोंमें प्रायः अंतिम स्वर ध्वनिको दीर्घ कर दिया जाता है, किन्तु कभी कभी इ, उ ह्रस्व रूप भी पाये जाते है, यथा **भूरि वृतानि** ['भूरीणि वृतानि', के स्थानपर]। इनके अतिरिक्त **नि** [न्+इ] वाले रूप भी पाये जाते हैं, जो संभव है, हलन्त शब्दोंके सादृश्यपर बने होंगे, क्योंकि अन्य भाषाओंमें इनका कोई चिह्न नहीं मिलता। यह 'इ' अवेस्तामें पाया जाता है, स० **नामानि**, अवे० **नामअनि** [namǝni]। यूरोपीय आर्य भाषाओंमें यह इ नहीं मिलता, इसके स्थानपर अ मिलता है, यथा ग्रीक **ओनोमत** [onomata], लै० **नोमिन** [nomina] गॉथिक, **नम्न** [namna]। यह तथ्य इस बातका संकेत करता है कि प्रा० भा० यू० में नपुंसक लिंग शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका चिह्न "श्वा"—[*अ] [*ǝ] रहा होगा। संस्कृतमें इस विभक्तिचिह्नमें जो 'न् [+इ]' पाया जाता है, वह संभवतः उन शब्दोंके रूपोंके आधारपर जोड़ा जाने लगा होगा, जिनमें मूल रूपमें अनुनासिक ध्वनि अन्तमें थी, यथा **नाम** [न्]—**नामानि : ' फल—फलानि**। इस प्रकार **नामानि** के सादृश्यपर **फलानि** रूप बने होंगे। धीरे धीरे यह न्, इ में जुड़कर नि के रूपमें एक विभक्तिचिह्न ही बन गया। आरंभमें आ, ई, ऊ रूप इसी 'श्वा' [ǝ] के कारण पाये जाते हैं, धीरे-धीरे इनमें भी 'नि' जोड़ा जाने लगा।

संस्कृत अदन्त पुल्लिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपों "आन्" विभक्तिचिह्न पाया जाता है। हलन्तोंमें यह विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, वहाँ द्वितीया बहुवचनका विभक्तचिह्न "अस्" है, जो प्रथमा बहुवचनमें भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी यह विभक्तिचिह्न "अस्" [स्] के रूपमें ही पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमें "आन्" विभक्तिचिह्न केवल अदन्त पुल्लिंग शब्दोंकी ही विशेषता है। किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह चिह्न प्रा० भा० यू० में स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी प्रयुक्त होता रहा होगा। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० *म्स् या *न्स् [*ms, *ns] से माना जा सकता है। ग्रीकमें जाकर द्वितीया बहुवचनका

यह विभक्तिचिह्न अस् के रूपमें विकसित हो गया; यथा ग्रीक पतेरस् [pater-as] [सं० पितॄन्] ।

संस्कृतमें अदन्त स्त्रीलिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनमें एक विशेषता पाई जाती है, जो संस्कृतमें बादमें उत्पन्न हुई है, किन्तु इसके बीज हम प्रा० भा० यू० में ही पा सकते हैं। संस्कृतके इन स्त्रीलिंग शब्दोंमें हम देखते हैं कि द्वितीया बहुवचनमें न् अन्तवाले रूप नहीं पाये जाते। वहाँ आः, ईः, ऊः, ॠः [यथा रमाः, रुचीः, ऊरूः, मातॄः] अन्तवाले रूप पाये जाते हैं। अन्य भारोपीय भाषाओंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्रा० भा० यू० ईन्, ऊन्, ॠन् का प्रयोग स्त्रीलिंग शब्दरूपोंमें रहा होगा। प्रा० भा० यू० *आ. *ओ-कारान्त शब्दोंमें जिनसे संस्कृतमें क्रमशः पुल्लिंग अकारान्त तथा स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंका विकास हुआ है, द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें परस्पर भेद था। पुल्लिंग शब्दोंके रूपोंमें *न्स् विभक्तिचिह्नका प्रयोग रहा होगा, जब कि स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें अनुनासिक तत्वका अभाव रहा होगा, तथा केवल *'स्' विभक्तिचिह्न ही प्रयुक्त होता होगा। यही विभक्तिचिह्न ग्रीकमें आस् तथा गॉथिकमें ओस् के रूपमें विकसित हुआ है। किन्तु इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त शब्दोंके रूपोंमें ऐसा विभक्तिचिह्न प्रयुक्त नहीं होता था, तथा उनमें न् वाले रूप ही प्रचलित थे। बादमें संस्कृतमें आकर आकारान्त रूपों के सादृश्य पर इन स्त्रीलिंग शब्दोंसे भी न् वाले रूप हटा दिये गये[१] ।

तृतीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भिस् है। अकारान्त शब्दोंमें यह विभक्तिचिह्न ऐः भी पाया जाता है। यह विशेषता अवेस्तामें भी पाई जाती है, जहाँ तृतीया बहुवचनमें 'बिश्' [biš] तथा 'अइश्' [aiš] दोनों विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं, यथा सं० मर्त्यैः, मर्त्येभिः, अवेस्ता मश्यइश् [mašyaiš], प्राचीन फारसी मर्तियइबिश् [martiyaibiš]। होमरकी ग्रीकमें इस भिस् के समानान्तर फि रूप मिलता है, बादकी ग्रीकमें

१ Wackernagel Altindische Grammatik vol III. p 59 §25

आकर यह तृतीया विभक्ति लुप्त हो गई है। होमरमें 'नउफि' [nauphi] रूप पाया जाता है, जो संस्कृतमें नौभिः है। भिस् के संबधमें एक बात यह बता दी जाय कि अकारान्त शब्दोंमें इसका रूप एभिस् [देवेभि.] पाया जाता है। यह ए वस्तुतः सर्वनामोंमें प्रथमा बहुवचनमें पाया जाता है [सर्वः, सर्वे]। यह ए बहुवचन-मात्रका बोधक समझा जाकर एभि , एभ्य' के रूपमें तृतीया, चतुर्थी-पञ्चमीके बहुवचनके रूपोंमें जोड़ा जाने लगा। इसी प्रकार द्विवचन रूपोंके भ्याम् में भी आ जोड़कर आभ्याम् विभक्तिचिह्न बना दिया गया, जहाँ आ [देवः, देवा] ठीक उसी तरह द्विवचनका बोधक माना गया, जैसे ए बहुवचन का। किन्तु ये वैकल्पिक प्रयोग केवल अकारान्त शब्द रूपोंमें ही वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं। अन्य शब्दोंमें केवल भ्याम्, भिस् , भ्यस् , [विष्णुभ्यां, विष्णुभिः, विष्णुभ्य] का ही प्रयोग होता है। जैसा कि हम बता आये हैं, वेदमें अकारान्त शब्दोंमें देवै तथा देवेभि' जैसे दोनों रूप पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें दोनों रूपोंका समान प्रयोग पाया जाता है, किन्तु अथर्ववेदमें आकर एभि' वाले रूप कम हो गये हैं। तैत्तरीय संहिता [यजुर्वेद] के गद्यभागमें 'एभिः' के रूपोंका सर्वथा अभाव है। लौकिक संस्कृतमें आकर ये रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं। वेदसे इन वैकल्पिक रूपोंके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

यातं अश्वेभिरश्विना [ऋ० ६·५ ७]
आदित्यै र्यातमश्विना [ऋ० ८·३५·१३]
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभि [ऋ० १० १४·५]
अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह [अ० वे० २६·१·५६]

चतुर्थी-पञ्चमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न भ्यस् है, जो अकारान्त शब्दोंके पूर्व एभ्य पाया जाता है, इसे हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। ग्रीकमें यह रूप नहीं मिलता, क्योंकि वहाँ पञ्चमी विभक्ति नहीं पाई जाती, चतुर्थी बहुवचनके चिह्न वहाँ 'अइ', 'एइ' दो तरह के हैं। लैतिनमें इसका रूप बुस मिलता है, यथा पत्रि-बुस् [patri-bus] [सं० पितृभ्य]। बाल्तो-स्लाव

जिसमें 'भ्' के स्थानपर म्—[मुस्] रूप पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप *भोम् माना जा सकता है। इस संबंधमें यह कह दिया जाय कि तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीके द्विवचन तथा बहुवचनके सुप् चिह्नोंमें वास्तविक विभक्त्यंश भि है। यही भि, भ्याम् [भि+आम्], भ्यः [भि+अस्] के रूपमें पाया जाता है।

षष्ठी बहुवचनका विभक्तिचिह्न आम् है, जो प्रा० भा० यू० *ओम् से विकसित हुवा है। अवेस्तामें यह अम्, ग्रीकमें ओन् [ōn], तथा लैटिनमें उम् [um] के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतके अदन्त शब्दोंमें यह आम् अनुनासिक अन्तःप्रत्ययसे युक्त होकर नाम् के रूपमें मिलता है। इन शब्दोंके षष्ठी बहुवचन रूपोंमें मूल शब्दकी अंतिम स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है—देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम्, पितॄणाम्। अवेस्तामें भी अदन्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'नम्' पाया जाता है, जब कि हलन्त शब्दोंके रूपोंमें केवल अम् ही पाया जाता है।

सं०	गिरीणाम्	अवे०	गइरिनम्	[gairinam]
	अपाम्		अपम्	[apam]
	बृहताम्		ब्अर्अज़तम्	[bərəzatam]

सप्तमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न सु है। यह विभक्तिचिह्न अवेस्ता तथा प्राचीन पारसीमें हु, शु तथा हु के रूपमें पाया जाता है। ग्रीकमें यह विभक्तिचिह्न सि [σι] पाया जाता है; जो प्रायः चतुर्थी बहुवचन [Dative plural] के अर्थमें प्रयुक्त होता है। वस्तुतः यह सप्तमीका ही रूप है, जो चतुर्थीमें घुल मिल गया है। प्राचीन चर्च स्लॉविक [स्लव वर्गकी एक भाषा] में यह विभक्तिचिह्न शु के रूप में मिलता है। इन तुलनात्मक रूपोंसे स्पष्ट है कि सप्तमी बहुवचनका प्रा० भा० यू० चिह्न *स् था। इस *स् में बादमें ग्रीकमें इ [स् + इ = सि], तथा अन्य कई भाषाओंमें उ [स् + उ = सु] जोड़ दिया गया। थर्नाइसन नामक पाश्चात्य विद्वान्के मतानुसार ये इ, उ वस्तुतः सामीप्य तथा दूरताको बतानेवाले अव्यय थे,

जिनका प्रयोग सप्तम्यन्त रूपोंके साथ हुवा करता था। धीरे धीरे ये सप्तम्यन्तके अग बनकर एक ओर स्मि तथा दूसरी ओर सु के रूपमें विकसित हो गये।[1] संस्कृतमें यह 'सु' इ, उ, ए, कण्ठ्य ध्वनि तथा रेफसे परे होनेपर षु के रूपमें पाया जाता है। अ तथा आके परे होनेपर यह सु ही रहता है, यथा देवेषु, हरिषु, भानुषु, पितृषु, पयः सु, रमासु,।

सम्बोधन ब० व० के रूप संस्कृतमें ठीक वही हैं, जो प्रथमा ब० व० में पाये जाते है।

विशेषण

संस्कृतमें विशेषणके रूप सज्ञा शब्दोंकी तरह ही चलते हैं। विशेषण शब्द सदा अपने विशेष्यके लिंग एव वचनका वहन करता देखा जाता है, यथा, कृष्ण: सर्प:, कृष्णा सर्पिणी, रक्तो घट:, रक्त: पट, नील नभ, नील वस्त्र आदि में। तुलनाबोधक रूपोंमें संस्कृतमें इनके साथ तरप्, तमप्, ईयस्, इष्ठ प्रत्यय जोड़े जाते हैं। संस्कृत शब्द-रचनाका सकेत करते समय हम इन दोनों तरहके प्रत्ययोंका सकेत कर आये हैं। यहाँ उनका सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है।

१ [अ] तर-तम [तरप्—तमप्], ये दोनों तुलनाबोधक तद्धित प्रत्यय हैं। इनमेंसे प्रथम 'तरप्' प्रत्यय दो वस्तुओंकी तुलना कर किसी एककी उत्कर्षता द्योतित करता है। ग्रीकमें इसका-'तेरा-रूप मिलता है, जो पिस्तोतेरास् [pistoteros], अलेथस्तेरास् [alethesteros] में पाया जाता है। लैतिनमें इसका-तेर-' रूप मिलता है, जो नास्तेर [noster], देक्स्तेर [dexter] में पाया जाता है। यही—तरप् प्रत्यय सार्वनामिक रूप 'कतर' म मिलता है। थुम्बने स० अन्तर ले० इन्तेर [इन्तेरिओर], अ० इटर, इन्टीरियर [inter, interior], ग्रीक एन्तेर [entera], स० इतर,

[1] Wackernagel Altindische Grammatik vol III p 72-73 § 29 [e]

लैं० इतेरुम् [iterum], तथा संस्कृत क्रियाविशेषण 'नितराम्' तकका संबंध इसी 'तर[प्]' से जोड़ा है[1]। इनके उदाहरण निम्न हैं :—

दूरतर, प्रियतर, विलोलतर, शुचितर, धनितर, [धनिन्–] धर्मभुत्तर [धर्मबुध्–], प्रत्यक्तर [प्रत्यञ्च्–], सुमनस्तर [सुमनस्–], उदर्चिष्टर [उदर्चिष्–], सत्तर [सन्त्–] भगवत्तर [भगवन्त्–], विद्वत्तर [विद्वास्–]।

१ [आ] तमप् [तम] की उत्पत्ति प्रा० भा० यू० *तमो से मानी जा सकती है। जैसा कि हम पहले संकेत कर आये हैं तरप्, तमप् [तर, तम] में वस्तुतः दो प्रत्ययोंका मेल है :—त+र=तर, त+म=तम। त प्रत्ययका सम्बन्ध संस्कृत 'त' [क्त] प्रा० भा० यू० *तो [स्] से जोड़ा जाता है। र तथा म भी दो स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें पाये जाते हैं, जिनका विकास संस्कृत तथा यूरोपीय क्लैसिकल भाषाओं दोनोंमें देखा जाता है। सं० अधर [नीचा], लैं० इन्फेरि [inferi], गॉ० उन्दर [undar] अग०, अन्डर [under], सं० अधम, लैं० इन्फिमुस् [infimus]; सं० अपर, गॉथिक अफ़र [afar], सं० अपम–, सं० अवर, अवम–, ग्रीक हुपेरोस् [huperos] लैं० सुपेरि [superi] अग० सुपर [super], लैं० सुम्मुस् [summus] [मि० अ० summit] गॉ० उफ़रो [ufarō]; सं० परम, मध्यम, चरम; में ये दोनों प्रत्यय पाये जाते हैं[2]। तम–[तमप्] प्रत्यय लैं० में 'तिमुस्' तथा गॉथिकमें 'तुम' पाया जाता है। सं० अन्तम, लैं० इन्तिमुस् [intimus], उल्तिमुस् [ultimus] [मि० अंगरेजी, अल्टिमेटम [ultimatum]], गॉथिक, अफ्तुम [aftum] [अन्तिम], इफ्तुम [iftum] [अन्तिम]।

---

1. Thumb Handbuch des Sanskrit. [Formenlehre] § 388 p. 207

2. Thumb: Handbuch des Sanskrit § 388 [footnote] P. 208

तम—के उदाहरण निम्न हैं :—

दूरतम, प्रियतम, विलोलतम, शुचितम, धनितम, [धनिन्—], धर्मभुत्तम [धर्मबुध्—], प्रत्यक्तम [प्रत्यञ्च्], सुमनस्तम, [सुमनस्—] उदर्चिष्टम [उदर्चिष्], सत्तम [सन्त्—], भगवत्तम [भगवन्त्—], विद्वत्तम [विद्वास्—]।

तर—, तम—से बने कतिपय संज्ञा शब्द तथा क्रियाविशेषण भी देखे जाते हैं :—गजतम, उत्तर, उत्तम [संज्ञा शब्द], अतितराम्, प्रतराम्, प्रतमाम्, उच्चैस्तराम्, सुतराम्, सुतमाम्, पचतितराम्, पचतितमाम् [क्रियाविशेषण]। ये क्रियाविशेषण प्रायः उपसर्गों, अव्ययों तथा क्रिया रूपोंसे बने हैं।

२ [अ] ईयस् तथा इष्ठ प्रत्ययोंका संकेत भी संस्कृत शब्दरचनाके संबंधमें किया जा चुका है। ईयस् का विकास प्रा० भा० यू० —*यॅस्, *योस्से माना जाता है। इसके समानान्तर रूप ग्रीक तथा लैतिनमें भी हैं। लैतिनमें इसके इओर, इउस् रूप मिलते हैं, सेनिओर [सेन्योर] [senior] [अंगरेजी सीनियर [senior], मेलिओर [मेल्योर] [melior] मेलिउस् [मेल्युस्] [melius] [नपुंसक रूप]। ग्रीकमें इसके ईओस्, योस् रूप मिलते हैं, हेदीओ [hēdīo] हेदीओउस् [hēdīous] ∠ *हेदी [य्] ओ [स्]—अ—एस् [hēdī [y] o [s]-a es] [सं० स्वादीयस्], ब्रादीओ [bradīo] [सं० म्रदीयस्]। इसके उदाहरण निम्न हैं :—

अल्पीयस्, वरीयस् [उरु—], क्षेपीयस् [क्षिप्र—] गरीयस् [गुरु—] द्रढीयस् [दृढ—], द्राघीयस् [दीर्घ—], पटीयस् [पटु—], पापीयस् [पाप—], प्रथीयस् [पृथु—], प्रेयस् [प्रिय—], बलीयस् [बलिन्—], महीयस् [महान्त्—], म्रदीयस् (मृदु—], यवीयस् [युवन्—], स्थेयस् [स्थिर—]।

२. [आ] –इष्ठ का ग्रीक रूप-इस्तो [–isto] मिलता है; क्रतिस्तोस् [kratistos], ओलिगिस्तोस् [oligistos]।

इसके उदाहरण निम्न हैं :—

अंहिष्ठ, वरिष्ठ [उरु–], क्षेपिष्ठ [क्षिप्र–] गरिष्ठ [गुरु–], द्रढिष्ठ [दृढ–], द्राघिष्ठ [दीर्घ–], पटिष्ठ [पटु–], पापिष्ठ [पाप–], प्रथिष्ठ [पृथु–], प्रेष्ठ [प्रिय–], बलिष्ठ [बलिन्–], महिष्ठ [महान्त्–], म्रदिष्ठ [मृदु–], वसिष्ठ [वसुमन्त्–], यविष्ठ [युवन्–], स्थेष्ठ [स्थिर–]।

इनके अतिरिक्त कुछ अपवाद रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें थुम्बने 'इर्रेग्यूलर' या 'डिफेक्तिव' माना है।[1]

[अंतिक], नेदीयस् , नेदिष्ठ।

[अल्प], कनीयस् , कनिष्ठ।

प्रशस्य, श्रेयस् , श्रेष्ठ, ज्यायस् , ज्येष्ठ।

बहु, भूयस् , भूयिष्ठ,

वृद्ध, वर्षीयस् , वर्षिष्ठ,

संस्कृतमें कतिपय रूप ऐसे भी देखे जाते हैं, जिसमें एक साथ दो-दो तुलनाबोधक प्रत्यय पाये जाते हैं, यथा,

पापीयस्-तर [पापीयस्तर], पापिष्ठतर, पापिष्ठतम, श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम।

सर्वनाम शब्दोंके रूप

सर्वनाम शब्दोंको हम दो प्रकारकी कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं:— [१] वैयक्तिक सर्वनाम [अस्मत् , युष्मत्] [२] विशेषणीभूत सर्वनाम, [यत् , तत् , इदं, एतत् आदि]। इनमें वैयक्तिक सर्वनामोंमें लिंग भेद नहीं पाया जाता, जबकि विशेषणीभूत शब्दोंमें तीनों लिंग पाये जाते हैं। सभी सर्वनामोंमें संबोधन विभक्ति नहीं होती।

---

१. Thumb ibid § 289 P. 269

संस्कृतके **अहम्** तथा **त्वम्** जो वैयक्तिक सर्वनाम शब्दोंके प्रथमा विभक्तिके एकवचन रूप हैं, अवेस्तामें **अज़्अम्** [azəm] तथा **तुवम्** [tuwam] के रूपमें पाये जाते हैं। ग्रीकमें इनके रूप **एगो** [egō] तथा **'सु'** [**प्रा० रूप तु**] [su ˂ *tu] पाये जाते हैं। इस तुलनासे स्पष्ट है कि इनमें प्रयुक्त **"अम्"** वस्तुतः सर्वनामोंका विभक्तिचिह्न है, जो भारत-ईरानी वर्गमें पाया जाता है। संस्कृतमें **'त्वम्'** के स्थानपर केवल **तु** भी पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें यह प्रयोग मिलता है :—**आ तू गहि प्र तु द्रव** [**१·१३·१४**]। द्वितीया एकवचनके रूपोंमें **मा, त्वा** तथा **मा, त्वा** जैसे वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी ये वैकल्पिकरूप पाये जाते हैं :—

मम्, मा [mam, mā], **थ्वम्, थ्वा** [θwam, θwā]। तृतीया विभक्तिके एकवचनमें इनके रूप **मया** एव **त्वया** [**तुवया**] होते हैं। चतुर्थीमे इनमें **भ्य** [**अवे० ब्य**] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जो संस्कृत **तुभ्य** में पाया जाता है, 'अस्मत्' शब्दमे यह **'ह्य'** हो जाता है। ऋग्वेदमे कहीं-कहीं **तुभ्य, मह्य** के स्थानपर **तुह्य, मह्य** रूप भी पाये जाते हैं। अवेस्तामें दोनोंमे **'ब्य'** पाया जाता है, यथा **तइब्य** [taibya], **मइब्य** [maibya]। किन्तु लैतिनमें **मत्** के साथ **'ह'** तथा **त्वत्** के साथ **ब** विभक्तिचिह्न मिलता है, **मिहि** [mihi] [**सं० मह्य**], **तिबि** [tibi] [**सं० तुभ्य**]। इससे अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० में ही उत्तम पुरुष एकवचन शब्दकी चतुर्थी विभक्ति **'ह'** रही होगी, तथा मध्यम पुरुषकी **'भ'**। पञ्चमीमें इनमें

अत् पाया जाता है। प्रा० भा० यू० में इसका रूप ***एत** [ēt] था, जो संस्कृतमे ***आत्** होना चाहिए था। अतः संस्कृतके **मत्**, **त्वत्** रूपोंको ***मात्**, ***त्वात्** जैसे कल्पित रूपोंसे विकसित समझना चाहिए। **तव, मम** जैसे षष्ठी एकवचनके रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है। ग्रीकमें इनके रूपोंमें ओस् विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यही चिह्न लैतिनमें उस् के रूपमें प्रयुक्त होता है, यथा ग्रीक **तेओस्** [teos] **एमोस्** [emos],

लैतिन तूस [tūs]। संस्कृतके चतुर्थी षष्ठीके मे, ते जैसे वैकल्पिक रूप अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी पाये जाते हैं। ये वैकल्पिक रूप ग्रीक तथा लिथुआनियनमें भी उपलब्ध होते हैं—ग्रीक मोइ [moi] तोइ [toi] तथा लिथुआनियन मि [mi], ति [ti]। संस्कृतमें सप्तमी ए० व० में 'मयि' रूप पाया जाता है, किन्तु युष्मत् [त्वत्] शब्दका 'त्वयि' वालारूप प्राचीन न होकर बादमें मयि के सादृश्यपर विकसित हुआ है। इसका प्रयोग सर्व प्रथम अथर्ववेदमें मिलता है। ऋग्वेदमें इसका प्राचीन रूप त्वे मिलता है।

संज्ञाओंके रूपोंकी भाँति यहाँ भी द्विवचनके रूप सीमित ही पाये जाते हैं। संस्कृतमें इनके प्रथमा-द्वितीया द्विवचनरूप आवाम् तथा युवाम् पाये जाते हैं। वस्तुनः ये रूप केवल द्वितीया विभक्तिके ही थे। प्रथमा विभक्तिमें इनके रूप आव तथा युवं पाये जाते थे, जो प्राचीन वैदिक मन्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं; किन्तु बाद के वैदिक साहित्यमें आवां तथा युवां दोनों ही विभक्तियोंमें प्रयुक्त होने लगे हैं। ठीक इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमीके प्राचीन रूप आवभ्यां तथा युवभ्यां हैं, किन्तु ये भी सादृश्यके आधारपर बादमें आवाभ्यां तथा युवाभ्यां हो गये हैं। इन शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें मूल रूप आव-तथा युव-ही थे, इसकी पुष्टि षष्ठी सप्तमीके द्विवचन रूप आवयोः, युवयोः से भी हो जाती है। इन विभक्तियोंके वैकल्पिकरूप नौ तथा वाम् पाये जाते हैं। ये रूप अवेस्तामें भी ना [nā] तथा वा [vā] के रूपमें मिलते हैं। संस्कृतके वां का अनुनासिक तत्त्व संस्कृतकी निजी विशेषता है। संस्कृत नौ के समानान्तर रूपमें ग्रीकमें नो [nō] पाया जाता है, जो वहाँ प्रथमा [nominative] तथा द्वितीया [accusative] के द्विवचनमें प्रयुक्त होता है।

इन शब्दोंके बहुवचन रूपोंमें प्रथमा विभक्तिमें अम् विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा वयम्, यूयम्। अवेस्तामें मध्यम पुरुष सर्वनाम शब्दका बहुवचनरूप "यूज़्अम्" [yūžəm] पाया जाता है। अन्य सभी विभक्ति

रूपोंमें इनमें स्म विभक्तिचिह्नका प्रयोग पाया जाता है,—अस्मान् , युष्मान् , अस्मत् , युष्मत् आदि । यह स्म अवेस्ता तथा ग्रीकमें भी क्रमशः ह्म तथा म्म के रूपमें पाया जाता है, अवे० अह्म [ahma], ग्रीक अम्मे [amme]। यह विभक्तिचिह्न अन्य सर्वनामोंके एकवचन रूपोंमें भी पाया जाता है, तस्मै, तस्मिन् । किन्तु षष्ठी बहुवचनके रूपोंमें इन उत्तम पुरुष तथा मध्यमपुरुषके रूपोंमें स्म के साथ आकम् भी जोड़ दिया जाता है, अस्माकम्, युष्माकम् । अवेस्ताके अह्माक्अम् [ahmākəm], युश्माक्अम् [yuš̆makəm] शब्दोंके आधारपर यह कहा जा सकता कि यह स्म+आकं विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता रही होगी ।

यहाँ इतना कह दिया जाय कि भा० यू० भाषाओंमें अन्य पुरुष [प्रथम पुरुष] के शब्दों को व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक सर्वनामों [Personal-pronouns] की तरह न मानकर पदरचनाकी दृष्टिसे निर्देशात्मक सर्वनामों [demonstrative pronouns] की तरह माना जाता है। संस्कृतमें भी इसीलिए तत् शब्दके रूपमें तीनों लिंग पाये जाते हैं। तत् शब्दके इन रूपोंपर हम आगे संकेत करेंगे।

संस्कृतमें स्व का आत्मने प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग सर्वनामके रूपमें मिलता है। ऐसा प्रयोग ग्रीक, लैटिन तथा अवेस्तामें भी देखा जाता है, ग्रीक हॉस् [hos], हेॲास् [heos], लैटिन सूस [suus], अवेस्ता ह्व [hwa]। इसका प्रयोग प्रायः 'आत्मने' [reflexive] के अर्थमें पाया जाता है। संस्कृतमें इसीके स्वयं, स्वतः आदि रूप मिलते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें इसके समानान्तर लैटिन सूस के विकसित रूप से [se] का फ्रेंच भाषामें बहुत प्रयोग मिलता है। फ्रेंचकी कई क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनके साथ इस से का प्रयोग अवश्य होता है। ये क्रियाएँ "रिफ्लेक्सिव" [reflexive verbs] कहलाती हैं। यह प्रयोग प्रायः संस्कृतके आत्मनेपदी सा है। यथा, "ऑं से मी ता ताब्ल [on se

unt a table] [प्रत्येक [व्यक्ति] स्वय टेबुलपर बैठ गया, अर्थात् सब टेबुलपर बैठ गये।] मे यह से संस्कृतके स्व का समानान्तर ही है।

संस्कृतके मध्यम पुरुष 'त्वं' के लिए आदरणीय अर्थमे भवान् का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रथम पुरुष क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है, भवान् गच्छति। यह भवान् वाकेरनागेलके मतानुसार संस्कृत शब्द भगवान् का ही वैकल्पिक संक्षिप्त रूप है। इस वैकल्पिक रूपके लिए उसने फ्रेन्च भाषामे एक ऐसा ही उदाहरण दिया है। ठीक इसी आदरणीय अर्थमे फ्रेन्च भाषामे मोसेंजो [monseigneur] तथा 'मॉश्यो' [मॉश्यो] [monsieur] दोनो प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जहाँ द्वितीय रूप प्रथमका ही संक्षिप्त वैकल्पिक रूप है। इसी प्रकार संस्कृतका भवान्, भगवान् का ही संक्षिप्त वैकल्पिक रूप है।[1]

निर्देशात्मक तथा विशेषणीभूत सर्वनामो [demonstrative pronouns and articles] मे स, सा, तत् का संबंध ग्रीकके हो [ho] हे [he] [प्रा० रू० हा–] ha] तथा तो [to] से जोड़ा जा सकता है, जो क्रमशः पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोके मूल रूपोके साथ ग्रीकमे ठीक वैसे ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे अंगरेजीमे ए, एन, दि [a, an, the]। ग्रीकमे ये 'आर्टिकल' कहलाते हैं। इनका विकास प्राचीन भारत-यूरोपीय सो-सा [so,-sa], तो-ता [to. ta] से माना गया है। इनके अतिरिक्त कुछ प्रश्नवाचक सर्वनाम भी संस्कृतमे प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतके कः, का, कि, चित् का संबंध ग्रीक पो [po], तिस्, ति [तिद्] [tis.ti [tid]; लैटिन क्वोद् [quo-d], क्विद् [qui-d], क्वि [qui], क्वोम् [quo-] आइरिश किआ [cia], वेल्श प्वि [pwy], तथा अंगरेजी हू [who] से जोड़ा जा सकता है। इन सबका विकास प्रा० भा० यू० *क्वोम्

---

१. Wackernagel: Altindische Grammatik P. 487 § 139 [C]

[*k^{w}os] से हुआ है। संबंधवाचक सर्वनाम य, या, यत् का संबंध प्रा० भा० यू० यो [yo], [ya] से जोड़ा जाता है। इन शब्दोंके विभक्ति चिह्न प्रायः संज्ञाओंके ही विभक्ति चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

संख्यावाचक शब्द

प्रा० भा० यू० में गणनाका ढंग 'दस' से होता था। उसमें एकसे लेकर चार तककी संख्याके शब्दोंके रूप सभी लिंगोंमें सविभक्तिक चलते थे, जब कि पाँच से दस तकके शब्द अपरिवर्तित रूप वाले अव्यय थे। १० से १९ तकके शब्द इसके साथ एक, दो, तीन, चार इत्यादिके वाचक शब्द जोड़कर बनाये जाते थे। प्रा० भा० यू० से विकसित भाषाओंमें १० से ऊपरके संख्यावाचक शब्द कई ढंगसे बनाये जाते है। कहीं तो ये समस्त शब्द—से होते हैं, यथा, एकादश, द्वादश, त्रयोदश या अ० थर्टीन [thirteen], या वेल्श 'पिमथेग' [pymtheg]। कहीं कहीं बीचमें समुच्चय बोधक अव्ययका प्रयोग कर इस तरहकी संख्याका बोध कराया जाता था, यथा, संख्या द्वाविंशत् [द्वे विंशति च पुरुषा] ग्रीक एइकोसि—दुओ [eikosiduo], अथवा दुओ कइ एइकोसि [duo kai eikosi]। यद्यपि प्रा० भा० यू० गणना 'दस' से ही होती थी, किन्तु ऐसे भी चिह्न दिखाई पड़ते हैं, जहाँ 'नौ' वाली गणना देखी जाती है। केल्तिक तथा अन्य दूसरी यूरोपीय भाषाओंमें ये संकेत मिलते हैं। वेल्शमें 'अठारह' के लिए 'धुनव' [deunaw] शब्दका प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होगा, "दो नौ"। ग्रीकमें १९, २९, ३९ आदि के लिए 'एक कम बीस' अर्थवाले प्रयोग मिलते है, यथा 'हनास् डओन्तस् एइकोसिन्' [hnos deontes eikosin] [सं० एक—ऊन—विंशत्, एकोनविंशत्]। कुछ लोग यहाँ 'नौ' वाली गणनाका संकेत ढूँढनेका प्रयत्न करें, पर यह ठीक न होगा, यहाँ पर वस्तुतः 'दस' वाली गणना ही है। वैसे संस्कृतमें "नौ" वाली गणना के संकेत कई स्थानों पर मिलते अवश्य हैं, यथा—'नवद्वयद्वीपपृथग्ज-

यश्चिचाम्' [नैषध, प्रथमसर्ग], जहाँ 'अठारह' के लिए 'नवद्वय' का प्रयोग हुआ है, जो वेल्श 'घोनव' के समानान्तर है।

संस्कृतके एकसे दस तकके संख्यावाचक शब्द तथा सौका संख्यावाचक शब्द प्रा० भा० यू० शब्दोंसे विकसित हुए हैं। बाकी संख्यावाचक शब्द मिलाकर बनाये हुए शब्द हैं। हम इन प्रमुख शब्दोंकी तालिका देते हैं :—

१ एक	*ओइनोस्	लै० उनो	[uno]	ग्रीक	ओइओस् [oios]
२ द्वि	*दुयोउ	„ दुए	[due]	„	दुओ [duo]
३ त्रि	*त्रेयेस्	„ त्रे	[tre]	„	त्रेइस् [treis]
४ चतुर्	*क्वत्वारेस्	„ क्वात्र	[quatre]	„	ततारेस् [tetores]
५ पञ्च	*पेन्क्वे	„ क्विक्वे	[quinque]	„	पेन्ते [pente]
६ षट्	*स्वेक्स्	„ सेइ	[sei]	„	ज़ेक्-[zes-]
७ सप्त	*सप्तम्	„ सप्त	[sept]	„	हेप्त [hepta]
८ अष्ट	*ओक्तोउ	„ ओक्तो	[octo]	„	ओक्तो [octō]
९ नव	*नेवन्	„ नोवेम्	[novem]	„	एन् नेअ [en-nea]
१० दश	*देक्म	„ देकेम	[decem]	„	देक [deka]
१०० शतम्	*कम्तोम्	„ सेन्तुम	[centum]	„	हेक्तोन् [hekaton]

१००० सहस्र × फारसी हज़ार ग्रीक खीलिओइ [khilioi]

जैसा कि हम ऊपर बता चुके है प्रा० भा० यू० में एकसे चार तकके संख्यावाचक शब्द लिंग व विभक्तिके अनुसार बदलते थे, यथा एकः, एका, एकं, द्वौ, द्वे, द्वे, त्रयः, तिस्रः, त्रीणि, चत्वारः, चतस्र, चत्वारि। इसी तरह विभक्तियोंमें भी एकः, एक, एकेन ..आदि द्वौ, द्वौ, द्वाभ्या, द्वयो, त्रय, त्रीन्, त्रिभि· आदि, चत्वार चतुर, चतुर्भि·, चतुर्भ्यः, चतुर्णाम्, चतुर्षु रूप चलते है। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके तथा नपुंसकलिंग रूपोंके भी विभक्तिरूप पाये जाते हैं। पञ्च तथा अन्य संख्यावाचक शब्दोंमें लिंग नहीं होता, पञ्च पुरुषा·, पञ्च नार्य, पञ्च फलानि, दश घटाः, दश लता, दश पुस्तकानि। किन्तु इनमे विभक्ति रूप पाये जाते है, यथा पञ्च, पञ्च, पञ्चभि·, षट्, षड्भि·, षड्भ्य·, षण्णाम्, षट्सु। अतः यहाँपर इन्हें अव्यय नहीं माना जा सकता। यद्यपि इन शब्दोंमें लिंगका अभाव यह संकेत करता है कि ये मूल रूपमें अव्यय [indeclinables] थे, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि संस्कृतमें आकर ये शब्द एक, द्वि, त्रि, चतुर् के सादृश्यपर सविभक्तिक बन गये। यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि एक के रूप केवल ए० व० मे, द्वौ के केवल द्वि० व० मे, तथा 'त्रि' आदि शेष संख्यावाचक शब्दोंके रूप केवल बहुवचनमें पाये जाते है।

बीससे लेकर नब्बे तकके संख्यावाचक स्त्रीलिंग नाम शब्द है, तथा उनके रूप केवल ए० व० मे ही चलते हैं। इनके साथ जिस वस्तुकी संख्या बताना होता है, उसे षष्ठी ब० व० मे रखा जाता है यथा, 'नवति नाव्यानाम्' "जल–पोतोंकी नवति [नब्बे पोत]", कभी कभी इनका प्रयोग इस तरह भी किया जा सकता है कि [१] संख्यावाचक शब्द वस्तु [विशेष्य] की विभक्तिमे तो हो किंतु वचनमे नहीं, यथा 'विंशत्या हरिभि' 'बीस घोड़ोंके साथ', अथवा [२] कभी कभी संख्यावाचक शब्द

विशेषणकी तरह विशेष्यकी विभक्ति तथा वचनका वहन करता है, यथा 'पञ्चाशद्भिर्बाणैः' 'पचास बाणोंके साथ'। इनके समानान्तर रूप ये हैं।

२०–५० सं० विंशति–, अवे० वीसइति, ग्रीक एइकोसि [eikosi], लै० वीगिंती [vīgintī]

सं० त्रिंशत्, अवे थ्रिसँस् [θrisas] [कर्म ए० व०] थ्रिसत्अम् [θrisatəm], लै० त्रीगिंता [trīgintā]

सं० चत्वारिंशत्, अवे० चथ्वर्असत्अम् [caθwarəsatəm], ग्रीक तेत्तर-कोन्ता [tettara-konta] लै० क्वद्रागिंता [quadrāginta]

सं० पञ्चाशत्, अवे० पन्चासत्– [pančāsat], ग्रीक पेन्ते-कोन्ता [pentēkonta] लै० क्विंक्वागिंता [quinquāginta]

इन संख्यावाचक रूपोंमे '–शत्' तत्त्व पाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० '*क्म्मृत्' [k̃mt] मे मानी गई है, जो वस्तुतः *'द्क्म्मृत्' [dkṃt] का ह्रस्व रूप है, जिसका प्रयोग प्रा० भा० यू० मे 'दश' के अर्थ मे पाया जाता है।

६०–९०; षष्ठि, सप्तति, अशीति, नवति—इन शब्दोंकी रचना पूर्ववर्ती संख्यावाचक शब्दोंमे सर्वथा भिन्न है। इनमे भाववाचक –'ति' प्रत्ययका प्रयोग पाया जाता है। यह विशेषता केवल भारत-ईरानी वर्ग मे ही पाई जाती है। पुरानी स्लावोनिकमे भी 'शेस्ति' [šešti] मे इसका चिह्न देखा जा सकता है, जो संस्कृत "षष्टि' का समानान्तर है। अवेस्तामे इनके रूप ये हैं:—'ख्स्वश्ति' [xšvašti], हप्तइति [haptaiti], अस्ताइति [ašitı], नवइति [navaiti]।

संस्कृत पद-रचना [क्रिया तथा क्रियाविशेषण]

संस्कृतकी क्रियाएँ अन्य भारोपीय भाषाओंकी भाँति वाच्य, लकार, काल, पुरुष तथा वचनसे युक्त हैं। इनमें तीन प्रकारकी वाच्यता पाई जाती है, कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा स्ववाच्य [आत्मनेपदी], जिन्हें भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे अलग-अलग कोटिमें मानना होगा। संस्कृतमें दस लकार, तीन काल, तीन पुरुष तथा तीन वचन पाये जाते हैं। प्राचीन भा० यू० के विषयमें हम देख चुके हैं कि वहाँ क्रियाके विभिन्न लकार वस्तुतः क्रिया के प्रकार विशेषका बोध कराते थे। साथ ही ये क्रिया रूप न केवल क्रियाका ही बोध कराते थे, अपितु उसी पदके द्वारा कर्ताका भी बोध कराते थे, जिससे कर्ताके पुनः प्रयोगको आवश्यकता ही न थी, यदि उसकी आवश्यकता होती थी तो प्रथम पुरुष में। उदाहरणके लिए **भवसि** तथा **भवामि** में कर्ता स्वयं अनुस्यूत है, अत. त्व तथा **अहम्** के बिना भी उसकी भावप्रतीति हो जाती है। यह तथ्य एक मनोवैज्ञानिक सत्यकी ओर संकेत करता है कि आरम्भकी सामाजिक अवस्थामें प्रा० भा० यू० का व्यवहार करनेवाले कर्ता तथा क्रियाके [व्याकरणात्मक] भेदसे स्पष्टरूपेण परिचित न थे। सभ्यताके विकासके साथ मानसिक विकास होनेपर इनका भेद ज्ञात हुवा है।

इसके पूर्व कि हम क्रियारूपोंका अध्ययन करें, आगम, धातु तथा विकरणको समझ लिया जाय। धातु किसी क्रियारूपका मेरुदण्ड है। इसी मूल रूपमें तिट् प्रत्यय जोड़कर विभिन्न क्रिया रूपोंकी सृष्टि होती है। भूतकाल [लङ् तथा लुङ् दोनों ही] में क्रियाके मूल रूप [धातु] के पूर्व 'अ' का आगम होता है, जो संस्कृतमें भूतकालका द्योतक माना जाता है। यह **अ** प्रा० भा० यू० *ए से विकसित हुवा है, तथा यह लङ् [imperfect] और लुङ् [aorist] दोनोंमें ग्रीकमें भी प्रयुक्त होता है, यथा

संस्कृत अभरम्, अभरः, अभार्षम्, ग्रीक एफेरान् [epheron], एफेरस् [e-phere-s], एफ्रान् [e-phro-n]। विकरण संस्कृतमें उन अन्तः-प्रत्ययोंके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द हैं, जो कई गणोंमें, कई लकारोंमें, तथा कई अन्य प्रकारके रूपोंमें धातु तथा तिङ् प्रत्ययके बीचमें जोड़ा जाता है। उदाहरणके लिए भू धातुको लीजिये। इसके साथ वर्तमाने लट्का प्रथम पुरुष एक वचनका तिङ् प्रत्यय 'ति' जोडनेपर 'भू + ति' रूप बनेगा। इस गणके [भ्वादिगणके] धातुओंमे बीचमें 'अ' विकरणका प्रयोग पाया जाता है, इससे यह 'भू + अ + ति = भवति' रूप हो गया है, जहाँ धातुकी अंतिम स्वर ध्वनि 'ऊ' में गुण होकर अव् रूप हो गया है। ये विकरण आरंभसे ही प्रा० भा० यू० की विशेषता रहे हैं, तथा ये ग्रीक आदि अन्य भारोपीय भाषाओंमें भी पाये जाते हैं। इन्हींके आधारपर ग्रीकके क्रिया रूपोंको सविकरण [thematic], अविकरण [athematic] इन दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है। इन शब्दोंकी रचना 'थेमास्' [themos] से हुई है, जिसका अर्थ वही है, जो संस्कृत वैयाकरणोंके विकरण का। संस्कृतमें ये विकरण संख्यामें २० के लगभग पाये जाते हैं। इन्हीं विकरणोंके आधारपर संस्कृत व्याकरणमें धातुओंको भ्वादि दस गणोंमें विभक्त किया गया है। संस्कृतके दस लकारोंका सार्वधातुक तथा आर्धधातुक श्रेणी विभाजन पाया जाता है। संस्कृत धातुओंमें कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनके साथ किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं पाया जाता। संस्कृतके अदादिगणी धातु इस अविकरणात्मक कोटिमें आयेंगे। उदाहरणके लिए इस गणके अस् धातु को लीजिये, जिसके वर्तमानके प्र० पु० एकवचनमें अस् + ति = अस्ति रूप पाया जाता है। इसी विकरण-प्रक्रियाके आधारपर संस्कृतमें एक और विभाजन पाया जाता है, जो अनिट् तथा सेट्के नामसे प्रसिद्ध है। जिन धातुओंके कुछ रूपोंमें 'इ' [इट्] विकरणका प्रयोग पाया जाता है, वे धातु 'सेट्' तथा अन्य 'अनिट्' कहलाते हैं। उदाहरणके लिए 'भू' तथा 'दा' इन दो धातुओंको ले लीजिये। 'भू' से भविता,

भवितुं, भविष्यति आदि सेट् रूप बनते हैं, किन्तु 'दा' से दाता, दातुं, दास्यति रूप बनते हैं। अतः प्रथम सेट् है, दूसरा 'अनिट्'। इस इ विकरणका प्रा० भा० यू० रूप क्या रहा होगा, इस विषयपर आगे प्रकाश डाला जायगा।

पहले इन क्रिया रूपोंके मेरुदण्ड, धातुपर ध्यान दे लिया जाय। संस्कृतमें सभी धातु एकाक्षर [monosyllabic] पाये जाते हैं, अर्थात् इन धातुओंमें एक ही स्वर पाया जाता है। यह स्वर व्यञ्जनहीन हो सकता है, अथवा इसके पूर्व तथा परमें एक या दो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जा सकती हैं। इस प्रकार स्वरध्वनिके लिए V तथा व्यंजनध्वनिके लिए C चिह्नका प्रयोग करते हुए, इन संस्कृतके मूल धातु रूपोंको हम इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं :—

[१] V [यथा 'इ' [इण् गतौ]], [२] VC [आस्, आप्], [३] VCC [उक्ष्], [४] CV [कृ], [५] CCV [क्री] [६] CCVC [क्षर्], [७] CCVCC [स्पन्द्], [८] CVCC [मन्द्]।

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत धातुओंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता है।

—अर्–ऋ अंतवाले धातुः—√धृ [–धर्], √स्वर्

—अन् अंतवाले धातु · √क्षन्, √स्वन्, √स्तन्,

—अस्–स् अंतवाले धातु. √त्रस्, √ग्रस्, √ध्वस्, √श्रुष्, [√श्रु वैकल्पिक रूप] √भष्, √नष्, √उक्ष्, √निक्ष्, √वक्ष्, √हास्,

—अम् अंतवाले धातु √द्रम्, √गम्, √क्षम्, √भ्रम्,

—इ अंतवाले धातु · √क्षि, √श्रि, √सि [√सा भी है], √शि,

—उ अंतवाले धातु · √श्रु, √स्रु [बहना], √द्रु [दौड़ना]

—आ अंतवाले धातु, जो प्रा० भा० यू० में 'अ'+ कण्ठनालिक स्पर्श [laryngal] [a H/H] से सबद्ध है। √गा, √या, √प्सा,

[निगल जाना], √ द्रा [दौड़ना], √ ज्या [√ जि] [जीतना], √ [रक्षा करना]

—त् अंतवाले धातु : √ कृत् [काटना], √ चित् [सोचना √ भ्रित् [टुकड़े होना], √ श्वित् [चमकना], √ द्युत् [चमकना]

—थ् अंतवाले धातु– √ प्रथ् [बढना], √ व्यथ् [काँपना], √ स्व [घुमना], √ श्रथ् [ढीला पडना], √ ग्रथ् [गूँथना]।

—द् अंतवाले धातुः √ क्षद् [बाँटना], √ छिद् [काटना], √ र [रोना], √ मृद् [मसलना], √ पीड् [दबाना: ∠ *पिज़्द्], √ स्य [बहना], √ क्रन्द्–√ क्रुन्द् [रोना, चिल्लाना]

—ध् अंतवाले धातुः √ मृध् [ध्यान न देना], √ एध् [बढना √ स्पृध् [स्पर्धा करना], √ क्षुध् [भूखा होना]

—प् अंतवाले धातुः √ दीप् [चमकना], √ म्लुप् [सूर्यास्त होना √ रिप्–√ लिप् [लीपना], √ रुप्–√ लुप् [तोड़ना समाप्त करना √ विप् [काँपना], √ स्वप् [सोना]

—भ् अंतवाले धातुः √ शुभ् [चमकना], √ स्तुभ् [स्तुति करना]

—च् अंतवाले धातुः √ म्लुच् [अस्त होना, दे० म्लुप्], √ या [माँगना], √ सिच् [सींचना]

ज् अंतवाले धातुः √ तर्ज् [तर्जना देना, डराना], √ युज् [जोड़ना √ रुज् [तोड़ना], √ विज् [काँपना]

—ह् अंतवाले धातुः √ स्पृह् [इच्छा करना], √ द्रुह् [नुकसा करना, द्रोह करना]

डॉ० एलनने, प्राचीन भारत यूरोपीय धातुओंके मूल रूपोंके विषयमे जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियोंका प्रश्न है, एक लेखमें प्रकाश डाला है। उन मतानुसार इन धातुओंमें प्रायः दो व्यञ्जन [C_1C_2] पाये जाते थे, जिन तीसरे व्यञ्जन [C_3] का भी कभी कभी समावेश हो जाता है। इसी प्रक

संघटनाके अन्तर्गत सदा एक ही 'स्वर' [V] होता है, जिसमें सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा गुणात्मक [qualitative] परिवर्तन, विभिन्न रूपोंमे पाये जाते हैं। अतः व्यञ्जनयुक्त प्रा० भा० यू० धातुओंको डॉ० एलनने मौलिक दृष्टिसे दो तरहका माना है :—$C_1VC_2C_3$ तथा $C_1C_2VC_3$ जहाँतक इन प्रा० भा० यू० धातुओंमे प्राप्त 'स्' [s] तथा 'न्' [n] ध्वनियोंका प्रश्न है, वे इन्हें "ध्वनितत्त्व" [phonetic element] न मानकर "सन्ध्यात्मक तत्त्व" [prosodic element] मानते हैं। इन धातुओंमें जहाँ भी कहीं कण्ठनालिक "लेरिंजियल" ध्वनि [*ə] का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ उसे ध्वनितत्त्व ही मानना होगा। इस प्रकार वे प्रा० भा० यू० धातुओंके वास्तविक व्यजन तत्त्व C_1C_2 ही मानते हैं, जहाँ C_3 के होनेकी भी सभावना है, जो कभी स्पष्ट रूपमें और कभी शून्य रूपमें पाया जाता है।[१] इस प्रकार प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंको वे सेमेटिक धातुओंके मूल रूपोंकी भाँति मानते जान पड़ते हैं, जहाँ केवल तीन व्यञ्जन ही प्रमुख तत्त्व हैं, तथा उन्हींमे 'स्वर' तत्त्व जोड़कर विभिन्न पदोंकी सृष्टि होती है, उदाहरणके लिए प्रमुख सेमेटिक भाषा अरबीसे 'क़्तब्' [पढ़ना], क्त्ल् [मारना] इन दो धातुओंको लीजिये, इन्हींसे क़िताब, क़ुतुब, मक़तब, क़ातिब, यक्तुबु [मैंने पढ़ा], तथा कत्ल, क़ातिल, यक्तुलु [मैंने मारा] आदि रूप बनते हैं।

प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंका विचार कर लेनेके बाद अब हम उन प्रमुख विशेषताओंकी ओर आयेंगे, जो संस्कृतके क्रियारूपोंमे पाई जाती है। संस्कृतके क्रिया रूपोंमें इन प्रमुख विशेषताओंमेंसे एक द्वित्वकी विशेषता है, जहाँ धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। यह द्वित्व वैसे तो परोक्षभूत, सन्नन्त, यथा यङ् लुङन्तमें प्राय. सभी धातुओंमे पाया जाता है, किन्तु कुछ धातुओंके लट् तथा लुङ् आदिमें भी यह धातुका द्वित्व पाया

---

१ Dr Allen Indo-European primary Affix B[h] P 3 Transections of Philological society of G. B 1950

जाता है। उदाहरणके लिए संस्कृतके अभात् [√भा] तथा अस्थात् [√स्था] को ले लीजिये, जो दोनों लुङ्के रूप हैं। यहाँ दोनो द्वित्वविहीन रूप हैं। किन्तु वर्तमाने लट्में स्था को तिष्ठ आदेश होकर तिष्ठति रूप बनता है, जिसका काल्पनिक पूर्व रूप *स्तिष्ठति माना जा सकता है, जहाँ स्पष्ट ही धातुका द्वित्व पाया जाता है। गा, दा, धा, पा [पिबति],[1] स्था आदि वे धातु हैं, जिनके कई लकारोंके रूपोंमें द्वित्व पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमें पाई जाती है[2]। उदाहरणके लिए संस्कृत दा तथा स्था धातुओंके समानान्तर ग्रीक धातुओंके इन रूपों को लीजिये—दिदोमि [didomi] [सं० ददामि], हिस्तेमि [histemi] [सं० तिष्ठामि], जहाँ धातुका द्वित्व रूप स्पष्ट है। यह द्वित्व दोनों ही भाषाओंके परोक्षभूते लिट् [perfect] मे नियत रूपसे पाया जाता है, यथा,

सं०	जजान	ग्रीक	गेगोन	[gegona]
	दिदेश	,,	देदइख	[dedeikha]
	रिरेच	,,	लेलोइप	[leloipa]
	बुभोज	,,	पेफउग	[pepheuga]

संस्कृतके सन्नन्त तथा यङ्लुगन्त रूपोंमे भी धातुका द्वित्व पाया जाता है, जो पिपठिषति, बुभुक्षते, जिगमिषति, चिकीर्षति, वेविज्यते [√विज् से यङ्लुगन्त], नेनीयते, मर्मृज्यते, चोक्षूयते आदि रूपोंसे स्पष्ट है। इस सम्बन्धमें संस्कृत धातुके द्वित्वके कुछ साधारण नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

---

१. ध्यान देने की बात है कि रक्षार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व नहीं होता, वहाँ लट् के रूप 'पाति' आदि बनते हैं, पानार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व होता है।

२ King and Cockson. Comparative Grammar of Greek and Latin p 136

संघटनाके अन्तर्गत सदा एक ही 'स्वर' [V] होता है, जिसमें सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा गुणात्मक [qualitative] परिवर्तन, विभिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं। अतः व्यञ्जनयुक्त प्रा० भा० यू० धातुओंको डॉ० एलनने मौलिक दृष्टिसे दो तरहका माना है :—$C_1VC_2C_3$ तथा $C_1C_2VC_3$ जहाँतक इन प्रा० भा० यू० धातुओंमें प्राप्त 'स्' [s] तथा 'न्' [n] ध्वनियोंका प्रश्न है, वे इन्हें "ध्वनितत्त्व" [phonetic element] न मानकर "सन्ध्यात्मक तत्त्व" [prosodic element] मानते हैं। इन धातुओंमें जहाँ भी कहीं कण्ठनालिक "लेरिंजियल" ध्वनि [*ə̑] का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ उसे ध्वनितत्त्व ही मानना होगा। इस प्रकार वे प्रा० भा० यू० धातुओंके वास्तविक व्यजन तत्त्व C_1C_2 ही मानते हैं, जहाँ C_3 के होनेकी भी सभावना है, जो कभी स्पष्ट रूपमें और कभी शून्य रूपमें पाया जाता है।[1] इस प्रकार प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंको वे सेमेटिक धातुओंके मूल रूपोंकी भाँति मानते जान पडते हैं, जहाँ केवल तीन व्यञ्जन ही प्रमुख तत्त्व हैं, तथा उन्हींमें 'स्वर' तत्त्व जोडकर विभिन्न पदोंकी सृष्टि होती है, उदाहरणके लिए प्रमुख सेमेटिक भाषा अरबीसे 'क़्त्ब्' [पढ़ना], क्त्ल् [मारना] इन दो धातुओंको लीजिये, इन्हींसे क़िताव, क़ुतुब, मक़्तब, क़ातिब, यक्तुबु [मैंने पढ़ा], तथा क़त्ल, क़ातिल, यक्तुलु [मैंने मारा] आदि रूप बनते हैं।

प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंका विचार कर लेनेके बाद अब हम उन प्रमुख विशेषताओंकी ओर आयँगे, जो संस्कृतके क्रियारूपोंमें पाई जाती है। संस्कृतके क्रिया रूपोंमें इन प्रमुख विशेषताओंमेंसे एक द्वित्वकी विशेषता है, जहाँ धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। यह द्वित्व वैसे तो परोक्षभूत, सन्नन्त, यथा यङ् लुङन्तमे प्रायः सभी धातुओंमें पाया जाता है, किन्तु कुछ धातुओंके लट् तथा लुङ् आदिमे भी यह धातुका द्वित्व पाया

---

१ Dr Allen Indo-European primary Affix B[h] P 3 Transections of Philological society of G B 1950

जाता है। उदाहरणके लिए संस्कृतके अभात् [√भा] तथा अस्थात् [√स्था] को ले लीजिये, जो दोनों लुङ्के रूप हैं। यहाँ दोनो द्वित्वविहीन रूप हैं। किन्तु वर्तमाने लट्में स्था को तिष्ठ आदेश होकर तिष्ठति रूप बनता है, जिसका काल्पनिक पूर्व रूप *स्तिष्ठति माना जा सकता है, जहाँ स्पष्ट ही धातुका द्वित्व पाया जाता है। गा, दा, धा, पा [पिबति],[1] स्था आदि वे धातु हैं, जिनके कई लकारोंके रूपोंमें द्वित्व पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमें पाई जाती है[2]। उदाहरणके लिए संस्कृत दा तथा स्था धातुओंके समानान्तर ग्रीक धातुओंके इन रूपों को लीजिये—दिदोमि [didōmi] [सं० ददामि], हिस्तेमि [histemi] [सं० तिष्ठामि], जहाँ धातुका द्वित्व रूप स्पष्ट है। यह द्वित्व दोनों ही भाषाओंके परोक्षभूते लिट् [perfect] में नियत रूपसे पाया जाता है, यथा,

सं०	जजान	ग्रीक	गेगोन	[gegona]
	दिदेश	,,	देदइख	[dedeikha]
	रिरेच	,,	लेलोइप	[leloipa]
	बुभोज	,,	पेफउग	[pepheuga]

संस्कृतके सन्नन्त तथा यङ्लुङन्त रूपोंमें भी धातुका द्वित्व पाया जाता है, जो पिपठिषति, बुभुक्षते, जिगमिषति, चिकीर्षति, वेविज्यते [√विज् से यङ्लुङन्त], नेनीयते, मर्मृज्यते, चोक्षूयते आदि रूपोंसे स्पष्ट है। इस सम्बन्धमें संस्कृत धातुके द्वित्वके कुछ साधारण नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

---

१. ध्यान देने की बात है कि रक्षार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व नहीं होता, वहाँ लट् के रूप 'पाति' आदि बनते हैं, पानार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व होता है।

२ King and Cockson Comparative Grammar of Greek and Latin, p 136

[१] धातुके केवल प्रथम अक्षरका ही द्वित्व होता है, √बुध्–बुबोध, √पठ्–पपाठ।

[२] धातुके प्रथम ध्वनिके महाप्राण होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनि की प्राणता [aspiration] लुप्त हो जाती है, अर्थात् वह अल्पप्राण हो जाती है, यथा, √भी–बिभीते, √धा–दधाति।

[३] धातुके प्रथम ध्वनिके कण्ठ्य [velar] होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनि तालव्य पाई जाती है, यथा, √गम्–जगाम, √हन् [*घन्]–जघान, √खन्–चखान, √कृ–चकार। इस ध्वनि परिवर्तनका कारण यह है कि प्रा० भा० यू० में इन द्वित्व रूपोंमें प्रथम अक्षरमें *ऍ [अग्र-स्वर] पाया था, जो ग्रीकमें अभी भी पाया जाता है। इस स्वरके परवर्ती होने पर कण्ठ्य तथा कण्ठ्योष्ठ्य ध्वनियाँ संस्कृतमें आकर तालव्य रूपमें विकसित हुई हैं, इसे हम चतुर्थ परिच्छेदमें देख चुके हैं। उदाहृत हन् धातुकी ह ध्वनि भी वस्तुतः भाषावैज्ञानिक दृष्टि से घ है।

[४] यदि धातुके आरभमें दो व्यञ्जन ध्वनियाँ पाई जाती हैं, तो प्रथम ध्वनिका ही द्वित्व होता है, यथा √क्रम्–चक्राम।

[५] यदि धातुके आरभकी दो व्यञ्जनध्वनियोमें प्रथम ध्वनि स है, तथा द्वितीय ध्वनि स्पर्श [अनुनासिक-भिन्न स्पर्श ध्वनि] है, तो द्वित्व उस स्पर्श-ध्वनिका ही होगा, यथा √स्था–तस्थौ, √स्कन्द्–चस्कन्द। किंतु यदि द्वितीय ध्वनि अनुनासिक [न, म] या अन्तःस्थ है, तो स का ही द्वित्व होगा, यथा √स्वज्–सस्वजे, √स्मि–सिस्मिये।

[६] धातुका मूल स्वर द्वित्व होनेपर द्वित्वरूपमें [प्रथमाक्षरमें] ह्रस्व हो जाता है, जैसे √दा–ददाति, ददौ, √राध्–रराध।

इस सबधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृतमें कुछ ऐसी भी धातुएँ हैं, जिनमें नियत रूपसे द्वित्व पाया जाता है। संस्कृतके वैयाकरणोंने इन्हें तीसरे गण [जुहोत्यादिगण] में स्थान दिया है। वैसे हम आगे देखेंगे कि कुछ

नियत द्वित्ववाले धातु अन्य गणोंमें भी पाये जाते हैं, जैसे √स्था [तिष्ठति], भ्वादिगणी है, जुहोत्यादिगणी नहीं ।

डॉ० अलबॅत थुम्बने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हेन्डबुख डेम संस्कृत' में प्रा० भा० यू० धातुओंको १४ वर्गोंको बाँटा है, जिन्हें हम संस्कृतके दस गणोंमें समाहृत रूपमें देखते हैं । ये चौदह वर्ग निम्न हैं:—

[१] प्रथम वर्ग:—इस वर्ग में शुद्ध धातुके साथ तिङ्प्रत्यय जोड़ा जाता है । यह संस्कृतका अदादि गण है । अस्ति, स्मः, ग्रीक, एस्ति, लैतिन एस्त, सु-मुस, प्रा० भा० यू० *एस्ति, *स्मस् ; सं० स्तौमि, स्तुमः.

[२] द्वितीय वर्ग:—इस वर्गमें शुद्ध धातुके साथ 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *ए] का प्रयोग पाया जाता है, तथा धातुका अपश्रुति-जनित रूप पाया जाता है। ग्रीकमें यह कभी ए तथा कभी ओ मिलता है। भरामि, भरति, भरंति, ग्रीक फेरो, फेरोडसि, लै० फेरो, फेरंत, प्रा० भा० यू० *भेरो, *भेरेति, भेरोन्ति; स० बोधति [√बुध्], अजति [√अज्].

[३] तृतीय वर्ग:—इस वर्गमें धातुका द्वित्व पाया जाता है । यह संस्कृतका जुहोत्यादि गण है:—पिपर्मि, पिपृमः, ग्रीक पिप्लमेन् [हम भरते हैं], प्रा० भा० यू० *पिपेल्मि, *पिप्लृमास् , स० जुहोमि, जुहुमः, ददामि, दद्मः, ग्रीक दिदामि, दिदोमेन् , प्रा० भा० यू० *दिदोमि [दिदामि], *दिद्मोस् [दिद्मोस्]

[४] चतुर्थ वर्ग:—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा थिमेटिक 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *ए] भी पाया जाता है:—तिष्ठामि, अवे० हिस्तइनि, लै० सिस्तिव; सं० सश्चति; [प्रा० भा० यू० *सेसचेति]

[५] पंचम वर्ग:—इस वर्गमें प्रा० भा० यू० क्रियाओंमें [?]

*ना—न्‌अ—न्‌ विकरण अथवा [२] *नो-ने विकरण पाया जाता है। प्रथम कोटिमें अश्नामि, अश्नीम, अश्नन्ति, क्रीणामि, क्रीणीमि, क्रीणन्ति रूपोंका समावेश होता है, द्वितीय कोटिमें संस्कृतके धातु नहीं पाये जाते, क्योंकि यहाँ आकार वे सभी प्रथम कोटिमे मिल गये हैं ग्रीकमें ऐसे रूपोंका अस्तित्व है। थुम्बने इसके अवशेष दो तीन संस्कृत क्रियाओंमें संकेत किये हैं :—मिनति [वैदिक रूप], घूर्णते, कृपणते, किन्तु इनमें भी अन्तिम रूप तो नामधातुका है, जो 'कृपणवत् आचरति' से बना है।

[६] **पष्ठ वर्गः**—इस वर्गमे भी दो कोटियाँ मानी गई हैं:—[१] प्रथम कोटिमें *नेव्‌ [नु] विकरण माना गया है, इसके अपश्रुतिजनित *न्व तथा *नुव रूप भी होते हैं:—स्तृणोमि, स्तृणुम, ग्रीक स्तोर्नुमेन्, प्रा० भा० यू० *स्तृनेव्मि, *स्तृनुमोस्। [२] द्वितीय कोटिमे 'नु' विकरणके साथ थिमेटिक 'अ' का भी प्रयोग पाया जाता है, चिन्वति, ग्रीक [होमर] तीनो [<*तिन्वो], प्रा० भा० यू० *क्विन्वेति।

[७] **सप्तम वर्गः**—इसमें भी दो कोटियाँ हैं:—[१] प्रथम कोटिमे *ने/न् [सं० न] विकरणका प्रयोग पाया जाता है:—छिनद्मि, छिन्मः, भुनज्मि, भुञ्ज्मः, [२] द्वितीय कोटिमें 'न्' विकरण धातुके मध्यमें पाया जाता है तथा अ विकरण भी जोड़ा जाता है, विंदामि, लुम्पति।

[८] **अष्टम वर्ग :**—इस वर्गमें धातुके साथ *स् अथवा अस् [əs] या इस् विकरण तथा थिमेटिक 'अ' पाया जाता है। यह विकरण वस्तुतः सन्नन्त [इच्छार्थक] रूपोंमें पाया जाता है, पिपासति, जिजीविषामि।

[९] **नवम वर्ग :**—इस वर्गमे प्रा० भा० यू० धातुके साथ *स्को विकरण पाया जाता था, जो सं० च्छ [छ], ग्रीक स्को, तथा लै० स्क्—के रूपमे विकसित हुआ है, गच्छामि [*ग्व्म्स्को [-स्खो]], पृच्छामि [*पृक्य्स्को]।

[१०] दशम वर्ग:— इस वर्गका प्रा० भा० यू० विकरण *तो था। सं० स्फुटति = *स्फृतति, प्रा० भा० यू० *√स्फूल्ट [स्फूल्ट]+तो + ति [स्फूल्टतोति]। यह विकरण लैतिनकी साक्षीपर माना गया है:— लै० फ़ क्तो. जो ग्रीकमें 'को' के रूपमें विकसित हुआ है, ग्रीक फ़ को।

[११] एकादश वर्ग :—इस वर्गका विकरण *धो-*दो है, जिसका संस्कृतमें ध-द रूप मिलता है। सं० योधति; कूर्दति; क्रीडति [*क्रिज्-द-ति]।

[१२] द्वादश वर्ग :—इस वर्गका विकरण *इओ -ये [सं०-य-] है, सं० पश्यति, अवे० स्पस्येइति, लै० स्पेकिओ, ग्रीक पेस्सो-प्रा० भा० यू० *पेस्त्रो, सं० कुप्यामि, मन्यते, दाम्यति।

[१३] त्रयोदश वर्ग :—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा साथमें *यो-ये विकरण पाया जाता है संस्कृतमें इस वर्गका कोई क्रिया रूप नहीं मिलता। प्राकृत ग्रीक [वल्गार ग्रीक] में इसका एक रूप मिलता है :— ग्रीक तितइनो [titaino], प्रा० भा० यू० *ति-न्न्-यो। ब्रुग्मने पाद-टिप्पणीमें पृच्छ्यते, वन्यते जैसे कर्मवाच्यरूपोंके 'य' विकरणका संबंध इससे जोड़ा है।

[१४] चतुर्दश वर्ग:—इस वर्ग में *एयो-* एये [सं०-अय-] विकरण पाया जाता है। इसका संबंध संस्कृतके णिजन्त रूपोंके 'य' विकरण तथा [चुरादि गणके भी विकरण] से जोडा जा सकता है। संस्कृत तर्पयामि, ग्री० तोरेयो [toreo], प्रा० भा० तोर्म्येयो।

सं० लोकयामि, लै० लूकेओ [luceo] प्रा० भा० यू० लोवुकेयो। सं० स्पृहयामि, प्राकृत [वल्गार] ग्रीक, स्पेर्खोमइ [sperkhomai]

संस्कृतमें ये सभी वैयाकरणोंके दस गणों समाहित हो जाते हैं।

यहाँ इन विभिन्न गणोंपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। हम बता चुके हैं कि विकरणोंके आधारपर संस्कृत वैयाकरणोंने धातुओं को दस गणोंमें विभक्त कर दिया है :—१. भ्वादि गण, २ अदादि गण, ३ जुहोत्यादि गण, ४ दिवादिगण, ५ स्वादिगण, ६ तुदादिगण, ७ रुधादिगण, ८. तनादिगण, ९ क्र्यादिगण, १०. चुरादिगण। वैसे कई ऐसे भी धातु हैं, जिनमें इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र विकरणोंका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु उनका समावेश इन्हींमेंसे किसी एकमें कर दिया गया है।

भ्वादिगण :—प्रथम गणके धातुओंका विकरण 'अ' है इन धातुओंमें धात्वशमें उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा उसकी स्वर ध्वनिमें गुण हो जाता है। इसे हम √जि, √भू, √बुध् के जयति, भवति, बोधति रूपोंमें देख सकते हैं, जहाँ वस्तुत· जि + अ + ति, भू + अ + ति, बुध् + अ + ति का विकास है। यह 'अ' विकरण ग्रीकमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ यह कभी ए होता है, कभी ओ, यथा, ग्रीक फेरते [pherete] [स० भरत], फेरोमेन् [phero-men] [सं० भराम]। इस तथ्यसे यह स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० में यह विकरण कभी *ए तथा कभी *ओ रहा होगा। संस्कृतमे आकर ये दोनों अ के रूपमें विकसित हुए हैं। इसी सबधमें भ्वादिगणके दो धातु √यम् तथा √गम् का उल्लेख कर दिया जाय, जिनके वर्तमाने लट्में यच्छति तथा गच्छति रूप पाये जाते हैं। इन्हींके आधारपर प्रा० भा० यू० में एक विकरण *स्ख [*skh] की की कल्पना की जाती है। इन धातुओंके लुङ् [aorist] तथा लुङ् तिङ् चिह्नोंके आधारपर बने लकारोंमें यह विकरण नहीं पाया जाता, यथा अगमत्, गम्यात्, जगाम में। संस्कृत में यह *स्ख विकसित होकर छ [च्छ] हो गया है, जो √यम्, √गम्, √प्रश् के यच्छति, गच्छति, पृच्छति जैसे रूपोंमे पाया जाता है। चूँकि यह विकरण संस्कृतके बहुत कम धातुओंमे

पाया जाता है, अतः इसके आधारपर कोई अलगसे गण नहीं माना जाता, तथा इन्हें प्रथम या षष्ठ गणके अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया गया है। गम् तथा यम् भ्वादिगणी धातु हैं, तो प्रश् तुदादिगणी धातु। ग्रीक आदि भाषाओंमें भी इस *स्क विकरणके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें यह स्क के रूपमें विकसित हुआ है।[1] संस्कृत गच्छामि के समानान्तर रूप बस्को [ba-skō] में यह विकरण स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

संस्कृतमें भ्वादिगणी धातु सबसे अधिक पाये जाते हैं। प्रायः संस्कृत धातुओंमें आधे भ्वादिगणी हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश कालमें भी यही गण धातुओंमें प्रधान रहा है तथा शेष गण वहाँ लुप्त हो गये हैं। प्रा० भा० यू० भाषाओंमें भ्वादिगणोंमें थिमेटिक 'अ' [विकरण] का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रातिपदिक [nominal stems] में भी पाया जाता है। इसके समानान्तर कतिपय उदाहरण निम्न हैं :—

सं० प्लवते, प्रवते [तिरता है], ग्रीक प्लेवो [plewō] [मैं तैरता हूँ]
,, स्रवति [बहता है], ,, ह्रेइ [rheei]
,, स्वनति [शब्द करता है], लैटिन सोनित् [sonit]
,, स्तनति [गर्जता है], ग्रीक स्तेनेइ [stenei]
,, बोधति [समझता है], ग्रीक पेउफोमइ [peuphomai]
,, सर्पति [रेंगता है], ,, हेर्पइ [herpei], लै० सेर्पित [serpit]
,, त्रसति [काँपता है, डरता है], ग्रीक त्रेओ [treō] [मैं डरता हूँ]
,, पतति [गिरता है], ,, पेतोमइ [petomai]
,, ह्वयते [ध्वनि करता है], अवेस्ता ज़वइति [zavaiti], प्रा० स्ला० ज़ोवेतु [zovetŭ]

1. Atkinson : Greek Language p 47.

दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके कतिपय उदाहरण ये हैं:—√दुह्: दोह् + सि = धोक्षि, दोह् + ति = दोग्धि, √लिह् : लेह् + ति = लेढि, √शास् शास् + धि = शाढि।

इस गणमें कतिपय धातु ऐसे भी हैं, जो मूलतः अविकरण धातु नहीं थे, यथा √त्रा [रक्षा करना], √शास् [शासन करना], √वस् [वस्त्र धारण करना]। ये धातु स्वर प्रक्रियाकी दृष्टिसे अपवाद रूप [इर्रेग्यूलर] है। कई द्वित्व रूपवाले धातु भी इस गणमें सगृहीत हो गये हैं, जैसे √घस् [खाना] [घस्ति, घसति, घस्त] [जो वस्तुत. एक विकृत [defective] धातु है], √जक्ष् [निगलना, खाना [जक्षिति, जक्षित, जग्ध] [यह भी विकृत धातु है]। इस गणमे कतिपय धातु ऐसे हैं, जिनमें धातुके साथ 'इ' अन्त प्रत्यय या विकरणका प्रयोग पाया जाता है, जैसे √रुद् [रोदिति], √स्वप् [स्वपिति], √अन् [साँस लेना] [अनिति], √श्वस् [श्वसिति], √जक्ष् [जक्षिति]। कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनमे वैदिक रूप 'इ' अन्त. प्रत्ययवाले मिलते हैं, किंतु लौकिक रूपोंमें 'इ' का प्रयोग नहीं मिलता। वमिति [लौ० स० वमति], जनिष्व [लौ० स० जनस्व], वशिष्व, स्तनिहि, स्तथिहि, महाभारतमें शोचिमि रूप मिलता है। 'इ' के अतिरिक्त इस गणमे 'ई' विकरण भी पाया जाता है, जो केवल √ब्रू धातुमें पाया जाता है, पर यहाँ भी यह केवल सबल रूपोंमे ही होता है, दुर्बल रूपोंमें इसका 'ब्रव्–' रूप ही मिलता है, यथा ब्रवीति, अब्रवीत् [सबल रूप], अब्रवम्, ब्रुवन्ति [दुर्बल रूप]। इस धातुके समानान्तर अवेस्ता धातु √म्रव् के रूपोंमे यह 'ई' अन्तःप्रत्यय नहीं पाया जाता, अवेस्ता म्रओइते [mraoite] [वह बोलता है], म्रओत् [mraot] [वह बोले] [आज्ञा रूप]। वैसे इस अन्त.प्रत्ययके चिह्न अन्य यूरोपीय भाषाओंमें मिलते है:—लै० अउदीरे [audīre] प्रा० स्लावोनिक सुपितु [supitu] [वह सोता है], म्लुवितु [mluvitu] [बड़बड़ाता है]। ह्रस्व 'इ' अत.प्रत्ययकी भाँति यह प्रत्यय भी लौकिक

संस्कृतमें प्रायः लुप्त हो गया है—केवल √ब्रू धातुमें ही इसका प्रयोग पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें कुछ छुटपुट निदर्शन देखे जा सकते हैं:— अमीति [√अम् 'हानि पहुँचाना'], तवीति [√तु 'बलवान् होना'] शमीष्व [√शम् 'परिश्रम करना']।

अदादि गणके रूपोंके लिए निम्न निदर्शन देना पर्याप्त होगा:—धातु √द्विष् [द्वेष करना]।

कर्तृवाच्य, परस्मैपदी वर्तमाने लट्

प्र० पु० द्वेष्टि, द्विष्टः, द्विषन्ति, म० पु० द्वेक्षि, द्विष्ठः, द्विष्ठ; उ० पु० द्वेष्मि, द्विष्वः, द्विष्मः।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट्:—प्र० पु० द्विष्टे, द्विषाते, द्विषते; म० पु० द्विक्षे, द्विषाथे, द्विड्ढ्वे; उ० पु० द्विषे, द्विष्वहे, द्विष्महे।

परस्मैपदी, अनद्यतनभूते लङ्:—प्र० पु० अद्वेट्, अद्विष्टाम्, अद्विषन्, म० पु० अद्वेट्, अद्विष्टम्, अद्विष्ट; उ० पु० अद्वेषम्, अद्विष्व, अद्विष्म।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूतेलङ्:—प्र० पु० अद्विष्ट, अद्विषाताम्, अद्विषत; म० पु० अद्विष्ठाः, अद्विषाथाम्, अद्विड्ढ्वम्; उ० पु० अद्विषि, अद्विष्वहि, अद्विष्महि।

जुहोत्यादिगणः—इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं, जिनमेंसे लौकिक संस्कृतमें केवल १६ ही धातु इस गणके रूपोंका निर्वाह करते देखे जाते हैं। इस गणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ धातुका द्वित्व हो जाता है। ग्रीक भाषामें भी ऐसे द्वित्व रूपवाले धातु पाये जाते हैं:—ग्रीक, पि [म] प्लेमि, [मैं पूर्ण करता हूँ, मैं भरता हूँ], [सं० पिपर्मि], ग्रीक, पि [म] प्रमेन् [हम जलाते हैं] [सं० पिपृम], ग्रीक फिफास्कनइ [प्रकाश करना, परिचय देना] [सं० बिभर्मि, बिभृम], ग्रीक डिडोमि [मैं देता हूँ] [सं० ददामि], ग्रीक तिथेमि [धारण करता हूँ] [सं० दधामि], ग्रीक हिस्तेमि [ठहरता हूँ] [सं० तिष्ठामि] [संस्कृतमें √स्था धातु भ्वादिगणी है]। इतर भा० यूरोपीय भाषाओंमें ये रूप प्रायः लुप्त हो गये हैं।

धातुके द्वित्वरूपमें, जिन धातुओंमें मूलतः इ या उ स्वर ध्वनि पाई जाती है, ठीक वही ध्वनि रहती है, चिकेति [√कि], जिह्वेति [√ह्री], विवेष्टि [√विश्], बिभेति [√भी], युयोक्ति [√युज्]। अन्य धातुओंमें द्वित्वरूपकी प्रथम स्वर ध्वनि या तो इ या अ पाई जाती है.— [१] जिघ्रति [√घ्रा], पिपर्ति [√पॄ], बिभर्ति [√भृ], जिगाति [√गा जाना], मिमाति [√मा बैलकी तरह शब्द करना], शिशाति [√शा शस्त्रको तेज करना] सिषक्ति [√सक्] [२] ददाति [√दा], दधाति [√धा], जहाति [√हा], बभस्ति [√भस् खाना], ववर्ति [√वृ], ससस्ति [√सस् सोना]।

इस गणके धातु रूपोंमे उदात्त स्वरका कोई निश्चित स्थान नहीं है। यह कभी तो धातुके सबल रूपोंमें धात्वशपर पाया जाता है, जुहोति, जो धातुके गुणवाले अपश्रुति जनित रूपमें पाया जाता है, अथवा यह कुछ धातुओंमें द्वित्वरूपपर भी पाया जाता है, जहाँ यह सदा प्रथमाक्षरपर होता है, दधाति। वैदिक संस्कृतमें प्रायः उदात्त स्वर इनके प्रथमाक्षर पर ही पाया जाता है, जब कि परवर्ती संस्कृतमें यह वास्तविक धात्वशपर पाया जाता है,– बिभर्ति [वैदिक रूप], बिभर्ति [लौकिक रूप]। ग्रीकमें उदात्त स्वर द्वित्वरूप या प्रथमाक्षरपर ही होता है, दिदोमि [didomi]। विद्वानोंने यह अनुमान किया है कि मूलत. इस गणके धातुओंमे कर्तृवाच्य [परस्मैपदी] रूपोंके तीनों पुरुषोंके ए० व० मे उदात्त स्वर धात्वशपर ही पाया जाता था, तथा इसके ब० व० रूपोंमें धातुके दुर्बल रूप होनेके कारण यह उदात्त स्वर द्वित्व अशवाले प्रथमाक्षरपर रहता था. ददति, सश्चति।[1]

धातुके द्वित्व रूपोंमें, उन धातुओंमें जहाँ य् या व् ध्वनि पाई जाती है, इनका सम्प्रसारण हो जाता है :—√व्यच् [विविक्त.], √ह्वर्

[1] T Burrow Sanskrit Language P 322

[जुहुयां]; तथा √सच् [सश्चति] और √भस् [बप्सति] धातुमें एक अक्षरका लोप हो जाता है। 'आ' स्वरध्वनिवाले धातुओंके रूप अनेक तरहसे चलते हैं। इनमें साधारण कोटिके धातु √दा तथा √धा हैं, जिनके दुर्बलरूपमें स्वरध्वनि लुप्त हो जाती है :—दद्व., दद्म., दध्वः, दध्म.। अन्य प्रकारके आ स्वरध्वनिवाले धातुओंमें धातु तथा तिङ् चिह्नके बीच इ या ई जोड़ दिया जाता है। जहिमः, जहिहि [√हा]; शिशीहि [√शा], मिमीते [√मा], ररीथाः [√रा 'देना']।

इस गणके रूपोंका नमूना √धा [धारण करना] धातुके निम्न रूपोंसे किया जा सकता है।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दधाति, धत्तः, दधति, म० पु० दधासि, धत्थः, धत्थ; उ० पु० दधामि, दध्वः, दध्मः।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट् :—प्र० पु० धत्ते, दधाते, दधते; म० पु० धत्से, दधाथे, धद्ध्वे, उ० पु० दधे, दध्वहे, दध्महे।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य, अनद्यतनभूते लङ् :—प्र० पु० अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः, म० पु० अदधाः, अधत्तम्, अधत्त; उ० पु० अदधाम्, अदध्व, अदध्म।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूते लङ् :—प्र० पु० अधत्त, अदधाताम्, अदधत, म० पु० अधत्थाः, अदधाथाम्, अधद्ध्वम्; उ० पु० अदधि, अदध्वहि, अदध्महि।

दिवादिगण :—संस्कृतमें चतुर्थ या दिवादि गणके धातुओंकी संख्या लगभग १३० है। इस गणके धातुओंमें य विकरणका प्रयोग पाया जाता है। यह य विकरण नामधातुओंमें भी प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य रूपोंमें भी य विकरणका प्रयोग पाया जाता है, किंतु दिवादिगणके आत्मनेपदी रूपों तथा कर्मवाच्य क्रिया रूपोंमें यह वैषम्य है कि यहाँ उदात्त स्वर धात्वंश पर पाया जाता है, जब कि कर्मवाच्य रूपोंमें उदात्त स्वर विकरण पर पाया

जाता है, यथा तप्यते [आत्मनेपदी, दिवादिगण], पठ्यते [भ्वादिगणी √पठ् धातुका कर्मवाच्य रूप]। दिवादिगणी धातुओंके रूपोंका निदर्शन यह है :—कुप्यति, नृत्यति, दीव्यति, तुष्यति, क्रुध्यति, युध्यति, विध्यति [√व्यध्], हृष्यति, पश्यति, नह्यति, तप्यते।

'य' विकरणवाले धातुरूपोंके समानान्तर रूप हित्ताइत तथा ग्रीकमे भी पाये जाते हैं:—हित्ताइत वेमिएज्ज़ि [wemiezzi] [ढूँढता है] [सम्भवतः स० विन्दति], ज़ह्हिएज़्ज़ि [zahhiezzi] [युद्ध करता है] [स० युध्यति], ग्रीक मइनतइ [पागल होता है] [सं० मन्यते 'मानता है']। लैतिन में 'य' विकरणवाले थिमेटिक रूपोंके स्थानपर 'इ' वाले अथिमेटिक रूप पाये जाते हैं.—कुपिओ, कुपित् [मैं कुपित होता हूँ, वह कुपित होता है], [स० कुप्यति]

इस गणके कतिपय धातुओंमें धातुके मूलस्वरकी वृद्धि पाई जाती है.—माद्यति, [√मद्] श्राम्यति [√श्रम्]। कुछ ऐसे भी आ ध्वनिवाले धातु हैं, जिन्हें वैयाकरणोंने गलतीसे भ्वादिगणी मान लिया है, जैसे गायति [√गा], ग्लायति [√ग्ला], त्रायति [√त्रा], ध्यायति [√ध्या]। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ये धातु वस्तुतः दिवादिगणके ही माने जाने चाहिये, जहाँ य विकरण पाया जाता है,[1] किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंने इनमें आ स्वर-ध्वनि न मानकर ऐ स्वरध्वनि मानी है तथा इनके धातु रूप क्रमशः √गै, √ग्लै, √त्रै, √ध्यै माने हैं।[2]

---

१ T Burrow Sanskrit Language p 330

२. देखिये —ग्लै-म्लै हर्षक्षये। . ग्लायति [सिद्धांतकौमुदी उत्तरार्ध ७.२.७२. पृ० १८७], गै शब्दे। गेयात् [दे० वही पृ० १८४], ध्यै चिन्तायाम् [वही पृ० १८३], त्रैङ् पालने त्रायते [वही पृ० १६७]। सिद्धांतकौमुदीमें ये सभी धातु भ्वादिगणके ही प्रकरणमें निर्दिष्ट हुए हैं।

इस गणमे कतिपय आ ध्वनि वाले धातु ऐसे भी हैं, जिनमे उदात्त स्वर विकरणशपर पाया जाता है, तथा धात्वंशकी स्वर ध्वनिका लोप हो जाता है। द्यति [√दा], [बाँधता है] छ्यति [√छा], [काटता है] स्यति [√सा], [बाँधता है] श्यति [√शा] [शस्त्र तेज करता है]। इस सबंध मे भी यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि यहाँ भी वैयाकरणोंने इन धातुओंका मूलस्वर आ न मानकर ओ माना है:—√दो [अवखण्डने], छो [छेदने], √शो [तनूकरणे], √षो [√सो] [समापने]। वैसे संस्कृत वैयाकरणोंने इन्हे दिवादिगणमें ही माना है![1] इनके रूपोंका उदाहरण निम्न है :—

प० वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति, म० पु० दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ, उ० पु० दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्यामः। [√दिव्: 'जुआ खेलना']

आ० वर्तमाने लट् :—प्र० पु० दीप्यते, दीप्येते, दीप्यन्ते, म० पु० दीप्यसे, दीप्येथे, दीप्यध्वे, उ० पु० दीप्ये, दीप्यावहे, दीप्यामहे। [√दीप्. चमकना]।

परस्मै० लङ् :—प्र० पु० अदीव्यत, अदीव्यताम्, अदीव्यन्, म० पु० अदीव्यः, अदीव्यतम्, अदीव्यत, उ० पु० अदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम।

आ० लङ् :— प्र० पु० अदीप्यत, अदीप्येतां, अदीप्यन्त म० पु० अदीप्यथाः, अदीप्येथाम्, अदीप्यध्वम् उ० पु० अदीप्ये, अदीप्यावहि, अदीप्यावहि।

इसके पूर्व कि हम पञ्चम गण [स्वादि गण] को लें, सुविधाकी दृष्टिसे हम षष्ठ तथा दशम गणोंको पहले निपटा देना ठीक समझेंगे, क्योंकि ये गण भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इतने जटिल नहीं हैं।

1. देखिये: सिद्धान्तकौमुदी. दिवादिप्रकरण. सूत्र. ७·३·७१. पृ० २८१–८२.

जाता है, यथा तप्यते [आत्मनेपदी, दिवादिगण], पठ्यते [भ्वादिगणी √पठ् धातुका कर्मवाच्य रूप]। दिवादिगणी धातुओंके रूपोंका निदर्शन यह है :—कुप्यति, नृत्यति, दीव्यति, तुष्यति, क्रुध्यति, युध्यति, विध्यति [√व्यध्], हृष्यति, पश्यति, नह्यति, तप्यते ।

'य' विकरणवाले धातुरूपोंके समानान्तर रूप हित्ताइत तथा ग्रीकमें भी पाये जाते हैं:—हित्ताइत वेमिएज्ज़ि [wemiezzi] [ढूँढता है] [सम्भवतः सं० विन्दति], जहिएज़्ज़ि [zahhiezzi] [युद्ध करता है] [सं० युध्यति], ग्रीक मइनेतइ [पागल होता है] [सं० मन्यते 'मानता है']। लैतिन मे 'य' विकरणवाले थिमेटिक रूपोंके स्थानपर 'इ' वाले अथिमेटिक रूप पाये जाते हैं—कुपिओ, कुपित् [मैं कुपित होता हूँ, वह कुपित होता है], [सं० कुप्यति]

इस गणके कतिपय धातुओंमें धातुके मूलस्वरकी वृद्धि पाई जाती है:— माद्यति, [√मद्] श्राम्यति [√श्रम्]। कुछ ऐसे भी आ ध्वनिवाले धातु है, जिन्हे वैयाकरणोंने गलतीसे भ्वादिगणी मान लिया है, जैसे गायति [√गा], ग्लायति [√ग्ला], त्रायति [√त्रा], ध्यायति [√ध्या]। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ये धातु वस्तुतः दिवादिगणके ही माने जाने चाहिये, जहाँ य विकरण पाया जाता है,[1] किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंने इनमें आ स्वर-ध्वनि न मानकर ऐ स्वरध्वनि मानी है तथा इनके धातु रूप क्रमशः √गै, √ग्लै, √त्रै, √ध्यै माने है।[2]

---

१ T Burrow Sanskrit Language p 330

२ देखिये —ग्लै-म्लै हर्षक्षये। ग्लायति [सिद्धांतकौमुदी उत्तरार्ध ७.२.७३ पृ० १८०], गै शब्दे। गेयात् [दे० वही पृ० १८४], ध्यै चिन्तायाम् [वही पृ० १८३], त्रैङ् पालने त्रायते [वही पृ० १९७]। सिद्धांतकौमुदीमें ये सभी धातु भ्वादिगणके ही प्रकरणमें निर्दिष्ट हुए हैं।

षष्ठगण, तुदादिगण :—इस गणके धातुरूप प्रायः भ्वादिगणके धातु रूपोंकी तरह ही चलते हैं। संस्कृतमे इस गणके धातु बहुत हैं, जिनकी संख्या लगभग १५० हैं। इसके उदाहरण ये हैं :—**रुजति, विशति, तुदति, किरति, सृजति, लिखति, सुवति, स्पृशति, मृषति, पृच्छति, दिशति**। अन्य भारोपीय भाषाओंमें इस ढंगके धातु प्रायः नहीं पाये जाते। इस गणके कई धातुओंमें धात्वंशमें अनुनासिक तत्त्वका प्रयोग पाया जाता है, जैसे सिञ्चति [√सिच्], मुञ्चति [√मुच्], विन्दति [√विद्], कृन्तति [√कृत्], लुम्पति [√लुप्], लिम्पति [√लिप्]। इस गणके कतिपय धातुओंमें 'च्छ' [*स्ख, *स्क] विकरण भी पाया जाता है, जिसका संकेत हम पहले दे चुके हैं—इच्छति [√इष्], उच्छति [√वश् 'चमकना'], ऋच्छति [√ऋ 'जाना']। पृच्छति [√प्रश्] में यह विकरण धातुका ही अंग बन गया है, जो लिट्के रूप पप्रच्छ से स्पष्ट है, तथा इस तरह संस्कृत वैयाकरणोंने इस धातुका मूल रूप ही √प्रच्छ् मान लिया है, यद्यपि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे यह √प्रश् है, जो संस्कृतके इसी धातुसे बने अन्य रूप 'प्रश्न' से स्पष्ट है। इस बातका पुनः संकेत करना अनावश्यक न होगा कि भ्वादिगणी धातुके रूपोंसे इसमे यह अंतर है कि वहाँ उदात्तस्वर धात्वंश पर पाया जाता है, जब कि यहाँ [तुदादिगणी धातु रूपोंमें] वह विकरणांशपर पाया जाता है। भवति, पठति, गच्छति [भ्वादिगणी रूप], लिखति, तुदति, दिशति [तुदादिगणीरूप]। इनके रूप प्राय भ्वादिगणी जैसे ही होते हैं, अत. रूपोंका संकेत करना अनावश्यक होगा।

दशम गण, चुरादिगण :—इस गणके धातुरूप भी भ्वादिगणी रूपोंकी तरह ही पाये जाते हैं। इस गणका विकरण '**अय**' है तथा उदात्त स्वर इस विकरणांशके प्रथमाक्षर पर पाया जाता है। संस्कृतमें यह 'अय'

विकरण णिजंत [causative] तथा नाम धातु [denominative] क्रिया रूपोंमें भी पाया जाता है।[1] वैदिक संस्कृतमें इस गणके मूल धातु रूपोंको इन गौण क्रियारूपोंसे अलग रखनेका एक ढंग पाया जाता है। मूल धातुरूपोंमें वहाँ धातुके स्वरका गुण नहीं होता, जब कि नामधातु या णिजंत वाले गौण क्रियारूपोंमें धातुके स्वरका गुणीभाव पाया जाता है, चितयति, दूषयति, तुरयति, धृतयति रुचयति, पतयति, स्पृहयति, मृडयति, शुभयति। चुरादिगणसे ही संबद्ध कुछ धातु ऐसे भी हैं, जिन्हें वैयाकरणोंने भ्वादिगणी मान लिया है।

ह्वयति [√ह्], श्वयति [√श्व], धयति [√ध], जिनमें वैयाकरणोंने हमारे द्वारा कोष्ठकमें निर्दिष्टधातु न मानकर क्रमशः √ह्वे, [ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च] √श्वि [श्वि गतिवृद्ध्योः] √धे [धेट् पाने] धातुरूप माने हैं।

संस्कृतके णिजंत तथा नाम धातुओंके रूप भी इसी गणके अंतर्गत आते हैं :—कामयते, चोरयति, छादयति, अवलोकयति, दूष्यति, भूषयति, ताडयति, गमयति, तर्पयति, वोपयति, शाययति, चूर्णयामि, वर्णयामि, विघ्नयामि, आदि।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत धातुओंको ग्रीक धातुओंकी तरह दो वर्गोंमें बाँटा है :—१. थेमेटिक [thematic] वर्ग, वे गण जिनमें अ विकरण [जिसे ग्रीकमें थेमा [thema] कहते हैं] पाया जाता है। इस वर्गमें प्रथम गण [भ्वादि], चतुर्थ गण [दिवादि], षष्ठ गण [तुदादि] तथा दशम गण आते हैं। हम देख चुके हैं कि चतुर्थ तथा दशम गणमें भी अ पाया जाता है :—य् + अ = य [चतुर्थ गण का विकरण], अय् + अ = अय [दशम-

---

१. यह विकरण 'यो' के रूपमें लैटिनमें भी णिजंत तथा नाम धातुओंके साथ पाया जाता है, इस धातु वर्ग को वहाँ Yod-class कहा जाता है। दे० King and Cookson. p 149.

गणका विकरण]। २. दूसरा वर्ग उन धातुओंका है, जिनमें यह अ विकरण [थेमा] नहीं पाया जाता। इन्हें ग्रीकमें 'अथेमेटिक' [athematic] कहा जाता है। इसके अंतर्गत द्वितीयगण, तृतीयगण, पञ्चमगण, सप्तमगण, अष्टमगण तथा नवमगण आते हैं। हमने यहाँ पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंके ढंगपर इन दो वर्गोंमें इनका वर्णन न कर सुविधाकी दृष्टिसे द्वितीय [अदादि] तथा तृतीय [जुहोत्यादि] गणका विवेचन पहले ही कर दिया है। अब हमारे सामने चार गण बचे रहते हैं, जो ग्रीकके ढंगपर 'अथेमेटिक' कहे जा सकते हैं। इनके विकरण क्रमशः ये हैं —'नु' [पंचमगण, स्वादि], 'न्' [सप्तमगण, रुधादि] 'उ' [अष्टमगण, तनादि], ना [नवमगण, क्र्यादि]। इन चारों गणोंके विकरण यद्यपि एक दूसरेसे भिन्न हैं, पर भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे परस्पर संबद्ध हैं। पंचम तथा अष्टमगण दोनोंमें 'उ' विकरण समान है, यद्यपि पंचममें उसके साथ 'न्' [नु = न् + उ] भी है। इसी तरह पञ्चम, सप्तम एवं नवम तीनों गणोंमें यह समानता है कि इनमें सभीमें अनुनासिक तत्त्व 'न्' विकरणांशमें पाया जाता है :—नु [न् + उ], न्, ना [न + आ]। अतः इसके पहले कि प्रत्येक गणका विवेचन किया जाय, इन विकरणोंकी भाषाशास्त्रीय व्युत्पत्तिपर एकसाथ संकेत कर देना आवश्यक होगा।

पहले हम पञ्चम, सप्तम तथा नवम इन तीन गणके धातुओंके विकरणोंको ले लें। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन तीनों गणोंमें एक समानता पाई जाती है, इन तीनोंमें ही विकरणमें अनुनासिक ध्वनि 'न्' होती है। पञ्चमगणका विकरण नु, सप्तमगणका न, तथा नवमगणका ना है। इन सभीको प्राचीन भा० यू० विकरण *नें [*नॅा] से विकसित माना जा सकता है। यह न् विकरण ग्रीक तथा लैटिनमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ इसका संस्कृत जैसा बाहुल्य नहीं है। उदाहरणके लिए ग्रीक तिनो [ti-n-ō] [मैं चुनता हूँ, सं० चिनोमि] को ले सकते है।[1] सबसे पहले

[1] Atkinson Greek Language pp 86–7

सप्तमगण को लीजिये। इस गणके युनक्ति, भुनक्ति आदि रूपोंमें जो अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, वह वस्तुतः एक गौण तत्त्व है; क्योंकि इन्हींके युयोज, युयुजे; बुभोज, बुभुजे जैसे रूपोंमें इसका सर्वथा अभाव है। किन्तु पञ्चमगणके रूपोंमें; जैसे शृणोति में, यह अनुनासिक तत्त्व वस्तुतः धात्वंशका अभिन्न अंग-सा बन गया है। यहाँ यह 'नु' अक्षर है, जो सबल-रूप [वृद्धि, strong form] में 'नो' हो जाता है, तथा दुर्बलरूप [मलरूप] में केवल 'न्' रह जाता है। किन्तु यहाँ भी लुङ् [Aorist] के रूपोंमें यह अनुनासिक तत्त्व नहीं पाया जाता, जो [श्रुधि], अश्रौषीत् आदि रूपोंमें स्पष्ट है। वस्तुतः इस प्रकारके धातुओंमें, आरंभमें, प्रा० भा० यू० में न् विकरण नहीं पाया जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके √स्तृ धातुको लीजिये, इसका प्राचीनरूप *स्तर् [*स्तेरच्] रहा होगा। इसी रूपसे एक ओर गॉथिक [Gothic] भाषामें अनुनासिक विकरणविहीनरूप स्तॉज [stranz] का विकास हुआ है, दूसरी ओर संस्कृतमें स्तृणोमि, स्तृणुमः [स्तृण्मः] जैसे रूपोंका, जिन्हें क्रमशः प्रा० भा० यू० *स्तृ-नेव्—, *स्तृ-नु—, *स्तृ-न्—से विकसित माना जायगा। इसके विषयमें यह कहा जा सकता है इस नु में वस्तुतः न् तथा उ इन दो विकरणोंका समावेश है। गॉथिकमें यह केवल उ रूपमें ही पाया जाता है। यही न् जो संस्कृतके पञ्चमगणमें उ से मिलकर नु बन गया है, नवमगणमें आ विकरणसे मिलकर ना हो गया है। यह ना दुर्बल रूपोंमें, व्यञ्जनके पूर्व नी तथा स्वरके पूर्व न हो जाता है, यथा गृभ्णामि, गृभ्णीम, गृभ्णन्ति, क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति।

नास्तिक दृष्टिसे प्रथमगणके धातुओंमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, किन्तु वहाँ यह अनुनासिक तत्त्व विकरण न होकर धातुका ही अंश है। इस कोटिके अधिकतर धातुओंमें यह 'न्' धात्वंशमें पाया जाता है, जो √धन्, √मन्, √तन् आदि धातुओंमें स्पष्ट है। ये धातु लुङ् तथा इनके आधारपर बने तनात रूपोंमें भी अनुनासिक तत्त्वको नहीं छोड़ते,

घ्ननिष्ठा', अमंस्त, अतन्। वस्तुतः संस्कृतके तनोति का तनो—प्रा० भा० यू० *तनेव् से विकसित न होकर *तन्-नो से विकसित हुवा है। इससे यह स्पष्ट है कि मूलतः अष्टमगणके ये धातु पञ्चमगणके ही अग हैं। किन्तु, धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर कृणोमि जैसे रूपोंके वैकल्पिकरूप करोमि के रूपमें पाये जाने लगे, और उन्हें तनोमि के समान मानकर इस अष्टमगणमे रख दिया गया।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'न्' ही वास्तविक विकरण था, या यह *ने / *नो का दुर्बलरूप [weak form] था। इस सबधमे रुधादि गण [सप्तमगण] के रूपोंपर थोड़ा दृष्टिपात कीजिये। उदाहरणके लिए रुणद्धि तथा मुञ्चति [जो वस्तुतः षष्ठगण—तुदादिगणका धातु है] इन दो रूपोंको लीजिये। आरभमें ये दोनों रूप कुछ भिन्न प्रतीत होंगे, किन्तु इनके बहुवचन [प्र० पु० व० व०] रूप रुन्धन्ति तथा मुञ्चन्ति इस बातको स्पष्ट करते हैं, कि रुणद्धि वस्तुतः न विकरणयुक्त रूप है, जब कि मुञ्चति, न् [ञ्] विकरणयुक्त है। अर्थात् एकका अनुनासिक विकरण 'न' [ण] है, दूसरे का केवल न् [ञ्]। इस सबधमें एक और महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देनेकी यह भी है कि 'अ' विकरणका प्रयोग मुञ्चति वाले रूपमे अधिक पाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ उदात्त स्वर इस अ विकरणपर पाया जाता है, मुञ्चति, किन्तु रुणद्धि में उदात्त स्वर 'न' [ण] पर पाया जाता है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि यदि रुध् का वर्तमान प्र० पु० ए० व० रूप अ विकरणसे युक्त पाया जाता अर्थात् यदि यह षष्ठगणका धातु होता, तो *रुन्धति रूप बनता, इसी प्रकार यदि √मुच् का यही रूप अ विकरण विहीन पाया जाता अर्थात् यदि यह सप्तमगणका धातु होता, तो *मुनक्ति रूप बननेकी सभावना थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुधादि धातुओंके रूप वस्तुतः मुचादि धातुओंके

ही 'अ'-विकरणहीन रूप है, तथा यहाँ वास्तविक अनुनासिक तत्त्व 'न' [*ने/*ने] ही है, केवल 'न्' नहीं।

पंचमगण, स्वादिगणः—संस्कृतमें इस गणके लगभग ५० धातु पाये जाते हैं। जैसा कि हम संकेत कर चुके है, इस गणका विकरण 'नु' [न्+उ] है। इस 'नु' का सबल रूपमें 'नो' हो जाता है। ग्रीकमें इसका 'नु' [नू] रूप पाया जाता है :—सं० ऋणोमि, ग्रीक ओर्नूमि [ornūmi], सं० स्तृणोमि, ग्रीक स्तोर्नूमि [stornūmi], सं० चिणोमि, ग्रीक फ्थिनो [phthinō], मिनोमि, लैतिन मिनुओ सं० धूनोमि, ग्रीक थूनो [thūnō] संस्कृतमें इस गणके धातुओंके अन्य उदाहरण ये हैं.—चिनोति, हिनोति, वृणोति, धृष्णोति, अश्नोति, आप्नोति, राध्नोति। इनमें से कई धातु ऐसे भी हैं, जिनमें 'नु' के स्थानपर 'ना' [नवमगणके विकरण] का वैकल्पिक प्रयोग पाया जाता है:—वृणोति-वृणाति, स्तृणोति-स्तृणाति, क्षिणोति-क्षिणाति।

अन्य भा० यू० भाषाओंमें इन धातुओंमें से कई के समानान्तर रूपोंमें 'नु' के स्थानपर केवल 'उ' विकरण पाया जाता है। इसमें स्तृणोति के समानान्तर गॉथिक रूप 'स्त्रौज' का संकेत हम कर चुके हैं, अन्य रूप ये हैं.—सं० ऋणोति [वैकल्पिक ग्रीकरूप 'ओराउओ [orouo]], धृष्णोति [ग्रीक थ्रासुस् thrasus]। स्वयं संस्कृतमें ही इनसे व्युत्पन्न कई नाम शब्दोंमें यह 'नू' वाला विकरणांश नहीं पाया जाता:—वृणोति—वस्त्र, जिनोति—जीव, साध्नोति—साधु। एक धातुमें यह 'उ' विकरणांश स्वयं धातुका ही अंग बन गया है: जो √श्रु धातुमें पाया जाता है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ √श्र [शर्—] धातु माना जाना चाहिये, जो इसके वर्तमानकालके रूपसे स्पष्ट है:—'श्र-णो-ति' [√श्र—विकरण न्+उ—[तिङ् प्रत्यय] [प्रा० भा० यू० *क्ल्-न्-एउ-ति [kl-n-eu-ti]। इस वर्गके कुछ धातु

ऐसे भी है, जिनमें साथ ही साथ 'अ' विकरण भी पाया जाता हैः— 'पिन्वति' [दि० पिनुते, अवे० पिनओइति], इन्वति [वै क० रू० इनोति], हिन्वति [वैक० रू० हिनोति], जिन्वति [—जिनोति]।

रूपः—धातु √सु [उभयपदी] 'निचोडना, नहाना, मथना'।

वर्तमान, परस्मैपदी.—प्र० पु० सुनोति, सुनुत., सुन्वन्ति., म० पु० सुनोषि, सुनुथ, सुनुथ, उ० पु० सुनोमि, सुनुव-सुन्व, सुनुम-सुन्म.। वर्तमान, आत्मनेपदीः—प्र० पु० सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते, म० पु० सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे, उ० पु० सुन्वे, सुनुवहे-सुन्वहे, सुनुमहे सुन्महे। लङ्, परस्मैपदीः—प्र० पु० असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन्, म० पु० असुनोः, असुनुतम्, असुनुत, उ० पु० असुनवम्, असुनुव-असुन्व, असुनुम-असुन्म।

लङ्, आत्मनेपदीः—प्र० पु० असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत, म० पु० असुनुथाः, असुन्वाथाम्, असुनुध्वम्, उ० पु० असुन्वि, असुनुवहि-असुन्वहि, असुनुमहि-असुन्महि।

सप्तमगण, रुधादिगण :—इस गणके लगभग ३० धातु हैं। इस गणका विकरण अनुनासिक तत्त्व [न्] है। अन्य प्रा० भा० यू० भाषाओंमें इस गणके धातुओंमें अ विकरण जोड़ दिया गया है, तथा वे 'अथेमेटिक' [athematic] वर्गके धातु नहीं रहे है। यह प्रवृत्ति कतिपय धातुओंमे संस्कृतमें भी पाई जाती हैं, स० विन्दति, जब कि अवेस्तामे इसका समानान्तर रूप 'विनस्ति' है। यद्यपि इस गणको पंचम तथा नवम गणसे सर्वथा भिन्न माना गया है, किंतु मूलत. यह गण उन्हींका एक अंग है। इनमे भेद केवल इतना है कि यहाँ 'न्' विकरण धातुमें घुल मिल-सा गया है। इसीलिये प्रो० टी० बरो ने इन तीनोंका विश्लेषण एक सा माना है —पंचमगण .—कृ-न्-एव्-ति [kḷ-n-nw-ti] [स० शृणोति],

नवम गण—*प्ल्-न्-ए॑?-ति[1] [pl-n-e'H-ti] [सं० पृणाति], सप्तम गण * यु-न्-ए॑ग्-ति [yu-n-e'g-ti] [सं० युनक्ति]।[2] प्रो० बरोने बताया है कि ये धातु मूलतः व्यञ्जनान्त न होकर स्वरान्त थे। इसकी पुष्टि इस तथ्यसे होती है कि संस्कृतमें ही यातो इनके वैकल्पिक स्वरान्त रूप पाये जाते हैं, या इनसे व्युत्पन्न रूपोंमें अंतिम व्यञ्जन ध्वनि नहीं पाई जाती है :— सं० √युज् , के साथ ही सं० √यु [यौक्त] भी उसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। √छिद् से वैक० रूप 'छ्यति' [काटता है] पाया जाता है, तथा इसका 'क्त' प्रत्ययान्त रूप 'छित' [*छित्त नहीं. वैसे इनका वैक० रूप 'छिन्न' भी है, जो *छित्त का स्थानापन्न] है।

इस वर्गके धातुओंके कतिपय रूप ये हैं :—छिनद्मि [√छिद्] [लै० स्किन्दो], भिनद्मि [√भिद्] [लै० फ़िन्दो]· पिनष्टि [√पिष्] [लै० पिंसो], शिनष्टि [√शिष्], भुनक्ति [√भुज्], रुणद्धि-रुन्धन्ति [√रुध्], वृणक्ति-वृञ्जन्ति [√वृज्]।

रूप :—√भुज् [परस्मैपदी 'पालन करना', आत्मनेपदी 'खाना']।

वर्तमान: परस्मैपदी :— प्र० पु० भुनक्ति, भुङ्क्तः, भुञ्जन्ति, म० पु० भुनक्षि, भुङ्क्थः, भुङ्क्थ, उ० पु० भुनज्मि, भुञ्ज्वः, भुञ्ज्मः।

वर्तमान आत्मनेपदी :—प्र० पु० भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते, म० पु० भुङ्क्षे, भुञ्जाथे, भुङ्ग्ध्वे, उ० पु० भुञ्जे, भुञ्ज्वहे, भुञ्ज्महे।

लङ् परस्मैपदी :—प्र० पु० अभुनक् , अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन् , म० पु० अभुनक् अभुङ्क्तम्, अभुङ्क्त, उ० पु० अभुनजम्, अभुञ्ज्व, अभुञ्ज्म।

---

1. हमने ? चिह्नका प्रयोग Laryngeal Sound के लिए किया है, जिसे प्रो० बरोने H चिह्न के द्वारा व्यक्त किया है।

2. T. Burrow Sanskrit Language P. 327.

लङ् आत्मनेपदी—प्र० पु० अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्, अभुञ्जत, म० पु० अभुङ्क्था., अभुञ्जाथाम्, अभुङ्ग्ध्वम्, उ० पु० अभुञ्जि, अभुञ्ज्वहि, अभुञ्ज्महि।

अष्टमगण, तनादि गण :—इस गणका विकरण नो-नु के स्थानपर ओ-उ पाया जाता है। इस गणके कई धातुओंमें धात्वशमे 'न्' पाया जाता है, यथा √तन् धातुमे जिसका 'तनोति' रूप बनता है। इसी तरह अन्य धातुओंके उदाहरण ये है :—सनोति [√सन्], वनोति [√वन्], मनुते [√मन्], क्षणोति [√क्षन्]। इनके अतिरिक्त इस गणमे एक धातु ऐसा भी है, जिसमें धात्वशमें 'न्' नहीं है, यथा—√कृ [करोति, कुरुते]। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि यह 'न्' मूलतः धात्वश न होकर विकरणाश ही था। इस तरह 'तनोति' का विकास *तन्-नेउ-ति [tn̥-neu-ti] से माना गया है, जहाँ प्रा० भा० यू० धात्वश 'न्' [तन्] का सस्कृतमे 'अ' हो गया है। जहाँ तक '√'कृ' [करोति] धातुके रूपोंका प्रश्न है, वहाँ 'नो' नहीं पाया जाता, किंतु वेद तथा अवेस्ता दोनोंमें ही यहाँ भी 'नु'-'नो' विकरण देखा जाता है :—स० कृणोति-कृणुते, अवे० क्अर्अनओइति [kərən-aoiti], प्राचीन फारसी, अकुनवम्। इससे यह अनुमान होता है कि 'करोति' जैसे सस्कृत रूप वस्तुत. 'कृणोति' के ही वैकल्पिक रूप हैं, जिन्हें हम प्राकृत रूप मान सकते हैं। किंतु मजेकी बात तो यह है कि प्राकृतमें वैदिक रूपोंसे विकसित 'कुणइ' रूप भी मिलते हैं, जब कि लौकिक सस्कृतमें 'कृणोति' जैसे 'नु-नो' विकरणवाले रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं।

रूप :—√'कृ' 'करना' [उभयपदी]।

लट्, परस्मैपदी —प्र० पु० करोति, कुरुत, कुर्वन्ति, म० पु० करोषि, कुरुथ, कुरुथ, उ० पु० करोमि, कुर्व, कुर्म।

लट्, आत्मनेपदी :—प्र० पु० कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते, म० पु० कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे, उ० पु० कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे।

लङ्, परस्मैपदी :—प्र० पु० अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन्, म० पु० अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत, उ० पु० अकरवम्, अकुर्व, अकुर्म।

लङ्, आत्मनेपदी :—प्र० पु० अकुरुत, अकुर्वाताम्, अकुर्वत, म० पु० अकुरुथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरुध्वम्, उ० पु० अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि।

नवमगण क्र्यादिगणः—इस गणका विकरण 'ना' है। इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं। इनके उदाहरण ये हैं:—क्रीणाति [√क्री] [आयरिश 'क्रेनइद' [crenaid], लिनाति [√ली श्लेषणे], [आयरिश 'लेनइद' [lenaid] [चिपकता है], शृणाति [√शॄ] 'नाश करना' [आयरिश अर्-श्रिनत् [ar-chrinat] [वि नष्ट होते हैं]], अश्नामि [√अश्], जानामि [√ज्ञा], पुनामि [√पू], लुनामि [√लू], प्रीणामि [√प्री], वृणामि [√वृ], बध्नामि [√बन्ध्], मथ्नामि [√मन्थ्], स्तभ्नामि [√स्तम्भ्]।

इस विकरणमें मूलतः दो विकरण हैं:—ना = न् + आ [प्रा० भा० यू० न् + अ ? [n+aH-]]। संस्कृतमें 'आ' विकरण [अन्तः प्रत्यय] कई रूपों में पाया जाता है, जो –'आय' वाले रूपोंमें पाये जाते हैं:—गृभायति, मथायति, स्कभायति। ये वस्तुतः गृभ्णाति, मथ्नाति, स्कभ्नाति के वैकल्पिक रूप हैं; तथा चुरादिगणके रूप हैं। यह '–आ' विकरण कतिपय स्थानोंपर धातुका ही अंग बन गया है, जैसे √ज्या [जिनाति], √प्रा [पृणाति] में।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें ह्रस्व 'इ, उ, ऋ' स्वर पाये जाते हैं, दुर्बल प्रत्ययों के साथमें दीर्घ ई, ऊ, ॠ हो जाते हैं।[१] यथा—पुनाति-पून, पृणाति-पूर्ण। निष्ठाओंमें भी इन धातुओंमें कहीं पर मूल स्वर दीर्घ हो जाता है। इस तरह इन्हें दो वर्गोंमें बाँटा जा सकता है.—[१]–ना के पूर्व ह्रस्व इ-उ स्वरवाले धातु; जिनाति, पुनाति, लुनाति आदि, [२]–ना के

१. T. Burrow: Sanskrit Language p. 325

पूर्व धातुके मूल स्वरको दीर्घ करनेवाले, प्रीणाति, श्रीणाति, आदि। इनमें द्वितीय वर्गमें केवल 'ई' कारांत धातु ही पाये जाते हैं। कईमें दोनों तरहके रूप पाये जाते हैं:—ब्लिनाति–ब्लीनाति [√ब्ली] 'दबाता है'। हम बता चुके हैं कि –ना– विकरण दुर्बल तिङ्रूपोंमें –'नी'– तथा स्वर वाली तिङ विभक्तिके पूर्व –'न'– हो जाता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमें ही पाई जाती है, अन्य किसी भा० यू० भाषामें नहीं।

रूप.—√क्री 'खरीदना' [उभयपदी]

लट्, परस्मैपदी.—प्र० पु० क्रीणाति, क्रीणीत., क्रीणन्ति, म० पु० क्रीणासि, क्रीणीथ, क्रीणीथ, उ० पु० क्रीणामि, क्रीणीव, क्रीणीमः।

लट्, आत्मनेपदीः—प्र० पु० क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते, म० पु० क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे, उ० पु० क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे।

लङ्, परस्मैपदीः—प्र० पु० अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन्, म० पु० अक्रीणा, अक्रीणीतम्, अक्रीणीत, उ० पु० अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीव।

लङ्, आत्मनेपदीः—प्र० पु० अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत, म० पु० अक्रीणीथा, अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम्, उ० पु० अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि।

अब हम उन विकरणोंकी ओर आते हैं, जो किन्हीं विशेष लकारोंमें प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार न् विकरणके कई रूप हम अभी-अभी देख चुके हैं, उसी प्रकार संस्कृत धातुओंके लुङ् रूपोंमें स् विकरणके कई रूप पाये जाते हैं। इस विकरणके चार रूप पाये जाते हैं:—[१] स्, [२] इष्, [३] सिष्, [४] स। वैसे लुङ् लकारके कई रूपोंमें [५] विकरणहीन रूप, तथा [६] द्वित्ववाले रूप भी मिलते हैं।

इसके पूर्व कि हम लुङ्के रूपोंपर भाषावैज्ञानिक संकेत करें, हमें इस बातकी ओर ध्यान दे लेना होगा कि तिङ् चिह्नोंको भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं, मुख्य तथा गौण। प्रथम परिच्छेदमें हम

इन दोनों प्रकारके तिङ् चिह्नोंका जिक्र प्रा० भा० यू० क्रियाओंके संबंधमें कर चुके हैं। इस संबंधमें पहले यह समझ लिया जाय कि प्रमुख तथा गौण चिह्न दोनोंका प्रयोग वर्तमान कालके रूपोंमें पाया जाता है, जब कि लुङ् [अयोरिस्ट] के साथ केवल गौण तिङ् चिह्नोंका ही प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे इन दोनोंमें इसके अतिरिक्त कोई भेद नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये 'अ' विकरण वाले लुङ् रूप वे वर्तमान रूप ही हैं, जिनमें गौण चिह्न प्रयुक्त होते हैं। यही कारण है कि इस प्रकारके लुङ्रूप उन्हीं गणोंमें पाये जाते हैं, जो '[य्] अ—' विकरणसे युक्त पाये जाते हैं। स् विकरणवाले लुङ् रूपोंका संबंध इसी प्रकार स् विकरणवाले वर्तमान रूप वाले धातुओंसे जोड़ा जाता है, किन्तु संस्कृतमें शुद्ध स् विकरणवाले धातु नहीं पाये जाते। यह स् वस्तुतः य से मिलकर स्य के रूपमें पाया जाता है, जो संस्कृतमें भविष्यत् के रूपोंमें प्रयुक्त होता है। संस्कृतमें यह स्य, वक्ष्यामि, तथा देक्ष्यति में स्पष्ट है। वस्तुतः आरम्भिक स्थितिमें ये स्य वाले रूप भविष्यतके अर्थमें प्रयुक्त न होकर [सन्नन्त] वर्तमानके अर्थमें प्रयुक्त होते थे। इन्हींसे स्य विकरणवाले लुङ्रूपोंका संबंध माना जाता है। आगे जाकर यह स्य भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त होने लग गया। स् की मीमांसा हो जानेपर स की भी समस्या सुलझ जाती है, जो स् तथा अ विकरणके योगसे बना है। स विकरणवाले लुङ्रूपोंकी एक विशेषता है कि यह केवल नौ ही धातुओंमें पाया जाता है, तथा इन धातुओंके अन्तमें ज्, श्, ष्, ह् ध्वनियाँ पाई जाती हैं। उदाहरणके लिए हम इन रूपोंको ले सकते हैं:—

√सृज्-असृक्षत्, √दृश्- अद्रक्षत, √रुह्-अरुक्षत्।

संस्कृतमें स्य वाले भविष्यत् रूपोंमें सेट् रूप भी पाये जाते हैं, जिन्हें हम करिष्यति, भविष्यति आदिमें पा सकते हैं। अर्थात् भविष्यत्के इन रूपोंमें 'इस्य' [इष्य] विकरण पाया जाता है। जिस प्रकार स् [लुङ् का विकरण] सन् से सम्बन्धित है, उसी प्रकार इष् [लुङ् का विकरण] भी 'इस्य' [इष्य] से सम्बद्ध है, जो वस्तुतः स् का ही 'सेट्' रूप है। असलमें यह

अलगसे विकरण न होकर स् के ही अन्तर्गत है। इस सेट् लुङ् रूपका उदाहरण हम √'स्तर्' [-स्तृ]–अस्तरिषम् दे सकते हैं। संस्कृतमें सिष् विकरणवाले लुङ् रूप भी पाये जाते हैं, किन्तु ये रूप बहुत कम पाये जाते हैं। इसकी उत्पत्ति एक समस्या है। सभव है, यह विकरण स् तथा इष् दोनोंके सम्मिश्रणसे बना हो। इसके रूप अयासिषम्, अयासिष्टाम् आदिमें देखे जा सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि स् विकरणयुक्त लुङ् रूप ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, तथा वहाँ कई धातुओंमें, लुङ्में, यह स् प्रयुक्त होता है। किन्तु जिन ग्रीक धातुओं के अन्तमें र, ल या अनुनासिकध्वनि होती है, वहाँ यह स् लुप्त हो जाता है। स् विकरण-वाले रूप ग्रीकमें दुर्बल लुङ् [weak Aorist] कहलाते हैं, यथा ऍ-लु-स्-अ [ऍलुस] [e-lu-s-a]।[1] दूसरे प्रकारके सबल "अयोरिस्टोंमें" यह स् नहीं पाया जाता। यह उन धातुओंमें नहीं पाया जाता, जिनके वर्तमानमें किसी विकरणका प्रयोग पाया जाता है। जहाँ वर्तमानके रूपोंमे कोई विकरण पाया जाता है, वहाँ लुङ् रूप सीधे मूल [धातु] रूपसे बनाये जाते है। वर्तमानके रूपोंमे भूतकालके द्योतनके लिए [अनद्यतनभूते] लङ् [imperfect] के रूप बनाये जाते हैं।[2] ठीक यही बात कई धातुओंमे संस्कृतमें पाई जाती है। उदाहरणके लिए √गम् धातुको लीजिये। इसके वर्तमानके रूपोंमें 'च्छ' [*स्ख] विकरणका प्रयोग होता है, किन्तु लुङ्मे इसके रूप सीधे गम् से ही बनते हैं, जब कि लङ्में वर्त-माने लट्के रूपोंकी तरह ही स विकरणवाले रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए निम्न रूपों को लीजिये—

---

१ इन्हें ग्रीकमें सिगमेटिक अयोरिस्ट [Sigmatic Aorist] भी कहते हैं। दे० King and Cockson Comparative Grammar of Greek and Latin p 140

२ Atkinson Greek Language pp 90-91

√गम्-गच्छामि [लट्], अगच्छम् [लङ्], अगमम् [लुङ्]। इसी धातुके समानान्तर ग्रीक धातुके निम्न रूपोंमें भी हम यही बात देख सकते हैं :—बोस्को [bosko] [मैं जाता हूँ], बोस्कोन् [boskon] [Imperfect] [मैं गया, लङ् रूप], बो-ओन् [bo-on] [Aorist] [मैं गया, लुङ् रूप]। इस प्रकार केवल 'अयोरिस्ट' [लुङ्] प्रायः वही तिङ् चिह्न प्रयोगमें लाते हैं जो 'इम्परफेक्ट' [लङ्] में होते हैं। इन दोनों का खास भेद यही है कि एकमें वर्तमानवाला विकरण प्रयुक्त नहीं होता, दूसरेमें वह प्रयुक्त होता है। उत्तम पुरुष एकवचनका 'लुङ्' [\on-t] का तिङ् चिह्न संस्कृतमें अम् है, ग्रीकमें 'ओन्' [on]।

लुङ् रूपोंमें अब जो श्रेणी बची रही, वह द्वित्ववाली है, उदाहरणके लिए हम √जन् धातुके अजीजनत् रूपको ले सकते हैं। सर्वप्रथम, यह द्वित्व एक समस्या उत्पन्न कर देता है, क्योंकि प्रायः लुङ् रूपोंकी रचना धातुके मूल रूपके आधारपर ही बनती है, साथ ही जिन धातुओं [जुहोत्यादि गण] के वर्तमाने लट्वाले रूपोंमें द्वित्व पाया जाता है, वहाँ लुङ्में द्वित्वका अभाव है। वैसे पदरचनात्मक दृष्टिसे इनका सम्बध गौण तिङ् चिह्न युक्त वर्तमानके द्वित्व रूपोंसे जोड़ा जा सकता है, या द्वित्ववाले [परोक्षभूते] लिट्के रूपोंसे। फिर भी ये रूप एक समस्या ही बने रहते हैं। इनके समानान्तर रूप केवल ग्रीकमें ही देखे जाते हैं, यथा, ग्रीजनत् [[illegible]] [सं० अजीजनत]। सम्भवतः इस तरहके लुङ् रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

लुङ्के इन विभिन्न रूपोंके निम्नलिखित उदाहरण ये हैं :—

[अ] मूल धातुवाले लुङ् :—√दा-अदात्, अदाताम्, अदुः; √भू-अभूत्, अभूताम्, अभूवन्: आदि रूप।

[आ] अ विकरणवाले लुङ् :—√सिच्-[[illegible]] असिचत्,

असिचताम्, असिचन्, [आत्मनेपदी] √ असिचत, असिचेताम्, असिचन्त आदि रूप।

[इ] द्वित्ववाले लुङ् रूप :—√ श्रि–अशिश्रियत्, अशिश्रियताम्, अशिश्रियन्, √ मील्–अमिमीलम् [उ० पु० ए० व०], √ द्रु–अदुद्रुवम्, √ जन–√ अजीजनम्, √ मर्–अमीमरम्, √ दर्श–अदीदृशम्, √ विश्–अवीविशम्, √ युज्–अयूयुजम्।

[ई]–स्–वाले लुङ् रूप :—√ रुध्–अरौत्सीत्, अरौत्ताम्, अरौत्सु [परस्मैपदी], अरुत्त, अरुत्साताम्, अरुत्सत [आत्मनेपदी], √ नी–अनैषीत्, अनैष्टाम्, अनैषु. [परस्मैपदी], अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत [आत्मनेपदी]

[उ]-इष्–वाले लुङ् रूप :—√ बुध्–अबोधीत्, अबोधिष्टाम्, अबोधिषुः [परस्मैपदी], अबोधिष्ट, अबोधिषाताम्, अबोधिषत [आत्मनेपदी]।

[ऊ] –सिष् वाले लुङ् रूप :—√ या–अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषु,।

[ए] –स-वाले लुङ् रूप ·—√ दिश्–अदिक्षत्, अदिक्षताम्, अदिक्षन् [परस्मैपदी], अदिक्षत, अदिक्षाताम्, अदिक्षन्त [आत्मनेपदी]।

[ऐ] –इ वाले कर्मवाच्य क्रियाओंके लुङ् रूप .—यह 'इ' विकरण केवल प्रथम पुरुषके ए० व० मे ही प्रयुक्त होता है, जो उपर्युक्त विकरणोंसे सर्वथा भिन्न है। 'अज्ञायि' [√ ज्ञा से कर्मवाच्य रूप], अदर्शि [√ दृश् से कर्मवाच्य रूप]। इ, उ या ऋ स्वर ध्वनिवाले धातुओंमें इन लुङ् रूपोंमे स्वरध्वनिका गुणीभाव पाया जाता है—अचेति [√ चित् से कर्मवाच्य], अबोधि [√ बुध्], असर्जि [√ सृज्]। अन्य स्थानोंपर वृद्धि रूप अधिक पाया जाता है—अगामि [√ गम्], अकारि [√ कृ], √ अस्तावि [√ स्तू], √ अश्रायि [√ श्रृ], गुणरूप कम [अजनि–√ जन, अवधि–√ वध्]। यह 'इ' ईरानी वर्ग मे पाया जाता है, यथा अवे०

स्नावि [सं० श्रावि]; पु० फारसी अदारिय् [सं० अधारि], किन्तु अन्यत्र नहीं पाया जाता।

दिवादिगणके सम्बन्धमें हम एक विकरणका उल्लेख कर आये हैं। यह विकरण 'य' है। वैसे यह विकरण हम पश्यति में भी देख सकते हैं, जो संस्कृतमें दिवादिगणका धातु न होकर भ्वादिगणका धातु है। यह पश्यति संस्कृतमें √दृश् धातुका रूप माना जाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे इसका मूलरूप अलग धातु √*पश् रहा होगा। यह य विकरण, जो इस धातुके वर्तमान रूपोंमें स्पष्ट है प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुआ है, यह तथ्य अवेस्ता स्पसयेइति [spasayeiti], तथा लैटिन स्पेकिओ [specio] से स्पष्ट है। किन्तु संस्कृतके लुङ् रूपोंमें यह य नहीं पाया जाता, इससे यह अनुमान होता है कि यह य वस्तुतः अ विकरणका ही विकसित रूप है। इसीलिए कई धातुओंमें अ तथा य दोनों प्रकारके वर्तमान रूप पाये जाते हैं, यथा, राधति, राध्यति, तृपति, तृप्यति। आगे जाकर यह य संस्कृतके कर्मवाच्य [भाववाच्य] रूपोंमें प्रयुक्त होने लग गया, पठ्–पठ्यते, भुज्–भुज्यते, √दा–दीयते, √भू–भूयते। यह य, [अ + य] के रूपमें णिजन्त रूपोंमें भी पाया जाता है, यथा पाठयति, भोजयति, दापयति, भावयति।

अब तक हमने वर्तमाने लट् तथा लुङ्का विचार किया, क्योंकि ये ही धातुओंके दो प्रकार—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक रूपोंके निर्णायक हैं। एक कोटि सार्वधातुक रूपोंकी भित्ति है, तो दूसरी आर्धधातुक रूपोंकी। ये रूप निर्देशात्मक हैं। अब हम हेतुहेतुमद्के रूपोंको लेंगे। इन रूपोंमें, वैदिक, प्रायः अ विकरणका प्रयोग पाया जाता है। इस संबंधमें यह ध्यान देने की है कि हेतुहेतुमद् [conditional] के रूपोंमें गौण तिङ् विभक्तियोंका प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए शृण्वद् वचांसि मे, में [शृणु + अ + त] पाया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे वर्तमाने लट् तथा लुङ् दोनोंके समान हेतुहेतुमद् रूप संस्कृतमें पाये जाने चाहिए थे, किन्तु ऐसे रूप

वेदमें बहुत कम पाये जाते हैं, इसका एक उदाहरण ऊपर दिया गया है। भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित हेतुहेतुमत् वाला [लृङ् वाला] रूप वेदमें केवल एक बार ही प्रयुक्त हुआ है, जो 'करिष्यः' [लौ० सं० अकरिष्य.; √कृ] है। लुङ्के आधारपर बनाये गये हेतुहेतुमत्रूप भी बहुत कम पाये जाते हैं, उदाहरणके लिए 'नेषत्' [√नी] को ले सकते हैं। लौकिक संस्कृतमें आकर हेतुहेतुमत्में केवल भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित रूप ही पाये जाते हैं, जिनमें आरभमें भूतकाल [लङ् तथा लुङ्] की तरह अ का आगम तथा अन्तमें गौण तिङ् विभक्तियाँ पाई जाती हैं।

भविष्यत्के लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं .—लृट् तथा लुट्। लृट्में धातुके गुणीभूत रूपके साथ स्य या–इष्य जोड़ दिया जाता है, यथा दास्यति, [√दा] धोक्ष्यति, [√दुह्] पठिष्यति [√पठ्] गमिष्यति [√गम]। लृट्के[1] तिङ् चिह्न ठीक वही होते हैं, जो वर्तमाने लट्में पाये जाते हैं। स्य तथा इष्य वाले रूपोंके समानान्तर रूप केवल अवेस्ता तथा लिथुआनियनमें पाये जाते हैं, जैसे .—अवेस्ता् वख्श्या [vaxš̆y'a] [मैं कहूँगा] [स० वक्ष्यामि], लिथुआनियन दुओसिउ [du'osıu] [मैं दूँगा] [स० दास्यामि]। ग्रीकमें इसके –सो–या–से–वाले रूप मिलते हैं .—ग्रीक स्तेसो [stē-sō] [स० तिष्ठामि], दो-सो [dō-sō] [संस्कृत दास्यामि] तेनेसो [tenesō] [स० तनिष्यामि]।[1] आरम्भिक संस्कृत भाषामें यह लकार अवेस्ताकी भाषाकी भाँति बहुत कम पाया जाता है, तथा भविष्यत् कालके बोधनके लिए वहाँ हेतुहेतुमत्का प्रयोग देखा जाता है, धीरे धीरे परवर्ती कालकी भाषामें इसका प्राचुर्य हो गया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतमें लुट्का प्रयोग भी भविष्यत्में पाया जाता है। इसका विकास संस्कृतके –तर् [–तृ] प्रत्ययवाले कर्तृबोधक प्रत्ययसे

१ King and Cockson Comparative Grammar of Greek and Latin p 141

हुआ है, जिनके साथ √अस् धातुके रूपोंका प्रयोग सहायक क्रियाके रूपमें पाया जाता है। प्रथम पुरुष ए० व०, द्वि० व० तथा ब० व० के रूप ठीक वही होते हैं, जो नाम शब्दके प्रथमा विभक्तिके रूप हैं:—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः, दाता, दातारौ, दातारः, गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः। शेष रूपोंमें प्रथम पुरुष ए० व० के रूपके साथ सहायक क्रिया जोड़ दी जाती है:—म० पु० कर्तासि [कर्ता + असि], कर्तास्थः कर्तास्थ, उ० पु० कर्तास्मि [कर्ता + अस्मि], कर्तास्वः, कर्तास्मः। इनके आत्मनेपदी रूपोंमें प्र० पु० के रूप ठीक वही हैं, म० पु० तथा उ० पु० के रूप कुछ भिन्न हैं:—म० पु० कर्तासे, कर्तासाथे, कर्ताध्वे, उ० पु० कर्ताहे, कर्तास्वहे, कर्तास्महे। डॉ० चाटुर्ज्याने बताया है कि भविष्यत्के लिए प्रयुक्त ये यौगिक [भविष्यत्] रूप वस्तुतः संस्कृतपर प्राकृतका प्रभाव है। वैदिक संस्कृतमें ये रूप नहीं पाये जाते। यही नहीं, परवर्ती संस्कृतमें लिट् [या सम्पन्न भूतकाल] तथा हेतुहेतुमत् या संभाव्य भविष्यत्के रूप, जो क्रमशः आमंत्रयामास, आमंत्रयाञ्चकार, कारयामास, कारयाम्बभूव, कारयाञ्चकार तथा अभविष्यत्, अकरिष्यत् जैसे उदाहरणोंमें पाये जाते हैं, यौगिक रूप हैं, इन्हें भी डॉ० चाटुर्ज्याने प्राचीन प्राकृतोंका प्रभाव माना है।[1] यहाँ यह संकेत करदेना अनावश्यक न होगा कि इनमेंसे वैदिक भाषामें केवल लिट् के यौगिक रूप मिलते हैं, जो सबसे पहले यजुर्वेदमें पाये जाते हैं।

विधिलिङ् [Optative] का प्रयोग दो अर्थोंमें पाया जाता है। प्रथम यह किसी ऐसी संभावनाके भावको घोषित करता है, जो निर्देशात्मक [Indicative] कोटिके द्वारा अभिव्यक्त तथ्य से भिन्न है, दूसरे यह किसी इच्छाकी अभिव्यञ्जना करता है। इन दोनों प्रकारके उदाहरण ये हैं:—

[1] विप्रे च क्षत्राय च समदं कुर्याम्। [मैं ब्राह्मण तथा क्षत्रियोंमें परस्पर कलह कराऊँ।]

[2] दम्पती अश्नीयाताम्। [पति पत्नी भोजन करें।]

---

1. डॉ० चाटुर्ज्या: भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ८६।

विधिलिङ्का विकरण य है, जो दुर्बल रूपोंमें ई [/*ɪə] हो जाता है, यथा दद्याम् [दद् [√दा]+य+अम्], ददीत [दद्+ई+त]। यही विकरण लैतिनमें भी पाया जाता है। ग्रीकमें यह विकरण श्रो से युक्त होकर श्रोइ [oi] के रूपमें पाया जाता है, यह ग्रीक फेरोइ [pheroi] [सं० भरेत्]। संस्कृतमें यह *श्रोइ, ए [अ+इ] हो गया है, जो भरेत् में स्पष्ट है। वैदिक संस्कृतमें लुट् के आधारपर स् विकरण युक्त विधिलिङ् के रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें धातुका स्वर 'इ' बना दिया जाता है, यथा, दिषीय [√दा]। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्से केवल इसी बात में भिन्न है कि इसके रूप सदा लुङ् रूपोंके ही आधारपर बनते हैं, जब कि विधिलिङ् वाले रूप वर्तमान रूपोंके आधारपर बनते हैं। वैसे इन दोनोंके तिङ् चिह्न गौण हैं, तथा प्रायः एकसे ही होते हैं। उदाहरणके लिए गच्छति [लट्], गच्छेत् [विधिलिङ्], तथा अगमत् [लुङ्], गम्यात् [आ० लिङ्] रूपों को देखिये, जिनसे यह भेद स्पष्ट हो जायगा।

विधिलिङ्में अ-विकरणहीन तथा अविकरणयुक्त रूपोंमें उदात्त स्वरकी दृष्टिसे भिन्नता पाई जाती है। अ-विकरणहीन धातुओंमें उदात्त स्वर तिङशपर पाया जाता है, जब कि अ विकरणयुक्त धातुओंमें वह धात्वंश पर पाया जाता है.—भवेत्, भवेताम्, भवेयु. [पर०], भवेत, भवेयाताम्, भवेरन्, [आत्म०] द्विष्यात्, द्विष्याताम्, द्विष्यु· [पर०], द्विषीत, द्विषीयाताम्, द्विषीरन् [आत्म०]

संस्कृतके लोट्वाले रूपोंमें वस्तुत. कई रूपोंकी खिचड़ी पाई जाती है। इसके प्रथम पुरुषके तीनों वचनके रूप हेतुहेतुमत् वाले [subjective] वैदिक रूप है, तथा मध्यम पुरुष तथा प्रथम पु० के द्वि० व० एव म० पु० ए० व० के रूप निषेधार्थक वैदिक रूप [injunctive

forms]। म० पु० ए० व०, प्रथम पुरुष ए० व० तथा ब० व० के रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। म० पु० ए० व० में थिमेटिक क्रियाओंमें क्रियाका मूलधातु रूप ही प्रयुक्त होता है, वस्तुतः यहाँ 'शून्य' तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह विशेषता यहीं नहीं अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमें भी पाई जाती है:—सं० भर अवे० बर, ग्रीक फॅरे, आर्मीनियन बॅर, गॉथिक बइर, आयरिश बॅइर।

म० पृच्छ, लै० पोस्के, सं० अज, ग्रीक, अगॅ, लै० अगे।

किंतु अथेमेटिक धातुओंमें यहाँ –हि [–धि] वाले रूप पाये जाते हैं:— सं०इहि, अवे० इदि, ग्रीक इथि; सं० विद्धि, ग्रीक इस्थि। इस –धि के अन्य उदाहरण जुहुधि [√हु], शृणुधि [√श्रु], गधि [√गा], वृधि [√वृ] हैं। प्रथम पु० ए० व० ब० व० में गौण तिङ् चिह्न–त्, –न्त् के साथ–उ जोड़ा जाता है.—'भवत्-उ' [भवतु], भवन्त-उ [भवन्तु]। यह-उ तिङ् चिह्न हित्ती भाषामें पाया जाता है:—एस्तु [सं० अस्तु], कुएन्दु [सं० घ्नन्तु], कुनन्दु [सं० घ्नन्तु]। आत्मनेपदी रूपोंमें म० पु० ए० व० में –'स्व' चिह्न पाया जाता है। यह तिङ् चिह्न केवल अवेस्तामें मिलता है.— अवे० कृनर्-अस्वा [सं० कुरुष्व], बरह्व [भरस्व]। प्रथम पु० ए० व० ब० व० में–आम तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह अवेस्तामें–न्तम पाया जाता है:—यॅरॅज्यन्तम, खश्नोरॅन्ताम्।

संस्कृत लिट् लकारके रूपोंमें दो प्रमुख विशेषतायें हैं, प्रथम तो इसमें धातुका द्वित्व पाया जाता है, दूसरे तिङ् चिह्न वर्तमानके मुख्य तथा लुङ् के गौण तिङ् चिह्नोंसे भिन्न होते हैं। लिट् लकारमें द्वित्ववाले अक्षर [पाणिनिने इसकी पारिभाषिक संज्ञा, 'अभ्यास' दी है][1] में प्रायः 'अ' स्वर [प्रा० भा० यू० *ए] प्रयुक्त होता है, किंतु जिन क्रियाओंमें मूल स्वर इ या उ होता है, वहाँ द्वित्ववाले अक्षरमें 'अ' के स्थानपर क्रमशः इ या उ स्वर

1. पूर्वोऽभ्यासः। पाणिनिसूत्र ६.१.४.

पाया जाता है.—**पपाठ** [√पठ्], **बभाज** [√भज्], **दिद्वेष** [√द्विष्], **लिलेह** [√लिह्], **बुबोध** [√बुध्], **चुक्रोध** [√क्रुध्]। लिट् के द्वित्वीकरणकी दृष्टिसे इन रूपोंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता है:—

[१] वैदिक संस्कृतमें कतिपय लिट् रूपोंमें द्वित्वाक्षरमें 'अ' 'इ' 'उ' के स्थानपर दीर्घ स्वर 'आ' 'ई' 'ऊ' पाया जाता है, यथा **दाधार** [√धृ], **जागार** [√गृ], **मामृजे** [मृज्], **पीपाय** [√पा], **तूताव**। वस्तुतः ये पौनःपुन्यार्थक बोधक द्वित्वके रूप हैं।

[२] 'ऊ' स्वरवाले दो धातुओंमे द्वित्वरूपमे 'अ' स्वर पाया जाता है.—**बभूव** [√भू], **ससूव** [√सू]।

[३] आदिमें 'अ' स्वर ध्वनिवाले धातुओंमें लिट् में **आ** [अ + अ] पाया जाता है। यथा, **आद** [∠ *अअद] [√अद्], **आस** [∠ *असस] [√आस]। आदिमे अ ध्वनिवाले कतिपय धातुओंमें द्वित्व रूपमें 'न्' ध्वनि भी पाई जाती है, **आनञ्ज**, **आनजे** [√अञ्ज्], **आनश**, **आनशे** [√अश्]। इसके सादृश्यपर आदिमें ऋ ध्वनिवाले धातुओंमें भी यह 'न्' तत्त्व पाया जाने लगा है: **आनर्च**, **आनृचे** [√ऋच् अथवा √अर्च्]।

[४] आदिमे **इ या उ** ध्वनिवाले धातुओंमें इ-उ का द्वित्व होता है, द्वितीय अक्षरमें इ, उ का गुण रूप 'ए'–'ओ' पाया जाता है तथा प्रथम अक्षर एव द्वितीय अक्षरके स्वरोंमें सधि रोकनेके लिए 'य' अथवा 'व' श्रुतिका प्रयोग किया जाता है, दुर्बल रूपमें इ तथा उ को ई तथा ऊ बना दिया जाता है। **इयेष** [इ+य्+एष], **ईषे** [इ+इषे] [√इष्], **उवोच** [उ+व्+ओच], **ऊचे** [उ+उचे] [√उच्]।

[५] **य** तथा कतिपय **व** वाले धातुओंमें भी इसी तरहका द्वित्व पाया जाता है, यहाँ भी दुर्बल रूपमे क्रमशः **ई-ऊ** पाये जाते है.—**इयाज-ईजे** [√यज्], **उवाच – ऊचे** [√वच्]।

[६] जिन धातुओंमे 'अ' ध्वनि व्यञ्जन-मध्यग हैं, वहाँ द्वित्वरूपमे 'अ'

ही पाया जाता है, पपात, बभाज, बभार [√भृ-भर्], पपाठ, जगाम। इसके दुर्बल रूपमें वहाँ धातुके 'अ' के स्थानपर 'ए' हो जाता है: तेने, पेचे।

[७] संस्कृतमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें लिट्में धातुका द्वित्व नहीं होता: सं० वेद [√विद्]। इसके अन्य भा० यू० समानान्तर रूप भी द्वित्वहीन ही हैं: ग्रीक ओ̀इद [oida], गॉथिक वइत [wait]। वैदिक संस्कृतमें कतिपय अन्य द्वित्वहीन लिट् रूप भी मिलते हैं—तक्षथुः, तक्षुः, स्कम्भथुः, स्कम्भुः।[1]

भा० यू० परिवारकी कई भाषाओंमें लिट् [परिपूर्ण भूत] में यह द्वित्व प्रक्रिया नहीं पाई जाती। लैतिन तथा जर्मनीय वर्गमें द्वित्व प्रक्रिया नहीं है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस तरह लुङ् एवं लङ्के रूपोंमें प्रा० भा० यू० में 'अ' आगमका प्रयोग अनावश्यक था उस तरह लिट्के रूपोंमें द्वित्व प्रक्रिया आवश्यक नहीं मानी जाती थी। वैसे ग्रीक तथा संस्कृतने लिट् रूपोंमें द्वित्व प्रक्रियाका पालन किया है, किन्तु यहाँ भी सं० वेद, ग्रीक ओ̀इद जैसे द्वित्वहीन छुटपुट रूप मिल ही जाते हैं। भा० यू० भाषाओंके लिट्के समानान्तर रूपोंके कतिपय उदाहरण ये हैं:—

सं० जजान, ग्रीक गेगोने, सं० ददर्श, ग्रीक देदोर्के; सं० चिच्छेद, चिच्छिदे, लै० सिसिदी [scicidi], गॉथिक स्कइस्कइथ [skaiskaiþ], दिदेश, दिदिशे, ग्रीक देदेइख [dedeikha], देदेइग्मइ [dedeigmai], रिरेच, रिरिचे, ग्रीक लेलोइप, लै० लीक्वी [liqui], गॉथिक लइव [laihv], सं० निनेज, निनिजे, आयरिश नेनइग [nenaig]।

सं० तुतोद, तुतुदुः, लै० तुतुदी [tutudi] गॉ० स्तइस्तौत [staistaut]।

---

१ T. Burrow, Sanskrit Language p. 312

सं० ववर्त, लै० वार्ती, वर्ती [vortı, vertı], गॉथिक वर्थ [waıθ]।

सं० दधर्ष, गॉथिक गा-दर्स [ga-daɪs]

सं० जघान, आयरिश उ० पु० ए० व० गेगान [gegon], प्र० पु० ए० व० गेगाइन [gegoın]।

तिङ् चिह्न :—सर्वप्रथम तिङ् प्रत्यय कर्तृवाच्य [परस्मैपद] तथा स्ववाच्य [आत्मनेपद] के आधार पर दो तरहके होते हैं। इसके बाद प्रत्येक कोटिमें मुख्य तिङ् चिह्न तथा गौण तिङ् चिह्न इन दो श्रेणियोंको और माना जा सकता है। ये तिङ् चिह्न पुरुष तथा वचनके अनुसार भिन्न भिन्न हैं, तथा प्रा० भा० यू० में 'अथेमेतिक' तथा 'थेमेतिक' रूपोंमें भी ये तिङ् चिह्न भिन्न-भिन्न प्रकारके थे। किन्तु संस्कृतमें आकर यह दूसरा भेद नहीं पाया जाता। [परोक्षभूते] लिट्के तिङ् चिह्न संस्कृतमें बिल्कुल अलग तरहके हैं। मुख्य चिह्नों तथा गौण चिह्नोंमें जो प्रमुख भेद है, वह यह है कि मुख्य चिह्नोंमें तिङ् चिह्नोंका सबल रूप [strong form] पाया जाता है, जब कि गौण चिह्नोंमें उनका दुर्बल रूप [weak form] पाया जाता है। उदाहरणके लिए, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, तथा प्रथम पुरुष एकवचनके मुख्य तिङ् चिह्न क्रमशः मि, सि, ति [भरामि, भरसि, भरति] है, जब कि गौण तिङ् चिह्नोंमें इनके दुर्बल [स्वरहीन] रूप, म्, स्, त् [अभरम्, अभरः, अभरत्] पाये जाते हैं। यह दुर्बल रूप प्रा० भा० यू० में भी पाया जाता था। ग्रीकमें भी इसका अस्तित्व है। संस्कृतके एक और चिह्नको ले लें—प्रथम पुरुष बहुवचनका तिङ् चिह्न 'न्ति' है, जब कि गौण रूपमें वह *न्त् पाया जाता है। इस *न्त् का त् अंश लुप्त हो जाता है, और इस तरह केवल न् बचा रहता है, यथा भरन्ति; अभरन् [*अभरन्त्]। विकरणहीन धातुओंमें यह न्ति प्रायः अति के रूपमें परिवर्तित हो जाता है, यथा √दा-ददति। वस्तुतः व्यञ्जनके बाद यह न्ति, अति हो जाता है [*दद्+न्ति [>देद्-न्̥ति]-दद्+

ददाति = ददति]। उत्तम पुरुष बहुवचनका मुख्य तिङ् चिह्न मसि है, जो संस्कृतमें मस् [मः], [यथा, पठामः में] पाया जाता है। अवेस्तामें यह 'महि' [mahi] हो गया है। ग्रीकमें इसका समानान्तर 'मेन्' [men] शब्दमें विकसित हुआ है। ग्रीककी एक विभाषा दोरिक [Doric] में यह मेस् [mes] पाया जाता है। इसीका गौण रूप केवल 'म' [आम] रह गया है, जो अपठाम, अभराम, अगच्छाम आदि रूपोंमें स्पष्ट है। वर्तमानमें लट्के मध्यम पुरुष ब० व० का 'थ' तिङ् चिह्न सम्भवतः लिट्का प्रभाव हो, मिलाइये—भरथ, पठथ। द्विवचनके तिङ् चिह्नोंका विकास प्रत्येक भाषामें स्वतन्त्र रूपसे पाया जाता है, अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनके विकासपर कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। वैसे ये चिह्न तस्, थस्, वस् [तः, थः, वः] तथा ताम्, तम्, व हैं।

परोक्षभूते लिट्के तिङ् चिह्न सर्वथा भिन्न हैं और वे भिन्न प्रा० भा० यू० लकार चिह्नों से ही विकसित हुए हैं। प्रथम तथा उत्तम पुरुष ए० व० का चिह्न अ है, जो सं० वेद, ग्रीक [वोइ-] ओइदा [w]oida] में पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप *ओ [*o] था। मध्यम पुरुष ए० व० का चिह्न थ है, जो ग्रीकमें भी थ ही है; किन्तु ग्रीक थ का विकास प्रा० भा० यू० *थ से भी हो सकता है, अतः इसका प्रा० भा० यू० रूप अनिश्चित ही है। संस्कृतमें लिट्के प्रथम पुरुष ब० व० का चिह्न उः [> उर्] है, जो जग्मुः, पेठुः आदि रूपोंमें स्पष्ट है। यह 'उर्' अवेस्तामें अर् अन तथा लैटिनमें एरे पाया जाता है। लिट्के अन्य चिह्न प्रायः वर्तमानके चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

प्रा० भा० यू० में स्वनाम्य [आत्मनेपद] ए० व० के तिङ् चिह्न *अइ, *सइ, *तइ हैं। इन्हींसे संस्कृतके ए [भाषे], से [भाषसे], ते [भाषते] विकसित हुए हैं, किन्तु ग्रीकमें अइ, सइ, तइ ही रहे हैं। प्र० पु० ब० व० में प्रा० भा० यू० तिङ् चिह्न *न्तइ है, जो संस्कृतमें न्ते

[भाषन्ते] पाया जाता है, किन्तु जुहोत्यादि धातुओंमें यह चिह्न केवल **अते** [दद् + अते = ददते] ही है। उत्तम पु० बहु० व० में मुख्य तिङ् चिह्न **महे** [भाषामहे, भरामहे], तथा गौण तिङ् चिह्न '**महि**' [अभाषामहि] है। मध्यम पु० बहु० व० का मुख्य तिङ् चिह्न ध्वे [प्रा० भा० यू० *ध्वइ] है, जो अवेस्तामें दुये हो गया है। इसीका गौण चिह्न ध्वम् है, जो अवेस्तामें 'दूम्' है। आत्मनेपदके गौण तिङ् चिह्नोंमें संस्कृतमें लुङ्के उ० पु० ए० व० का चिह्न इ पाया जाता है, जो अ विकरणसे मिलकर ए भी हो जाता है, यथा √कृ–अक्रि, √भृ–अभरे। यह इ वस्तुतः भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

आज्ञार्थे लोट्के म० पु० ए० व० में सविकरण धातु प्रायः शून्य तिङ् चिह्न होता है, यथा भृ + अ + 0 = भर, किन्तु अविकरण धातुमें यह तिङ् चिह्न –द् [हि] होता है, यथा इहि, अद्धि। यह चिह्न प्रा० भा० यू० *धि से विकसित हुआ है। लोट्के प्रथम पु० तथा मध्यम पु० के एकवचनमें तात् तिङ् चिह्न भी पाया जाता है, यथा पठतु–पठतात्, पठ–पठतात्। यह तात् लैतिनमें तोत् [tōt] के रूपमें पाया जाता है, अतः इसका विकास प्रा० भा० यू० *तोत् [*tōt] से माना जा सकता है, लै० वेहितो [vehitō], स० वहतात्, लै० एस्तो [म० स्तात्] संस्कृतके आत्मनेपदी धातुओंके कई रूपोंमें प्रथम पुरुष एकवचनमें एक 'र्' ध्वनि तिङ् चिह्नके साथ-साथ पाई जाती है। यह ध्वनि दुह्राम्, दुह्रताम्, असृग्रम्, अदुहन्, अशेरन् आदिमें देखी जा सकती है। यह 'रेफ' तत्त्व केल्तिक परिवारकी आयरिश तथा वेल्शमें विशेष पाया जाता है, वैसे लैतिनमें भी यह 'र्' मिडिल' तथा 'पेसिव' वोयस के लिए प्रयुक्त होता है।[1]

---

1. उदाहरणके लिए lueto का मिडिल वायसका रूप lueto-r = lucitur पाया जाता है। दे० King and Cockson P 148-49

इसके कुछ रूप इलेतिक परिवारकी भाषाओंमें तथा तोखारिशमें भी पाये जाते हैं। संस्कृतके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी रूपोंमें कई स्थानपर 'र्' पाया जाता है, यह हम देख चुके हैं। इतालिक तथा आयरिशके 'मिडिल' तथा 'पैसिव' रूपोंमें यह 'र्' तिङ् चिह्नोंके साथ प्रयुक्त होता है। कुछ उदाहरण ये हैं :—

आयरिश बेरि-र् [beri-r] [उसे ले जाया गया है।]
,, बेर्ति-र् [berti-r] [उन्हें ले जाया गया है।]
वेल्श केनिर् [cenir] [संगीत चल रहा है, या संगीत चलेगा।]
,, डिवेदिर [dywedir] [लोग कहते हैं।][1]

वस्तुतः यह र् पुरुषहीन [impersonal] प्रत्यय [अथवा विकरण] था, जिससे केवल क्रियामात्रका बोध कराया जाता था।

यहाँ पर दो शब्द गौण धातुरूपों पर कह दिये जायँ। संस्कृतके गौण धातु रूपोंको पाँच वर्गोंमें बाँटा जा सकता है—[१] कर्मवाच्य रूप, [२] यङन्त तथा यङ्लुगन्तरूप, [३] सन्नन्तरूप, [४] णिजन्तरूप, तथा [५] नामधातु। कर्मवाच्य रूपोंमें 'य' विकरण पाया जाता है, इसका संकेत हम कर चुके हैं। इस दृष्टिसे ये रूप दिवादिगणी रूपोंके समान होते हैं। दूसरी विशेषता कर्मवाच्य रूपोंकी यह है कि ये सदा आत्मनेपदी ही होते हैं। इन रूपोंमें उदात्त स्वर सदा य विकरण पर पाया जाता है, जब कि दिवादिगणी रूपोंमें यह स्वर धात्वंश पर होता है—क्रियते, ध्रियते, मुच्यते, क्षीयते। इस वर्गके कर्मवाच्यरूप केवल अवेस्तामें ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं—अवे० किर्यैन्ते [kiryeinte] [सं० क्रियन्ते]। कर्मवाच्यके लिट् तथा लुङ्के रूप प्रायः वही होते हैं, जो आत्मनेपदी क्रिया रूपोंमें पाये जाते हैं,

1. T. Hudson-Williams A short Introduction to the study of Comparative Grammar p. 75

यथा, ददे [दिया गया], दास्यते [दिया जायगा]। यङ्लुगन्त रूपोंका अस्तित्व छान्दस भाषामे भी पाया जाता है तथा वेदमें लगभग ९० धातुओंके ऐसे रूप पाये जाते हैं। इसमें धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। इ या उ ध्वनिवाले धातुओंमें इसमें स्वरका गुणीभाव पाया जाता है:—नेनेक्ति–नेनिक्ते [√नी], वेवेत्ति [√विद्], देदिष्टे [√दिश्], जोहवीति [√हू]। क्रियाके पौनःपुन्य बोधनके लिए संस्कृतमें उक्त यङ्लुगन्त रूपोंके अतिरिक्त यङन्त रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें 'य' [यङ्] विकरण का प्रयोग होता है, चूँकि उक्त रूपोंमें यह य नहीं पाया जाता, अतः उन्हें 'यङ्लुगन्त' [यङ्-लुक्-अन्त] कहा जाता है। य विकरणवाले रूप ये हैं:—जाजायते, जञ्जन्यते, जेघ्नीयते, वरीवृत्यते, नरीनृत्यते। णिजत रूपोंमें चुरादि गणके धातुओंकी तरह–'अय'–विकरण पाया जाता है। प्राचीन भाषामें इन दोनोंमें यह भेद था कि चुरादि गणके शुद्ध धातुओंमें धातुका गुणीभाव नहीं पाया जाता, जब कि णिजत रूपोंमें उसका गुणीभाव पाया जाता है—द्युतयति-द्योतयति, रुचयति–रोचयति, पतयति-पातयति। इनमें द्वितीय रूप णिजत प्रक्रियाके हैं। णिजत रूपोंमे धातुका सदा गुणीभाव पाया जाता है:—तर्पयति [√तृप्], वर्धयति [√वृध्], बोधयति [√बुध्]। आ अन्तवाले धातुमे णिजतमें–प्–विकरणका समावेश कर दिया जाता है:—दापयति [√दा], स्नापयति [√स्ना], मापयति [√मा], यापयति [√या]। कतिपय धातुओंमें–ल्, न्, प्, त्, य् भी पाये जाते है —पालयति [√पा 'रक्षाकरना'], पाययति [√पा 'पीना'], प्रीणयति [प्री], भीपयते [√भी], घातयति [√हन्]। सन्नन्त रूपमें स विकरण पाया जाता है तथा धातुका द्वित्व होता है —बिभित्सति, बुभुत्सामि, दिदृक्षामि, विविदिपामि, दित्सामि [√दा], धित्सामि [√धा], शुश्रूषामि [√श्रु], जिगीषामि [√जि]। नामधातुओंका विकरण भी 'य' है, तथा इनके रूप भी णिजतकी तरह चुरादिगणी हैं। इनमें उदात्तस्वर

विकरण पर ही होता है :—दण्डयामि, अर्थयते, चूर्णयति, दोलायते, भिषज्यति, तपस्यति।

इस सम्बन्धमें थोड़ा विचार ऐसे धातुओंपर कर लिया जाय, जो आरम्भमें भिन्न थे, किन्तु बादमें जाकर परस्पर समाहित हो गये हैं। वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे धातुओंका सङ्केत मिलता है, जो एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते थे। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इनके प्रयोगोंमें थोड़ा सूक्ष्म भेद अवश्य था। धीरे धीरे यह भेद लुप्त हो गया तथा ये धातु एक दूसरेमें समाहित हो गये। उदाहरणके लिए √भू–अस्, √पश्–दृश्–स्पश्; √गम्–गा–इण् इन तीन वर्गोंको ले लीजिये। भू तथा अस् दोनों धातु सत्तार्थक हैं। आरम्भिक स्थितिमें दोनों धातुओंके सभी रूप भिन्न भिन्न पाये जाते होंगे। धीरे-धीरे √अस् धातु √भू में समाहित होने लगा, और आज इसके अस्ति, अस्तु, आसीत्, स्यात् ये ही रूप पाये जाते हैं, बाकी रूपोंमें √भू के रूपोंका ही प्रयोग होता है। यदि √अस् का भविष्यत् [लृट्] पूछा जाय, तो वैयाकरण भविष्यति बतायेगा, *अस्स्यति नहीं। किन्तु √भू धातुके सबके सभी रूप सुरक्षित हैं, तथा यहाँ भवति, भवतु, भवेत्, अभवत्, भविष्यति, भविता, अभविष्यत्, भूयात्, बभूव, अभूत् सभी रूप पाये जाते हैं।

√पश्–दृश् तथा √स्पश् तीनों धातुओंका अर्थ 'देखना' है। √स्पश् धातु वेदमें पाया जाता है, किन्तु लौकिक संस्कृतमें इसका प्रयोग एक प्रकारसे नहीं पाया जाता, वैसे इससे बना नाम शब्द 'स्पशः' [स्पश्+अच्] संस्कृतमें प्रयुक्त होता है, यथा 'शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा' [माघ, २ सर्ग]। √पश् तथा दृश् दो अलग अलग धातु थे। किन्तु वेदसे ही आकर हम देखते हैं कि √पश् के लुङ्लकारके रूप नहीं पाये जाते। धीरे धीरे पश् [पश्य] वर्तमान तथा इससे सम्बद्ध लकारोंमें √दृश् के स्थानपर आदेश माना जाने लगा, पश्यति, पश्यतु, पश्येत्,

अपश्यत्। किन्तु लुङ् तथा उससे संबद्ध लकारोंमे यह दृश् ही रहा, जैसे, द्रक्ष्यति, अद्राक्षीत् आदि।

√गम्, गा तथा √इण् इन तीनों धातुओंका अर्थ 'जाना' है। √'गा' [गमनार्थक] धातु वेदमे पाया जाता है तथा यह 'जुहोत्यादिगण' का धातु है, जिसके रूप जिगाति, जिगातु आदि पाये जाते हैं। √गम् धातु संस्कृतमे स्वतन्त्र रूपमें पाया जाता है, किंतु √गा धातु व्याकरणमें √इण् में आकर समाहित हो गया है। संस्कृत व्याकरणके अनुसार √इण् धातुके लुङ्में 'गा' आदेश हो जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र 'इणो गा लुङि' के अनुसार √इण्—गतौ धातुके लुङ्के रूप अगात् आदि बनते हैं। यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्या इस √गा का √गम् से कोई संबंध है? हमारे मतानुसार इस √गा को भी उसी प्रा० भा० यू० धातु *ग्वम् से विकसित मानना संगत है। इस *ग्वम् के, जो स्वयं शून्यरूप [zero-form] है, *ग्वम् तथा *ग्वेम् क्रमशः गुण तथा वृद्धि रूप माने जा सकते हैं। यह वृद्धि रूप *ग्वेम् संस्कृतमें आकर ध्वनि-शास्त्रीय नियमोंके अनुसार गा हो जायगा।

असमापिका क्रिया [infinite verbs]:—अब तक हमने समापिका क्रियाओं [finite verbs] का उल्लेख किया है। यहाँ संक्षेपमें असमापिका क्रियाओंका संकेत कर देना आवश्यक होगा। इन्हें मोटे तौरपर तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं:—[१] वर्तमानकालिक, भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक कृदन्त प्रत्यय, [२] तुमन्तरूप, [३] पूर्वकालिक क्रिया रूप।

१ [अ] वर्तमानकालिक कृदन्त प्रत्यय —न्त्[—त्—], —मान, तथा —आन हैं। इनमें '—न्त्' परस्मैपदी रूपोंके साथ जुड़ता है, शेष दो आत्मनेपदीरूपोंके साथ। संस्कृत वैयाकरण इन्हें क्रमशः 'शतृङ्' तथा 'शानच्' कहते हैं। आन अथेमेटिक [अ-विकरणहीन] आत्मनेपदी धातुओंमें प्रयुक्त होता है, शयान, दढान, दधान, जबकि—मान थेमेटिक [अ—विकरणयुक्त] आत्मनेपदी धातुओंमें प्रयुक्त होता है —भापमाण, भरमाण,

वर्तमानः,। इन प्रत्ययोंकी व्युत्पत्तिका संकेत हम कर चुके हैं। लैटिनमें इनके समानान्तर रूप क्रमशः-'एन्त्' [-न्त्] तथा -मिनि, 'म्नुस्' पाये जाते हैं:— रेगेन्तेस् [reg-ent-es], अलुम्नुस् [alumnus]। ग्रीकमें कर्तृवाच्य परस्मैपदी क्रियाओंमें-ओन्-ओन्त् वाले कृदन्त रूप पाये जाते हैं:—फेरोन्त; एमोन्त्। कर्मवाच्य तथा आत्मनेपदी रूपोंमें ग्रीकमें -'मेनोस्' तथा-म्नो प्रत्यय पाये जाते हैं:—फेरोमेनोस् [सं० भरमाणः], वेलेम्नोन्। संस्कृतमें इन प्रत्ययोंके उदाहरण ये हैं:—

भवन् [भवन्त्-], भवमान, द्विषन्त, द्विषाण, यन्त्, इयान, जुह्वत्, जुह्वान।

[आ] भूतकालिक कर्मवाच्य कृदंतः—'त [क्त]' तथा 'न'। इनकी व्युत्पत्तिका संकेत हम कर चुके हैं। इनका ग्रीकमें -'तोस्' तथा लैटिनमें '-तुस्' रूप मिलता है:—ग्रीक 'बतोस्' [सं० गतः], क्लुतोस् [सं० श्रुतः], लै० (इन-) क्लुतुस् [सं० श्रुतः]। संस्कृतमें इस प्रत्ययसे निष्पन्न रूपोंमें ध्वन्यात्मक तथा लल्यात्मक [prosodic] परिवर्तन पाये जाते हैं:—

दग्ध [√दह्], नद्ध [√नह्], मत्त [√मद्], लब्ध [√लभ्], दिष्ट [√दिश्], सिक्त [√सिच्], श्रुत [√श्रु], मूढ [√मुह्], पृष्ट [√प्रच्छ्], जात [√जन्], खात [√खन्], हित [=*धित-√धा], मित [√मा], दत्त [√दा], शयित [√शी], गलित [√गल्], मिलित [√मिल्] गृहीत [√ग्रह्]

कतिपय धातुओंमें कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूपोंमें 'न' प्रत्यय मिलता है। इसका ग्रीकमें 'नोस्' तथा लैटिनमें 'नुस्' रूप पाया जाता है:—ग्री०, स्तेनोस्, म्नुनोस्; लै० प्लेनुस्, दिग्नुस्। संस्कृतमें इस प्रत्ययके उदाहरण ये हैं:—भिन्न [√भिद्], छिन्न [√छिद्], विषण्ण [√सद्], आपन्न [√पद्], क्षीण [√क्षी], दीन [√दी], शीर्ण

१. सविभक्तिक क्रियाविशेषण :—

[अ] द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञा रूपोंसे बने क्रियाविशेषण —**कामम्, समकालम्, अहर्निशम्, सुखम्, रह** ।

[ii] विशेषणोंसे बने क्रियाविशेषण :—**अनन्तरम्, चिरम्, नित्यम्, प्रत्यक्षम्, बाह्यम्, साम्प्रतम्, आशु, साधु** ।

[iii] सर्वनाम शब्दोंसे बने क्रियाविशेषणः—**तत्, यत्, किम्, यावत् तावत्** । ग्रीकमें भी द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं :—**दिकेन्, खरिन्**, इनके साथ ही तुलनात्मक विशेषण रूपोंके द्वितीया ए० व० ब० व० के रूप ही क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं .—**मक्रोन्** । लैतिनमें भी संज्ञा सर्वनाम तथा विशेषणोंके द्वितीया ए० व० ब० व० के रूप क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त होते हैं :—**क्वाम्, क्वम्**, [ए० व०] **क्विअ, अलिअस्** [ब० व०] ।

[आ] तृतीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञावाले रूप :— **क्षणेन, दिष्ट्या, सहसा** ।

[ii] विशेषणोंसे बने रूप :— **दूरेण, दूरतरेण, तिरश्चा, उच्चै, प्रोच्चै, शनै** ।

[इ] चतुर्थी विभक्तिवाला केवल एक ही क्रियाविशेषण संस्कृतमे पाया जाता है .—**अर्थाय** ।

[ई] पञ्चमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण प्रचुर हैं :—

[i] संज्ञावाले रूप —**बलात्, सक्षेपात्** ।

[ii] विशेषणवाले रूप '—**अचिरात्, दूरात्, कृच्छ्रात्, साक्षात्** ।

[iii] सर्वनामवाले रूप :—**तात्, कस्मात्**, ग्रीक तथा लैतिनमे अपादान [Ablative] वाले सविभक्तिक विशेषण प्रचुर हैं, कतिपय उदाहरण ये हैं .—ग्रीक **होस्** [स० **तात्**], **होपोस्** [स० **कस्मात्**],

लैतिन रेक्तेद् [rected], फक्लिमेद् [facilluned], मेरितोद् [meritod]

संस्कृतमें षष्ठी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण नहीं पाये जाते; लैतिनमें भी इनका अभाव है, ग्रीकमें कतिपय सर्वनाम शब्दोंके संबंध कारकीय [genitive] क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, जैसे—होउ [सं० तस्य], हेपोउ [सं० कस्य]।

[ऊ] सप्तमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

अग्रे, अर्थे, ऋते।

ग्रीक तथा लैतिनमें अधिकरण [locative] कारकवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, कुछ उदाहरण ये हैं :—ग्रीक होइ [सं० तस्मिन् अथवा तत्र], पोइ [कस्मिन् अथवा कुत्र], होथि [सं० तत्र] पोथि [सं० क्व, कुत्र]; लैतिन उथि, इबि [सं० तत्र, अत्र]।

२. सप्रत्यय क्रियाविशेषण :—

[अ]–वत् प्रत्यय, जो सादृश्यके अर्थमें पाया जाता है :—खगवत्, पुत्रवत्, मूकवत्, चित्रकर्णवत्, यथावत्। इस प्रत्ययका संबंध पूर्वोक्त तद्धित प्रत्यय 'वत्'–'वन्त्' से जोड़ा जा सकता है।

[आ] –तः [तसिल्] प्रत्यय :—अतः, इतः, ततः, यतः, कुतः, परतः, पुरतः, सर्वतः, दूरतः, आदितः, अर्थतः, दैवतः।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० *तोस् से मानी गई है, जिसका रूप ग्रीकमें *तोस् तथा लैतिनमें *तुस् पाया जाता है। यथा, ग्रीक एन्तोस्, एक्तोस्, लैतिन इन्तुस्, रादिसितुस्।[1]

[इ] –ति प्रत्यय—'इति'।

[ई] –त्र प्रत्यय :—अत्र, कुत्र, तत्र, यत्र, अन्यत्र, सर्वत्र।

---

[1] Thumb: Handbuch des Sanskrit § 403 p 276.

इस प्रत्ययका वैदिक भाषामें –त्रा रूप भी मिलता है, यत्रा। अवेस्तामें इसका थ्र रूप पाया जाता है :—अथ्र [aθra], यथ्र [yaθra]। इसका विकास गॉथिकमें भी पाया जाता है :—विथ्र [viθia] हिद्रे [hidie] [यहाँ, मि० अँगरेजी हिदर [hither]]। थुम्बने संस्कृत अन्त: [अन्तर्] [लै० इन्तेर [inteı], प्रात [प्रातर्] का भी इस 'त्र' से सबंध जोड़ा है, जिसका यहाँ 'तर्' रूप पाया जाता है, वस्तुतः ये दोनों [त्र तथा तर्] मूलत: प्रा० भा० यू० *तॆरो, तॆर' से संबद्ध हैं।[1]

[उ]–था प्रत्यय [प्रकारबोधक]:—कथा, तथा, यथा, अन्यथा, सर्वथा। इस प्रत्ययका अवेस्तामें था-थ रूप पाया जाता है।

[ऊ]–थम् प्रत्यय [प्रकारबोधक] :—कथम्, इत्थम्, [इद् + थम्]।

[ए]–दा प्रत्यय [कालबोधक] :—तदा, यदा, कदा, एकदा, सदा [स + दा]।

–दि प्रत्यय :—यदि [प्राचीन फारसी यदिय्]।

ग्रीकमें इससे मिलते जुलते प्रत्यय रूप पाये जाते हैं :—–दॆन्, –दॆन्, –द, यद्यपि वहाँ ये प्रत्यय प्रकारबोधक हैं :—अपोस्त-दॆन् [अलगसे], इल-दॆन् [झुण्डमें]।

[ऐ]–शः प्रत्यय :—खण्डशः, गणशः, शतशः, भागशः नित्यशः। प्राकृत ग्रीक [Vulgaı Greek] में इसका 'खस्' रूप मिलता है :—अन्द्रोखस् [androkhas], हॆकस् [hekas]।

[ओ]–व प्रत्यय :—इव, एव।

–ह प्रत्यय :—इह, कुह।

वैदिक संस्कृतमें इस 'ह' प्रत्ययका ध रूप भी मिलता है :—सध [लौ० सं० सह]। प्राकृतमें भी ह के स्थान पर ध प्रत्यय ही मिलता है,

---

1 Thumb p 277

इध [महाराष्ट्री प्रा०] [सं० इह]। इससे यह अनुमान होता है कि ये दोनों मूलतः एक ही प्रत्यय हैं, वैभाषिक भेदसे वैदिक कालमें इनके दोनों रूप रहे होंगे। प्राकृतने ध वाला रूप सुरक्षित रक्खा है, लौकिक संस्कृतने ह वाले रूपको अपनाया है। भाषाशास्त्रियोंने इनका सम्बन्ध ग्रीकके -थ प्रत्यय तथा लेतिनके -दे प्रत्ययसे जोड़ा है जो-ग्रीक, पोथि [pothi], प्रोस्थे [न] [prosthen], एन्थ [entha] लेतिन इन्दे [inde] में पाये जाते हैं[1]।



1. Thumb: Handbuch des Sanskrit § 407 p. 278

संस्कृत वाक्य-रचना

जैसा कि हम प्रथम परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० भाषा की वाक्य रचनाके विषयमें भाषाशास्त्रियोंने कोई अनुमान नहीं लगाये हैं। यद्यपि ध्वनि तथा पदरचनाकी दृष्टिसे इस काल्पनिक भारोपीय भाषा [Grundsprache] का अत्यधिक विवेचन हो चुका है, किन्तु इसकी वाक्यरचनापर कोई कार्य नहीं हुआ है। वैसे कुछ विद्वानोंने, जिनमें प्रमुख नाम श्लेखर [Schleicher] का लिया जा सकता है, इस काल्पनिक भाषामे हमें "एक भेड़ तथा एक घोड़ेकी कहानी" देनेकी चेष्टा की है। इसका एक वाक्य यहाँ इसलिए दिया जाता है कि इस काल्पनिक वाक्य-रचनाका थोड़ा सकेत पाठकोको मिल जाय। यद्यपि श्लेखरने इसकी ध्वनियोंका प्राचीन रूप दिया है, पर हम यहाँ पर नये सकेतोंका प्रयोग करेंगे, जो ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे विशेष शुद्ध हैः—

[*ओविस् ददाक एक्वम्स् तम् बाघ गरुम् वघन्तम्, तम् भारं मघेम् . .. ओविस् एक्वभ्यम्स् अ ववकत्।]

[*owis dedoike, ek^w^ms, tem, baghem, gerum, weghentem tem bharem, meghem,...owis ek^w^mb^h^yms a weweket]

स० [अवि... ददर्श अश्वं त वाह गुरुम् वहन्तं, तं भार महान्तं,.. अवि अश्वं अवोचत्।]

किन्तु जैसा कि हम बता चुके है इस काल्पनिक भाषाके रूप सूत्रमात्र [formulae] हैं। अतः इस प्रकारके पुनर्निर्मित [reconstucted] वाक्योंकी कल्पना वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, न इससे भाषाविज्ञानमें

तब तक कोई महत्ता ही पहुँच सकती है, जब तक कि इस वाक्यरचनात्मक विशेषताकी पुष्टि हम किसी बाह्य प्रमाणसे न दे सकें। अतः ऐसी कल्पनाओं की अवहेलना करना ही विशेष श्रेयस्कर तथा वैज्ञानिक है। वस्तुत प्रा० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनाके विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते।

संस्कृतकी वाक्य-रचना विशेष जटिल नहीं है। प्रत्येक वाक्यमें प्रायः एक क्रिया तथा एक कर्त्ता होता है, यदि क्रिया सकर्मक है, तो कर्म भी होता है। विशेषण संज्ञाके साथ प्रयुक्त होते हैं तथा क्रियाविशेषणोंका भी प्रयोग होता है। प्रत्येक नाम शब्द वचन, लिंग, तथा कारकसे युक्त होता है। प्रत्येक क्रियामें वाच्य, लकार, पुरुष एवं वचन रहता है। कुछ ऐसे भी अव्यय संस्कृत वाक्योंमें प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें वैसे तो हम सम्बन्धबोधक परसर्ग [postpositions] कह सकते हैं, किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंकी परिभाषामें इन्हें 'कर्मप्रवचनीय' कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये 'कर्मप्रवचनीय' वाक्यकी क्रियाके साथ किसी कर्तृभिन्न संज्ञा या सर्वनामका संबंध व्यक्त करते हैं। शब्दों तथा वाक्योंको परस्पर कुछ अन्य प्रकारके अव्ययोंसे जोड़ा जाता है, जो समुच्चयबोधक होते हैं, यथा, च, पर, तथा, अथवा।

संस्कृतकी सबसे बड़ी वाक्यरचनात्मक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक पदका पारस्परिक संबंध विभक्तिके द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसीलिए संस्कृत वाक्यमें किसी पदका ठीक उसी तरह नियत स्थान नहीं होता, जैसा हिंदी आदि आधुनिक भाषाओंमें है। उदाहरणके लिए एक वाक्य ले लीजिये—"स पुरुषः तं श्वानमताडयत्" इस वाक्यको हम "स पुरुषोऽताडयत्तं श्वानं" अथवा "तं श्वानमताडयत स पुरुषः" के रूपमें भी रख सकते हैं। प्रत्येक दशामें इसका ठीक वही अर्थ होगा—उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा। ठीक यही बात ग्रीक या लैटिनमें पाई जाती है। संस्कृतके इसी वाक्यके समानान्तर वाक्यको ले लें।

हो अन्थ्रोपोस् तोन् कुन एपताइसेन।

[ho anthropos ton kun epaisen]

[उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा।]

इस वाक्यको यों भी रख सकते हैं:—[१] तान् कुन् एपताज़ेन् हा अन्थ्रोपास् अथवा [२] हा अन्थ्रोपास् एपताजेन् तान् कुन।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आरम्भिक स्थितिमें प्रा० भा० यू० वाक्य-रचनाकी एक विशेषता यह रही होगी कि वहाँ पदोंकी कोई नियतस्थिति न थी, उनका प्रयोग वाक्यमें कहीं भी हो सकता था, उनके सम्बधका बोध विभक्तिके द्वारा करा दिया जाता था।

वाक्यरचनाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम हम नाम शब्दोंको लेंगे। नाम शब्दोंकी पदरचनाको हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें देख चुके हैं। नाम शब्दोंके वचनके विषयमें दो बातें कह देना आवश्यक होगा। संस्कृतमे द्विवचन पाया जाता है। वैसे बादमें प्राकृतमे आकर यह वचन ठीक उसी तरह लुप्त हो गया है, जैसे 'हेलेनिस्टिक' कालमें आकर ग्रीकका द्विवचन लुप्त हो गया है। जैसा कि हम बता चुके हैं द्विवचनका बीज उन दो वस्तुओंके वर्णनमें था, जो युग्म रूपमें पाई जाती थी। दूसरी विशेषता यह है कि वैदिक संस्कृतमें कहीं कहीं नपुंसक लिंगके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। यह सम्भवत इसलिए कि नपुंसक लिंग ब० व० के 'आकारान्त' वैकल्पिक रूपको 'आकारान्त' स्त्रीलिंगके प्रथमा ए० व० के तुल्य माना जाता हो। यह हम देख चुके हैं कि नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया ब० व० का विभक्तिचिह्न 'आ' भी था [भुवनानि विश्वा]। यह विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है। होमरकी भाषामें तथा ग्रीककी एक विभाषा 'एतिक' [Attic] में यह विशेषता पाई जाती है[1]। 'हेलेनिस्टिक' कालमें आकर यह प्रयोग बहुत कम हो गया। संस्कृतमें भी इस तरहके प्रयोगका धीरे-धीरे लोप हो गया, तथा लौकिक संस्कृतमें यह प्रयोग नहीं पाया जाता।

संस्कृतमें वाक्यके कर्त्ताके लिए प्रथमा तथा तृतीया दोनों विभक्तियोंका प्रयोग पाया जाता है। तृतीयाका प्रयोग कर्मवाच्यमें होता है, प्रथमाका

१ Atkinson Greek Language p 104

कर्तृवाच्यमें। तृतीयाका प्रयोग कर्त्ताके अतिरिक्त करणमें भी पाया जाता है, तभी तो पाणिनिने कहा है—कर्तृकरणयोस्तृतीया। कर्तृवाच्यके प्रयोगमें जहाँ सत्तार्थक क्रियाका [भू या अस् का] वर्तमाने प्रयोग होता है, कभी-कभी वह क्रिया प्रयुक्त नहीं होती। किन्तु ऐसी दशामें प्रायः विधेयको उद्देश्यके पूर्व रखते हैं या बादमें। साथ ही ऐसी दशामें विशेषक सर्वनामका सदा प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए 'स पुरुषः शूरः' या 'शूरः स पुरुषः' में [अस्ति या भवति] क्रियाका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके बिना भी काम चल सकता है। किन्तु, यदि विधेयका प्रयोग विशेषक सर्वनाम तथा कर्त्ता [उद्देश्य] के बीच किया जायगा, तो क्रियाके प्रयोगके बिना काम नहीं चलेगा। 'स शूरः पुरुषः' [अस्ति], में 'अस्ति' की आकांक्षा बनी रहती है। ठीक यही विशेषता ग्रीकमें पाई जाती है। उदाहरणके लिए, हो अन्थ्रोपास् कलोस् [ho anthropos kalos] तथा 'कलोस् हो अन्थ्रोपास्' पूरे वाक्य हैं, किन्तु हो कलोस् अन्थ्रोपास् मे एस्ति [esti] की आवश्यकता है। इन वाक्यका अर्थ है, "वह पुरुष अच्छा है"। संबोधनके अर्थमें कभी कभी संस्कृतमें हे का प्रयोग पाया जाता है, हे देव, हे हरे, हे विष्णो। ग्रीकमें संबोधनके अर्थमें ओ [ō] पाया जाता है, जो शब्दके पहले प्रयुक्त होता है, यथा ओ लेगोस् [ō legos] [हे सिर], ओ क्रीत [ō krita] [हे न्यायाधीश]।

द्वितीया विभक्तिका प्रयोग प्रायः सकर्मक क्रियाके लिए पाया जाता है। यह वह वस्तु है, जो किसी क्रियाके कर्त्ताका ईप्सिततम कर्म है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'। ईप्सिततम पदमें तमप् का प्रयोग इसलिए किया गया है कि प्रमुख कर्म रखते समय जो और कर्म होंगे, वे क्रियाके मुख्य कर्म न होनेके कारण कर्म नहीं माने जायेंगे, तथा उनमें द्वितीया विभक्ति नहीं होगी। यथा, दध्ना ओदनं भुङ्क्ते इस वाक्यमें केवल 'ओदन' ही कर्म

है, क्योंकि खानेवालेको ईप्सिततम वही है, दधि नहीं। कर्मवाच्यमें यह कर्म प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त होता है। ठीक ऐसा ही कर्मवाच्य प्रयोग ग्रीकमें पाया जाता है, जहाँ कर्म क्रियाका कर्त्ता [nominative] बन जाता है। किन्तु ध्यान रखिये जहाँ ग्रीकमें कर्मवाच्यके कर्मको कर्त्ता माना जाता है, वहाँ संस्कृतमें इसे कर्त्ता नहीं माना जाता। हमारे वैयाकरणोंके मतानुसार यहाँ प्रथमा विभक्ति होनेपर भी कर्मत्व ही माना जायगा, **"रामेण हन्यते वालि"** में **"बालि"** प्रथमा विभक्तिमें होते हुए भी कर्म है, **'रामेण'** की विभक्ति तृतीया है, किन्तु इस वाक्यका कर्त्ता यही है। यही कारण है कि हमारे व्याकरणमें प्रथमा तथा कर्त्ता, द्वितीया तथा कर्म, तृतीया तथा करणका ठीक वैसा ही अविच्छेद्य संबंध नहीं है, जैसा अन्य भाषाओं में। वस्तुत. अन्य भा० यू० भाषाओंमे प्रथमा, द्वितीया जैसी कोई गणना है ही नहीं।

कर्मका प्रयोग क्रियासे बने कई कृदन्तोंके साथ भी होता है। यथा शतृ तथा शानच्, क्त-क्तवतु आदिके साथ कर्मकारकका प्रयोग पाया जाता है, यदि वे सकर्मक क्रियासे बने हैं :—

[१] **दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटा शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।**

[२] **सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरा विडम्बयन्त शितिवाससस्तनुम्।**

इसी तरह तुमुन्के साथ भी कर्मका प्रयोग पाया जाता है, **वसतिं प्रियकामिनांप्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः।** वैसे वैदिक संस्कृतमें तुमुन् तथा उसके समानान्तर तवे, तवै आदिके लिए द्वितीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी तीनोंका वैकल्पिक प्रयोग देखा जा जाता है—**अहये हन्तवै, परमेतवे।** किन्तु लौकिक संस्कृतमें आकर केवल द्वितीया ही प्रयुक्त होने लगी।

संस्कृतमें कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्म पाये जाते हैं। ये क्रियाएँ द्विकर्मक कहलाती हैं।[1] इन क्रियाओंमे प्रमुख [कथित] तथा गौण [अकथित]

१. दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-पृच्छि-चि-ब्रू-शास्-जि-मन्थ्-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथित तथा स्यान्नीहृ-कृष्-वहाम्॥

दोनों कर्म द्वितीया विभक्तिमें होते हैं। इसी बातको महर्षि पाणिनि अपने सूत्र 'अकथितञ्च' में संकेतित किया है। यह अकथित कर्म प्रायः अन्य किसी कारकका रूप रहता है, जो द्विकर्मक क्रियाओंके साथ कर्म हो जाता है। यथा, गां दोग्धि पयः [गायसे दूध दुहता है।], माणवकं पन्थानं पृच्छति [लड़केसे मार्ग पूछता है], सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति [समुद्रसे अमृत मथता है।] आदि वाक्योंमें गां, माणवकं, क्षीरनिधि में यह अकथित कर्मवाली द्वितीया विभक्ति ही है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्मोंका प्रयोग देखा जाता है।[1]

संस्कृत णिजन्त प्रक्रियामें जहाँ द्विकर्मक क्रिया होती है, प्रमुख कर्म द्वितीयामें ही बना रहता है, किन्तु गौण कर्मका प्रयोग तृतीयामें होता है, यथा "अर्चीकरचारु हयेन या अर्मीनिंजातपत्रस्य तलस्थले नलः" [नैषध, प्र० सर्ग] में प्रधान कर्म अर्मीः द्वितीयामें है, गौण कर्म हयेन तृतीयामें। जहाँ तक नी, ह, कृष् तथा वह् धातुका प्रश्न है, इनमें गौण कर्म विकल्पसे तृतीया तथा द्वितीया दोनोंमें होता है—भारं वाहयति भृत्यं भृत्येन वा।

जैसा कि हम बता चुके हैं संस्कृतके कुछ अव्यय आदि ऐसे हैं, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे परसर्ग [postposition] हैं, तथा जिनके साथ उनसे सबद्ध नाम शब्दोंमें द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। जैसे, "धा मन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा, यदन्यनेन निरमास्यत नाकलोकम्" [नैषध, ११ सर्ग], में 'अन्तरा' के योगसे 'धा' में द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। पाणिनिके सूत्र 'अन्तरान्तरेण युक्ते' के अनुसार यहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। इस तरहके शब्दोंको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'कर्मप्रवचनीय' कहते हैं। ग्रीकमें भी ऐसे कर्मप्रवचनीय पाये जाते हैं, जिनके साथ कर्म [द्वितीया] का प्रयोग होता है। फिर भी वाक्यरचनाकी दृष्टिसे ग्रीकमें तथा संस्कृतमें एक भेद पाया जाता है। संस्कृतमें जहाँ ये कर्मप्रवचनीय

---

1. Atkinson : Greek Language p. 105

नियत रूपसे उस कर्मके बाद प्रयुक्त होते हैं, जिससे इनका सम्बन्ध होता है, ग्रीकमें ये सदा उसके पूर्व प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए जहाँ ग्रीकमें ये पुरःसर्ग [preposition] हैं, वहाँ संस्कृतमें ये परसर्ग [postposition] हैं। संस्कृतमें 'अन्तरा द्या' जैसा प्रयोग व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध होगा।

यहाँपर परसर्गोंकी उत्पत्तिपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। वस्तुतः ये सभी परसर्ग [कुछको छोड़कर] उपसर्गोंसे विकसित हुए हैं। वैदिक संस्कृतमें उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अंग न होकर कर्मके बाद प्रयुक्त होते थे, वैसे ये वाक्यमें किसी भी स्थानपर रख दिये जा सकते थे। वैदिक संस्कृतमें ये सदा क्रियासे अलग प्रयुक्त होते रहे हैं, यथा प्र नूनं पूर्णबन्धुर· स्तुतो याहि [१. ९२ ३] में, जहाँ 'प्र' लौकिक संस्कृतमें आकर याहि का अविच्छेद्य अंग बनकर प्रयाहि रूप बन जाता है। इन्हीं उपसर्गोंमेंसे कई उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अंग न रहकर परसर्ग बन गये। कुछमें उपसर्गोंसे भिन्नता बतानेके लिये अन्य ध्वन्यात्मक अंश जोड़ दिये गये हैं। उदाहरणके लिए 'अभित·' तथा 'परित' को लीजिये। वस्तुतः ये अभि तथा परि के ही विकसित रूप हैं, जिनमें त [*तास्] जोड़कर ये नये रूप बना दिये गये हैं। बादमें जाकर इनके शुद्ध रूप क्रियाके अविच्छेद्य अंग—उपसर्ग बन गये, जो अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति में स्पष्ट हैं, किन्तु ये '–तः' वाले रूप 'कर्मप्रवचनीय' बन गये हैं। यह उपसर्गोंका दो प्रकारका विकास हमें लौकिक संस्कृतमें कहीं कहीं स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणके लिए अनु को लीजिए, यह अनु जब उपसर्ग [क्रियाके अंग] के रूपमें प्रयुक्त होता है, तो क्रियाकी स ध्वनिको ष बना देता है, अनुषिञ्चति। किन्तु यदि वह उपसर्गके रूपमें प्रयुक्त नहीं होता, तो क्रियाकी 'स' ध्वनि अविकृत रहती है, अनु सिञ्चति। ग्रीकमें प्रोस् [pros] [सं० प्र], एपि [epi] [सं० अपि], परा [para] [सं० परा], हुपो [hupo] (सं० उप], अव [awa] [सं० अव], हुपेर [huper] [सं० उपरि], पेरि [peri]

[सं० परि], अम्फि [amphi] [सं० अभि] के योगमे कर्मकारक [accusative case] का प्रयोग पाया जाता है। हम देखते है कि उपसर्गोंमे से अधिकाश सस्कृतमें कर्मवचनीय रूपमे प्रयुक्त होते हैं। सस्कृतसे इस प्रकारके प्रयोगके कुछ उदाहरण दे देना ठीक होगा। सस्कृत व्याकरणके प्रसिद्ध वार्तिक 'अभितःपरित समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' के आधार पर इन उदाहरणोंको ले लें।

[१] अभितः कृष्णं देवाः।

[२] विलट्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति।

[३] हा देवदत्तम्।

'हा' का प्रयोग इसी ढगका ग्रीकमे भी पाया जाता है, जहाँ इसका हास् [hos] रूप पाया जाता है।

इसके पूर्व कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानको लें, पहले संबंध या षष्ठी विभक्तिको ले लें। सबधको सस्कृत वैयाकरण कारक नहीं मानते। इसका कारण यह है कि कारक वह है, जिसका क्रियासे साक्षात् संबध हो। षष्ठी विभक्तिका सबध किसी सज्ञा या नाम शब्दसे होता है, यथा "दशरथस्य पुत्रः लङ्कायां बाणेन रावणं जघान" मे दशरथस्य का जघान से कोई सबंध नहीं है, उसका सबंध पुत्रः से है। वस्तुतः षष्ठ्यन्त संबधीका सम्बद्ध नाम शब्दसे वही सबंध होता है, जो क्रियाका अपने कर्मसे होता है। किसी संज्ञा या नाम शब्दसे अन्य सज्ञा या नाम शब्दके साक्षात् सबद्ध होनेपर प्रथम सज्ञा या नाम शब्द षष्ठ्यन्त होता है। किन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी है, जिनमे कर्म षष्ठ्यन्त पाया जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र "अधिगर्थदयेषां कर्मणि" मे इसका संकेत किया गया है। मातुः स्मरणम्, सर्पिषो दयनम् मे कर्म षष्ठ्यन्त है। अथवा जैसे, "अद्यापि तद्गजघटापटलस्य शेते, भीत्या स्मरन् हरि रहोऽन्तलमंदुरायाम्" मे गजघटापटलस्य मे स्मरन् के कारण ही षष्ठीविभक्ति कर्मकी द्योतक है। ग्रीकमे भी कुछ क्रियाएँ ऐसी है, जिनमे कर्म [object] मे सबंध कारक [Genative Case] पाया जाता है।

ये क्रियाएँ भक्षार्थक, स्पर्शार्थक, इच्छार्थक, शासनार्थक तथा अनुभवार्थक है ।[1] षष्ठी विभक्तिका प्रयोग कुछ अव्ययोंके साथ भी पाया जाता है, उदाहरणके लिए 'उपरि' के साथ, यथा "दक्षिणस्या भ्रुव उपरि", "तस्योपरिष्टात् पवनावधूत"। ग्रीकमे भी जब हुपेर [huper] का प्रयोग "ऊपर" अर्थमे होता है, तो सबधी नाम शब्द सबध कारकमे ही होता है। षष्ठी विभक्तिका अन्य कई स्थलोंपर प्रयोग होता है, जिनमे विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोग निष्ठा प्रत्ययके साथ विकल्पसे तृतीया तथा षष्ठीका है। जहाँ निष्ठा प्रत्ययका प्रयोग समस्त शब्दमें हो गया है [प्रायः बहुव्रीहि समासमें], वहाँ यदि नाम शब्दका सबध निष्ठा प्रत्ययके कर्ताके रूपमें है तो तृतीया होगी, किन्तु यदि उसका सबध निष्ठा प्रत्ययसे न होकर समासके अन्य पदसे है, तो षष्ठी विभक्ति होती है '—

[१] प्रतीहार्या गृहीतपञ्जर [तृतीया], [२] श्रुतदेहविसर्जन. पितु· [षष्ठी]।

तृतीया विभक्तिका प्रयोग करणके अर्थमे होता है। कर्मवाच्यमे क्रियाका कर्त्ता भी तृतीयान्त होता है, इसे हम बता चुके हैं। कई ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके पूर्व तृतीया विभक्ति पाई जाती है। सह, सम, साधं, विना, नाना आदि कईके साथ तृतीयाका प्रयोग होता है। इसमे सह, सम, सार्धं का प्रयोग पाया भी जाता है, ये लुप्त भी हो सकते हैं। पित्रा समं गत पुत्र· मे सम का प्रयोग पाया जाता है। देवो देवेभिरागमत् जैसे प्रयोगोंमें ये लुप्त है। ग्रीकमे ठीक ऐसा ही प्रयोग 'सुन्' [sun] का पाया जाता है। ये दोनो प्रा० भा० यू० *सण्म् [*sem] से विकसित माने जा सकते हैं। ग्रीकमे वैसे तृतीया [करण, instrumental] तथा सप्तमी [अधिकरण locative] दोनों ही चतुर्थी [सम्प्रदान, dative] मे समाहित हो गई है, अत वहाँ 'सुन्' के साथ सम्प्रदानका प्रयोग पाया जाता है।

---

१ Atkinon Greek Language P. 114

चतुर्थीका प्रयोग सम्प्रदानके अर्थमे होता है। वस्तुतः यह "दानार्थक" क्रियाका गौण कर्म होता है, यथा 'ब्राह्मणाय गां ददाति' मे। दानार्थक क्रियाके अतिरिक्त कभी कभी कथनार्थकमे भी इसका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमे क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्या, असूया अर्थवाली क्रियाओंके कर्म भी चतुर्थीमे पाये जाते है:—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः। कुछ ऐसे भी परसर्ग और शब्द है, जिन्हे चतुर्थीका कर्मप्रवचनीय कहना अनुचित न होगा। इनका उल्लेख "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इस प्रसिद्ध सूत्रमे हुवा है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमे जर्मनमे चतुर्थी विभक्ति या सम्प्रदान कारक पाया जाता है। कई पुरःसर्गोंके बाद जर्मनमे संज्ञा या सर्वनाम सम्प्रदान कारकमे होता है। इश्र कान निष्ट ओह्ने इह्न गेहेन [Ich kann nicht ohne ihn gehen] [मै उसके बिना नहीं जा सकता], मे 'इह्न' [ihn] मे कर्मकारक [accusative case] है, जो ओह्ने [ohne] के साथ प्रयुक्त होता है। लेकिन वोन [von] के साथ सम्प्रदान कारक [dative Case] पाया जाता है, यथा नेह्मेन सी दास बुख वोन इह्म [Nehmen Sie das Buch von ihm] [उससे किताब ले लो।] ध्यान दीजिये 'इह्न' [ihn] कर्मकारकमे है, तो इह्म [ihm] सम्प्रदान कारकमे।

पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग अपादानमे पाया जाता है, यथा वृक्षात् पर्णं पतति मे। पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग दो वस्तुओंकी तुलना कर एककी निकृष्टता और दूसरेकी उत्कृष्टता बतानेके लिए भी होता है—पापीयान् अश्वाद् गर्दभः। कुछ ऐसे परसर्ग भी है, जिनके साथ पञ्चमीका प्रयोग होता है, जैसे तस्मात् विना मे। भयार्थक तथा त्राणार्थक धातुओंमे भय पैदा करनेवाले हेतुका अपादानमे प्रयोग होता है—[भीत्रार्थानां भयहेतुः], यथा, कृष्णाद् बिभेति कंसः; कंसात् त्रायते गोपान् कृष्णः।

सप्तमीका प्रयोग अधिकरणके अर्थमे पाया जाता है, जैसे गृहे तिष्ठति मे। कभी कभी वैदिक संस्कृतमे उप के साथ सप्तमीका प्रयोग पाया जाता

है, यथा उप सूर्ये। ग्रीकमें भी हुपो तथा प्रोस्‌के साथ अधिकरण कारकका प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि हम बता चुके हैं ग्रीकमें अधिकरण कारक, सम्प्रदानमें समाहित हो गया है, वस्तुत वहाँ सम्प्रदान कारक पाया जाता है, जो अधिकरणका भी काम करता है। संस्कृतकी सप्तमी विभक्ति किसी क्रियाके देश तथा कालकी बोधक होती है।

संज्ञाओंकी भाँति ही संस्कृतके सर्वनाम शब्दोंका वाक्यगत प्रयोग देखा जाता है। लौकिक संस्कृतमें सर्वनामोंके प्रयोगमें एक विशेषता पाई जाती है, कि 'अस्मद्', 'युष्मद्' शब्दोंके वैकल्पिक रूपों—मा, वा, मे, ते आदिका प्रयोग वाक्यके आदिमें नहीं होता, जैसे आगतस्ते पिता वाक्य शुद्ध है, किन्तु ते पिता आगतः के स्थानपर तव पिता आगत [त्वत्पिता आगत] शुद्ध माना जायगा।

विशेषणोंका प्रयोग संस्कृतमें ठीक संज्ञा जैसा ही होता है। ये उसी लिंग, वचन तथा विभक्तिमे प्रयुक्त होते हैं, जो लिंग, वचन तथा विभक्ति विशेष्य नाम शब्दकी होती है, यथा, कृष्ण पुरुष., कृष्णा स्त्री, कृष्ण वस्त्र आदिमें।

अब हम परस्मैपद तथा आत्मनेपदके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते है। ग्रीकमें भी ये दोनों प्रकारके पद पाये जाते हैं, जो वहाँ क्रमशः "एक्टिव" एव "मिडिल वॉयस" कहलाते हैं। आरभमे आत्मनेपदका प्रयोग प्रायः कर्त्ताके अपने आप क्रियाफलके भोक्ता होनेके अर्थमें होता था, किन्तु धीरे-धीरे परस्मैपद तथा आत्मनेपदका इस प्रकारका भेद नष्ट हो गया। लौकिक संस्कृतमे आकर हम देखते हैं कि कुछ क्रियाएँ [धातु] केवल परस्मैपदी हैं, कुछ केवल आत्मनेपदी। कुछ क्रियाएँ ऐसी भी है, जिनके रूप दोनों प्रकारके पदोंमें पाये जाते हैं। ये उभयपदी धातु है। लौकिक संस्कृतमे यह भी देखा जाता है कि कुछ उपसर्गोंके प्रयोगसे धातुका पद भी बदल जाता है। उदाहरणके लिए √स्था धातुको लीजिये। इस धातुके पूर्व **सम, अव, प्र,** वि उपसर्गोंमेसे किसी एकके होनेपर, यह धातु आत्मनेपदी **है, [समवप्रविभ्य. स्थ.]**। इसके उदाहरण संतिष्ठते, अवतिष्ठते,

वितिष्ठते, प्रतिष्ठते; संतस्थे, अवतस्थे, वितस्थे, प्रतस्थे दिये जा सकते हैं, अन्यथा परस्मैपदके रूप तिष्ठति, तस्थौ बनते है। इसी प्रकार √ जि धातुके पूर्व वि, परा उपसर्ग होनेपर आत्मनेपद होता है, [विपराभ्यां जेः], जयति; विजयते, पराजयते। इस प्रकार हम देखते है कि परस्मैपद तथा आत्मनेपदका अब लौकिक संस्कृतमें ठीक वही रूप नहीं रह गया है, जो मूलतः था। ठीक ऐसा ही परिवर्तन ग्रीकमें भी हो गया है। ग्रीकमें तो यहाँ तक पाया जाता है कि कुछ धातु जो वस्तुतः 'एक्टिव वॉयस' के हैं, उनके भविष्यत् [Future Indefinite] रूप 'मिडिल वॉयस' में पाये जाते हैं, तथा कुछ धातु जो वस्तुतः 'मिडिल वॉयस' [आत्मनेपदी] है, उनके परोक्षभूत 'एक्टिव वॉयस' [परस्मैपदी] हैं।[1] उदाहरणके लिए संस्कृत √ दृश् धातुके समानान्तर ग्रीक धातुको ले लें। इसका उत्तम पुरुष एकवचनका वर्तमान कालिक [Present Indefinite, संस्कृत लट्] रूप "दॅर्कोमइ" [derkomai] [सं० *दृशे [पश्यामि]] है, जो वस्तुतः मिडिल वॉयसका रूप है। किन्तु इसका परोक्षभूत रूप ग्रीकमें दॅदोर्क [dedorka] [सं० ददर्श] पाया जाता है, जो एक्टिव वॉयसका रूप है। संस्कृतमें दृश् के स्थानपर पश्य् के आदेशके भाषावैज्ञानिक तथ्य का संकेत हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें कर चुके है। वैदिक संस्कृतसे भी इसी ढंगका एक दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ वर्तते के साथ ही साथ उसका लिट् रूप ववर्त भी पाया जाता है। संस्कृतमें ये दोनों, आत्मनेपद तथा परस्मैपद कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त होते हैं।

कर्मवाच्य रूपोंका प्रयोग प्रा० भा० यू० में नहीं होता था। किन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यताका विकास हुआ, भावोंकी अभिव्यञ्जनाके लिए इसकी आवश्यकता हुई, इसकी पूर्तिके लिए कोई न कोई प्रणालीका आश्रय लिया गया। ग्रीकमें प्रायः अकर्मक आत्मनेपदी क्रियाओंके द्वारा कर्मवाच्यका

---

1 Atkinson. Greek Language p 139.

बोध कराया जाने लगा। उदाहरणके लिए तिथेमि [tithemi] [सं० दधामि] के कर्मवाच्यका बोध केइमइ [keimai] [धीये] [मै धारण किया जाता हूँ] के द्वारा कराया जाने लगा। संस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए आत्मनेपदी रूपोंका ही आश्रय लिया, किन्तु इसमें धातुके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' का प्रयोग भी जोड़ना आरंभ किया। यथा संस्कृत पठति, गच्छति, ददाति से क्रमशः पठ्यते, गम्यते, दीयते रूप बनाये गये। ध्यान रखिये, संस्कृतके कर्मवाच्य सदा आत्मनेपदी होते है, परस्मैपदी नहीं। इन्हींसे संबद्ध वे धातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते है। ये भाववाच्य रूप क्या है? जिन धातुओंको सकर्मक श्रेणीमें रक्खा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्त्ता तृतीया विभक्तिमें तथा कर्म प्रथमा विभक्तिमे होता है, यथा तेन पुस्तकं पठ्यते में। इसमे क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके अनुकूल होता है। किन्तु अकर्मक क्रियाओं[1] के भी कर्मवाच्य जैसे आत्मनेपदी रूप पाये जाते है। इन्हें भाववाच्य रूप कहते है। वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्मवाच्य रूपोंमे यह भेद होता है कि इनका कर्त्ता तो तृतीयान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण क्रिया सदैव प्रथम पुरुष एकवचनमें होती है—यथा मया स्थीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तैर्म्रियते, अस्माभि जीयते आदिमे।

काल तथा लकारके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हुए हम देखते है कि संस्कृतमें तीन काल तथा दस लकार पाये जाते हैं। यहाँ हमने वैदिक लकार लेट्को अलगसे नहीं माना है। वर्तमानके लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम यह किसी शाश्वत सत्यका बोध कराता है, यथा जले

---

१. लज्जा-सत्ता स्थिति-जागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

पश्नं उत्पद्यते। दूसरे, यह वर्तमानकालिक क्रियाका बोध कराता है, यथा अहं ओदनं भुञ्जे। इसका तीसरा प्रयोग ऐतिहासिक रूपमें अतीतकी घटनाओंके वर्णनके लिए पाया जाता है, यथा अस्ति ब्रह्मस्थलं नाम नगरम्। तत्र काचित् दीना ब्राह्मणी प्रतिवसति। संस्कृतमें यावत् तथा पुरा के योगमें वर्तमान कालका प्रयोग पाया जाता है [यावत् पुरानिपातयोर्लट्]। ऐसी ही विशेषता ग्रीक तथा लैतिनमें भी पाई जाती है। ग्रीकमें परोस् [paros] [सं० पुरा] तथा पलइ [palai] के योगमें क्रिया सदा वर्तमानकालमें पाई जाती है। वर्तमान फ्रेंचके बोलचालमें इस प्रकारका प्रयोग पाया जाता है, जहाँ वर्तमान कालका प्रयोग भूतकालके अर्थमें होता है, जब कि कार्य पूर्णत: समाप्त नहीं हुआ है, यथा 'जे स्वि जिसी देप्वा लो तोप [Je suis ici depuis long temps] [मैं यहाँ बड़ी देर से हूँ।] इसी भावके बोधनके लिए प्रा० भा० यू० में परोक्षभूते लिट्का प्रयोग होता था।

इस संबंधमें हम पहले परोक्षभूते लिट् को ले लें। जैसा कि हम बता आये है 'लिट्' का प्रा० भा० यू० प्रयोग शुद्ध भूतकालिक न था। साथ ही वैदिक साहित्यमें भी इसका प्रयोग वर्तमानके अर्थमें होता रहा है। लौकिक संस्कृतमें आकर यह 'लिट्' लकार उस भूतकालिक घटनाके लिए प्रयुक्त होने लगा, जो हमारे परोक्षमें हुई है। किन्तु यहाँ परोक्षका तात्पर्य उस कालसे है, जब वक्ता उस समय उत्पन्न ही न हुआ हो जब कि घटना घटित हुई थी। अतः वक्ताके जीवनकालमें हुई घटनाके लिए लङ् लकारका या लुङ्का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार लौकिक संस्कृतमें आकर लिट्का प्रयोग अर्थ की दृष्टिसे बहुत संकुचित हो गया है। अतीतकी प्रत्यक्ष घटनाके वर्णनमें लिट्का प्रयोग लौकिक संस्कृतमें अशुद्ध माना जाने लगा है। 'रामो रावणं जघान" का लिट्वाला प्रयोग शुद्ध है, किन्तु "अहं काशीं जगाम" का प्रयोग अशुद्ध माना जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लिट् लकारका प्रयोग उत्तम पुरुषके साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं होता।

वैयाकरणोंने बताया है कि जहाँ व्यक्ति स्वय वर्तमानकालमें अपने द्वारा किये गये भूतकालिक व्यापारको किन्हीं कार्योंमे अत्यधिक व्यस्त होनेके कारण नहीं जान पाता, वहाँ भी इस तरहका प्रयोग हो सकता है। इसी तरह प्रथम पुरुष एव अन्य पुरुषके विषयमे भी जहाँ कोई कार्य आपके सम्मुख न हुआ हो, तथा उस क्रियाका केवल साधन ही आपका प्रत्यक्ष विषय हो, वहाँ भी लिट् का प्रयोग हो सकता है, जैसे **अय पपाच** [इसने पकाया], त्व पेचिथ [तुमने पकाया]।[1] उत्तम पुरुषके साथ लिट्के प्रयोगका उदाहरण माघका एक प्रसिद्ध पद्य है:—

बहु जगद पुरस्तात् तस्य मत्ता किलाह चकर च किल चाटु प्रौढयोपिद्वदस्य।
विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्त विचिन्त्य व्यपगतमदयाऽह्नि व्रीडित मुग्धवध्वा॥
[११-३६]

इस पद्यमें उत्तम पुरुषके साथ लिट् [जगद, चकर] का प्रयोग इसलिये अदुष्ट है कि मुग्धानायिका उस समय शराबके नशेमें चूर थी, पर अब सुबह सखियों को ठिठौली करते देखकर वह समझ गई है कि रातको उसने पतिके समक्ष प्रौढाकी तरह आचरण किया था। पर वह तो नशे में थी, उसे अभी भी पूरी तरह पता नहीं है, अतः अपने उक्त आचरणका वह अनुमान भर लगा पाती है, मदके कारण उसे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। फलत यहाँ कविने लिट्का प्रयोग किया है, जो इस बातकी व्यजना कराता है कि नायिका ने जो भी किया वह मदके कारण था, मद न होनेपर मुग्धा-नायिका ऐसा आचरण कदापि न करती, साथ ही मदके उतरनेपर स्वय उसे ही पता नहीं है कि उसने मदाविष्ट होकर क्या किया था।

भूतकालके द्योतनके लिए अनद्यतनभूते लुट् तथा सामान्यभूते लुट् दो रूप और पाये जाते हैं। जैसा कि पारिभाषिक सज्ञासे स्पष्ट है, लङ्का

१. देखिये सिद्धातकौमुदीमें 'परोक्षे लिट्' [३-२-११५] सूत्रकी ज्ञानेन्द्रसरस्वतीकृत तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

प्रयोग उस घटनाके लिए होता है, जो आज घटित नहीं हुई है, तथा लुट्का प्रयोग किसी भी भूतकालिक घटनाके लिए हो सकता है। किन्तु लङ् तथा लुङ्का प्रा० भा० यू० रूप थोड़ा भिन्न था। ग्रीकमें यह भिन्नता पाई जाती है। वहाँ लट् [Imperfect] क्रियाकी अपूर्णावस्थाको व्यक्त करता है, तो लुट् [Aorist] क्रियाकी पूर्णता को।

भविष्यत् कालके लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं, लृट् तथा लुट्। वैसे तात्त्विक दृष्टिसे इनके प्रयोगमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता। संस्कृतमें अधिकतर वाक्यगत प्रयोग 'लृट्' का ही देखा जाता है। इसीसे रूपकी दृष्टिसे मिलता जुलता हेतुहेतुमत् है, जो हेतु वाक्य तथा हेतुमत् वाक्य दोनोंमें भूतकालिक स्थितिको बतानेके लिए किया जाता है। इन वाक्योंमें "यदि" तथा "तर्हि" [तदा] का प्रयोग समुच्चयबोधक अव्ययके रूपमें होता है, यथा "यदि त्वमपठिष्यः तर्हि परीक्षामुदतरिष्यः"। जैसा कि हम बता चुके हैं लृङ् वस्तुतः लृट् तथा लङ् रूपोंके योगसे बना है।

अब हमारे सामने तीन लकार और रह जाते हैं, आज्ञार्थ लोट्, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ्। जैसा कि हम बता आये हैं, आज्ञाबोधक तथा विध्यात्मक प्रयोग प्रा० भा० यू० में पाये जाते थे। आज्ञात्मक रूपोंमे कोई तिङ् चिह्न नहीं पाया जाता था। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्का ही विकसित रूप है। संस्कृत वाक्य रचनामें अधिकतर विधिलिङ्का प्रयोग देखा जाता है। कभी कभी विधिके लिए आशीर्लिङ्का तथा 'आशीः' के लिए विधिलिङ्का प्रयोग भी देखा जाता है। लोट्का प्रयोग अवश्य स्वतन्त्र है। वस्तुतः लोट् आज्ञा या 'मिलिट्री कमाण्ड' के भावका वहन करता है। लिङ्में वक्ता केवल अपनी इच्छा प्रकट करता है। यहाँ लोटके विषयमें एक बात कह दी जाय। संस्कृत वाक्यरचनामें लोट्के साथ निषेधार्थक रूपमें 'मा' [माङ्] का प्रयोग पाया जाता है। इस आज्ञार्थक रूपमें कभी-कभी मा के साथ 'लुङ्' का भी प्रयोग पाया जाता है, किन्तु

इस दशामें माङ् के योगमें लुङ्के अ आगमका लोप हो जाता है। उदाहरणके लिए, वत्से मा गा विषादं वाक्यको ले लें, यहाँ क्रियाका मूल रूप 'अगा.' है, जहाँ मा के कारण अ का लोप हो गया है। ध्यान रखिये, यह अगाः व्याकरणके मतानुसार √ इण् [इण् गतौ] के लुङ्का रूप है [इणो गा लुङि], किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इसका सबंध किसी न किसी रूपमें √ गम् धातुसे अवश्य रहा होगा, इसका सकेत हम कर आये हैं। वस्तुत यह गमनार्थक √ गा धातुका रूप है, जो √ गम् का ही सबल रूप है तथा जिसका प्रयोग लौकिक संस्कृतमें लुप्त हो गया है। यह जुहोत्यादि-गणका धातु था जिसके रूप जिगाति आदि होते थे।

जैसा कि हम अगले परिच्छेदमें बतायेंगे सारल्यप्रवृत्तिके कारण संस्कृतकी वाक्यरचना तथा उसके कारक-नियम धीरे-धीरे सरलता की ओर बढने लगे। प्राकृतने फिर भी संस्कृत वाक्यरचनाकी परम्पराको एक तरहसे अक्षुण्ण बनाये रक्खा। अपभ्रंश कालमें सुप् चिह्न घिसकर परसर्गोंका रूप ले रहे थे, भाषा विश्लिष्ट प्रवृत्तिकी ओर बढ रही थी, फलतः संस्कृत वाली वाक्यपरम्परामें परिवर्तन दिखाई देता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंने इसी विश्लिष्ट प्रवृत्तिका आश्रय लिया है। यही कारण है कि हमें संस्कृतकी वाक्यरचना आजकी भाषाओं व बोलियोंकी वाक्यरचनासे भिन्न दिखाई देगी। किन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंकी व्यवहित प्रवृत्तिके मूलके लिए हमें संस्कृत वाक्यरचनाका पर्यवेक्षण करना आवश्यक होगा।

संस्कृतका परवर्ती विकास

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "लेग्वेंज, इट्स नेचर, डेवलपमेंट एन्ड ऑरिजिन" [भाषा, उसकी प्रकृति, विकास तथा उद्भव-स्रोत] की भूमिका[1] मे एक स्थान पर भाषाविज्ञानको ओत्तो येस्पर्सनने भाषात्मक प्राणिशास्त्र [linguistic biology] कहा है। भाषावैज्ञानिकोका अभिनवतम दल भाषाके जीवनको विकासशील मानता है, साथ ही यह भी कि भाषाके जीवनमे उसका व्यवहार करनेवाली मानव-जातिका इतिहास, उस जाति-विशेषका विकास तरलित रहता है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान समाज-विज्ञानका महत्त्वपूर्ण अग है। भाषाके विकासको गति देनेमे राजनीतिक, भौगोलिक, साहित्यिक कई परिस्थितियाँ हाथ बॅटाती है। विशेषकर भाषाको रूढ रूप देनेमे साहित्य बहुत हाथ बॅटाता है। किन्तु दूसरी ओर इसी कारणसे भाषाकी नैसर्गिकता फूट निकलती है। ज्यों ज्यों व्याकरणके नियमों-के द्वारा भाषाके वास्तविक रूपको मार्जित, परिष्कृत, प्रौढ तथा साहित्यिक रूप देनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यो-त्यो भाषाका रूढ रूप स्थिर या "मृत" हो जाता है, पर बोलचालकी भाषाकी गत्यात्मकता जारी रहती है, उसमे कोई अवरोध नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है, कि भाषाकी गत्यात्मकताकी विशेषता क्या है, और इसे हम एक शब्दमे यों कह सकते है कि भाषाके विकासकी सबसे बड़ी विशेषता विशेषीकरण [Specialization] है। यदि आप किसी भी प्राणिशास्त्रीसे पूछें कि प्राणियोंकी विभिन्न जातियो [Species] के विकासमे प्रमुख विशेषता क्या है, तो सभवतः वह यही बतायेग कि प्रत्येक प्राणी अपने वर्गकी सीमाके अतर्गत

---

[1] Otto Jespersen · Language, its Nature, Development and Origin P 8.

छोड़ती हुई विशेष सारल्य तथा विशेषीकरणकी ओर बढ़ गई हैं। उदाहरणके लिए सुप्–तिङ् रूपोंको लीजिये। सस्कृतके इन रूपोंकी जटिलता कम हो गई है। द्विवचन प्राकृतकालमें ही लुप्त हो गया है, प्राकृतकालमें चतुर्थी-षष्ठी, पञ्चमी-तृतीयाका समाश्लेष हो गया है। यह सरलता इतनी बढी कि आधुनिक भारतीय भाषाओंमें दो ही विभक्ति रूप रह गए हैं :—अविकारी तथा विकारी। इनमें सबधतत्त्वका द्योतन करानेके लिए "परसर्गों" [postpositions] का विकास हो गया है, जो कभी सुप् चिह्नोंसे, कभी किन्हीं अव्ययोंसे विकसित हुए हैं। लिंगोंकी दृष्टिसे हम देखते है कि नपुसक लिंगका लोप हो गया है। इसी प्रकार तिङ् रूपोंका भी विशेषीकरण हो गया है। हिन्दीके वर्तमानके रूप शतृप्रत्ययान्त रूपोंसे विकसित हुए है, तो भूत एव भविष्यत्के[1] रूप क्त प्रत्ययान्त रूपोंसे।

सस्कृतके परवर्ती विकासको भाषावैज्ञानिकोंने तीन स्थितियोंमें माना है :—[१] प्राकृत-कालीन विकास, [२] अपभ्रंश-कालीन विकास, [३] आधुनिक भाषागत विकास। इन्हें हम क्रमशः प्राकृत, अपभ्रश तथा आधुनिक भाषाएँ इन तीनके अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। वैसे प्रत्येकके अन्तर्गत भी विकासकी कई स्थितियाँ रही होंगी, जिनमेंसे कुछका सकेत भाषावैज्ञानिकोंने किया है। यहाँ हम सस्कृतके परवर्ती विकासको दो भागोंमें विभक्त करेंगे :—[१] मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ, [२] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ। इन्हींको दृष्टिमें रखकर इस विकासका अध्ययन किया जायगा।

× × ×

संस्कृतकी वैदिक कालीन विशेषताओंका सिंहावलोकन :—

इसके पहले कि हम सस्कृतके परवर्ती विकासको लें, दो बातोंको समझ लेना जरूरी होगा—पहले तो वैदिक भाषाकी कुछ विशेषताओंका सकेत,

---

१ हिन्दी भविष्यत्का 'गा' सस्कृत "गत." के क्तप्रत्ययान्त रूपसे विकसित हुवा है।

तथा दूसरे, संस्कृतमें कौन-कौन विजातीय तत्त्व आकर प्राकृतवाले विकासमें सहायक हुए हैं। यहाँ हम प्रथमको ले रहे हैं।

जैसा कि हम देखते हैं ऋग्वेदके मन्त्रोंकी भाषा प्राचीनतम भारतीय भाषा है। यह भाषा अवेस्ताकी भाषाके अत्यधिक निकट है, तथा प्रा० भा० यू० "ग्रुन्दस्प्राख" [Grundsprache] का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है। इसीका विकसित रूप लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत[1] है। अवेस्ताकी प्राचीनतम भाषा अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे वैदिक संस्कृतसे भिन्न नहीं मानी जा सकती। देखा जाय तो वह कालिदासकी संस्कृतसे वैदिक भाषाके कहीं अधिक नजदीक है। ऋग्वेदकी भाषा आज भी विश्वस्त रूपमें मिलती है, उसका अपरिवर्तित रूप आज तक सुरक्षित रहा है। किन्तु, फिर भी कुछ स्थलोंपर ऋग्वेदकी भाषाको ठीक उसी रूपमें नहीं लेना होगा, जो हस्तलेखोंमें रहा है। जैसा कि हम बता आये हैं, ऋग्वेद कालकी भाषामें कई कालकी कई विभाषाओंका संग्रह मानना होगा। सम्पूर्ण ऋग्वेदको दस मण्डलोंमें विभक्त किया गया है। यह मण्डल-विभाजन ऐतिहासिक आधार पर है, पर इसमें कुछ अपवाद भी हैं। द्वितीयसे लेकर सप्तम मण्डल तक "गोत्र-मण्डल" कहलाते हैं। इन गोत्र मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डलके सारे मन्त्र एक ही गोत्रके ऋषियोंके बनाये हुए हैं, यथा, सप्तम मण्डलके ऋषि वशिष्ठ गोत्र-वाले हैं, इसी तरह द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद गोत्रके हैं, तो तृतीयके विश्वामित्र गोत्र के। द्वितीयसे सप्तम मण्डल तकके ऋग्वेदांशकी भाषा प्राचीन-तम है। प्रथम तथा दशम मण्डलमें कुछ भाग प्राचीन है, कुछ बादके। कैसे लोगोंका मत है कि दशम मण्डलका प्रायः सारा ही अंश बादका है। ऐतिहासिक दृष्टिसे नवम मण्डलका विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें सोम देवता संबंधी सभी मन्त्रोंका समावेश हो गया है। अतः यह मण्डल

---

१. यहाँ "प्राकृत" शब्दका प्रयोग हम कुछ विस्तृत अर्थमें कर रहे हैं, जिसमें अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं।

"सोममण्डल" कहलाता है। अष्टम मण्डल प्राचीन तो है, पर इसमें कई गोत्रोंके ऋषियोंके मन्त्र समाविष्ट हैं। यद्यपि यह निश्चित हो गया है कि ऋग्वेदकी भाषा प्राचीनतम है, तथापि वैदिक संहिताओंमें आज उपलब्ध वर्तनियों [Spelling] पर पूरा विश्वास न कर उसके उच्चारण तत्त्वकी भी खोज करना होगा। यहाँ इस तरहके लिपि-उच्चारण-भेदके कुछ उदाहरणोंका संकेत दिया जाता है।

वैदिक संस्कृतके **पावक** शब्दको ले लीजिये, जिसका स्त्रीलिंग रूप **पावका** पाया जाता है। पाणिनि व्याकरणके मतानुसार यह रूप **पाविका** होना चाहिए, क्योंकि क प्रत्ययान्त शब्दके स्त्रीलिंग रूपोंमें पूर्ववर्ती अ ध्वनि 'इ' हो जाती है, यथा कुमारक–कुमारिका। ऋग्वेद संहितामें यद्यपि यह शब्द **पावक** लिखा मिलता है, पर इसका उच्चारण **पवाक** होता होगा।[1] इसीलिए स्त्रीलिंगमें **पावका** रूप बनता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषाके भाषाशास्त्रीय अध्ययनके लिए यह आवश्यक है कि इसका उच्चारण कैसे होता था। ऋग्वेदसे इन दो उदाहरणोंको ले लें, जो स्पष्ट कर देंगे कि यहाँ छन्दके कारण **पावक** का उच्चारण **पवाक** ही होता है :—

शोचिष्केशो घृतनिर्णिक् पावक [३।१७।१]।
प्रेतीषणिम् इषयन्त पावकम् [६।१।६]।

इसी तरह जहाँ कहीं य तथा व संयुक्ताक्षरमें उत्तर ध्वनिके रूपमें पाये जाते हैं, वहाँ उनका उच्चारण 'इय' 'उव' होता है। यथा,

विश्वे देवस्य नेतु मर्तो वृणीत सख्यम्।
विश्वे राय इषुध्यसि द्युम्नं वृणीत पुष्यसे॥ [५।५०।१]

में सख्य का उच्चारण सखियम् होगा। वाजसनेयी संहिता [यजुर्वेद] में 'स्वर्' [स्व·] को एकाक्षर [monosyllabic] माना गया है, किन्तु

1 Wackernagel Altindische Grammatik vol I P XI

यजुर्वेदकी तैत्तरीय संहिताके पाठमें यह द्व्यक्षर [disyllabic] है, तथा इसका उच्चारण तैत्तरीय शाखामें 'सुवर्' है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मणमें राजन्य तथा द्यौः को क्रमशः चतुरक्षर [राजनिय] तथा द्व्यक्षर [दियौः] माना गया है।[1] किंतु किन्हीं-किन्हीं पदोंके उच्चारणमें यह बात नहीं पाई जाती। सत्य, अश्व जैसे शब्दोंका उच्चारण सदा द्व्यक्षर ही पाया जाता है। इससे एक अनुमान यह होता है, कि जहाँ य्, व् वस्तुतः प्रा० भा० यू० *य्, *व् से विकसित है, वहाँ उनका उच्चारण *इय् *उव् नहीं होता, किन्तु जहाँ ये संस्कृतमें इ + अ, उ + अ का विकास है, वहाँ इनका इय, उव वाला उच्चारण पाया जाता है। उदाहरणके लिए, उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्यः में देवेभ्यः का उच्चारण देवेभियः होता है।

वैदिक संस्कृतकी अन्य विशेषता औ–आ, आसः–आः, एभिः–ऐः वाले वैकल्पिक सुप् रूप हैं, जो हम देख चुके हैं। ये रूप देवौ–देवा, देवासः–देवाः, देवेभिः–देवैः जैसे वैकल्पिक रूपोंमें देखे जा सकते हैं। इसका विशद विवेचन संस्कृत पदरचनाके सम्बन्धमें किया जा चुका है। ऋग्वेदकी भाषामें अन्य विशेषताएँ ये हैं:—

[१] पद्भिः का वहाँ पड्भिः रूप पाया जाता है।

[२] वहाँ भ ध्वनि कभी-कभी ह पाई जाती है :—√गृभ्–जग्राह, 'भरति-हरति'।

[३] स्वरमध्यगत ड, ढ क्रमशः ळ, ळ्ह हो जाते हैं।

[४] पु० लि० अकारान्त शब्दोंके सप्तमी बहुवचनके रूप कभी-कभी 'ए' अन्तवाले, तथा नपुंसक अकारान्त शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया ब० व० के रूप कभी-कभी 'आ' अन्तवाले भी पाये जाते हैं, यथा त्रिपु रोचने; भुवनानि विश्वा।

[५] ऋग्वेदमें परोक्षभूते लिट्के चकार, आस या बभूव वाले रूप नहीं पाये जाते। इनमें चकार या आस वाले रूप सर्वप्रथम यजुर्वेदमें मिलते

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५।१।५।१४ तथा १४।८।१५।१

है—आमन्त्रयाञ्चकार, आमन्त्रयामास। यजुर्वेदके गद्यभाग, ऋग्वेदकी ऋचाओंके बहुत बादकी रचना हैं, यह ध्यानमे रखनेकी बात है।

संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासमें विजातीय तत्त्वोंका प्रभाव :—

जब आर्य भारतमें आये थे, तब यहाँ उनके पूर्व द्राविड़ तथा आस्ट्रिक परिवारके लोग रहते थे। इन लोगोंकी अपनी अलग अलग भाषाएँ थीं। यह निश्चित है कि आर्योंकी भाषाको ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक दृष्टिसे इन भाषाओंने चाहे कम प्रभावित किया हो, शब्द-सम्पत्तिकी दृष्टिसे अत्यधिक प्रभावित किया है। गोंड तथा सथाल जातिके पूर्वज मुण्डा लोगोंकी भाषा 'आस्ट्रिक परिवारकी' थी। इसी परिवारकी कई बोलियाँ आज भी भारतके कई भागोंमें बोली जाती हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन्हें "कोलवर्गके" नामसे अभिहित करना ठीक समझते हैं। इनका सम्बन्ध, भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे, इन्डोनेशिया तथा आस्ट्रेलियाके निवासियोंकी भाषाओंसे जोड़ा जाता है, तथा इसे "आस्ट्रो-एशियाटिक" या "मोन-ख्मेर" भाषा-वर्गके नामसे पुकारा जाता है। मुण्डा वर्गकी भाँति ही द्राविड़वर्गकी भाषाने भी उस कालमें आर्योंकी भाषाको प्रभावित किया था। द्राविड़ लोगोंकी भाषाएँ भिन्न परिवारकी मानी जाती है, तथा भाषाविज्ञानमें "द्राविड़ वर्ग" के नामसे प्रसिद्ध हैं। वैसे कुछ विद्वान् इन्हें "यूराल-अल्ताइ" परिवार [जिसकी प्रमुख भाषा तुर्की है] से जोडनेकी कल्पना करते हैं।

मुण्डा तथा द्राविड़ भाषाओंने, जहाँ तक ध्वन्यात्मकता तथा शब्द-कोषका प्रश्न है, निःसन्देह संस्कृतको प्रभावित किया है, साथ ही आधुनिक आर्य भाषाओंके, जो प्राकृत द्वारा विकसित हुई है, विकासमें भी उनका योग रहा है। किन्तु व्याकरण या पदरचनात्मक प्रभावके विषयमें विद्वानोंके दो मत है। प्रो० टॉमसनके मतानुसार आ० आर्य भाषाओंकी विभक्तियोंके निरोपीकरणमें मुण्डाका ही प्रभाव है, किन्तु डॉ० स्तेन कोनो [Sten Konow] इस बातसे सहमत नहीं। वैसे स्तेन कोनो स्वय भी बिहारी

भाषाके कुछ क्रियारूपोंके विकासमें मुण्डा पदरचनाका प्रभाव मानते हैं।[1] ध्वनियोंके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियाँ मुण्डा या द्राविड प्रभाव हैं, क्योंकि वहाँ दोनों वर्गोंमें मूर्धन्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं। यही नहीं, गुजराती तथा पश्चिमी राजस्थानी एवं भीलीकी "त्स [च़]" ध्वनि, सम्भवतः किसी मुण्डा विभाषाका ही प्रभाव है, क्योंकि भारतीय आर्य परिवारमें यह ध्वनि नहीं पाई जाती। वैसे बाल्तो-स्लाविक भाषाओंमें इसका अस्तित्व है, यथा रूसीमें 'त्स' [च] [ts] ध्वनि पाई जाती है, जो उसके "त्सार" शब्दमें है, जिसका अर्थ ज़ार होता है।

आधुनिक आर्य भाषाओंमें चार या बीसवाली गणना मुण्डा भाषाओंका ही प्रभाव है। साथ ही इसी गणनाके सांकेतिक शब्द गण्डा [४], कौड़ी [२०], मुण्डा भाषाओंसे आये हैं। इसी तरह कई ऐसे शब्द हैं, जिन्हें हमारे प्राकृत वैयाकरणोंने देशी या देशज मानकर तत्सम तथा तद्भव कोटिसे भिन्न माना है। इनमेंसे बहुतसे शब्द मुण्डा या द्राविड शब्दकोषसे आये हैं। प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski], ब्लॉख, सिलवाँ लेवी [Sylvain Levi], तथा डॉ० चाटुर्ज्याने कई ऐसे शब्द ढूँढे हैं, जो संस्कृतमें मुण्डा या द्राविड़ भाषाओंसे आये जान पड़ते हैं। इनमेंसे कुछ शब्दोंका संकेत यहाँ दिया जाता है; विशेष अध्ययनके लिए डॉ० पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित 'प्रि-आर्यन एण्ड प्रि-ड्रेविडियन' नामक पुस्तिकामें उपर्युक्त पण्डितोंके लेखोंको देखना चाहिए।

बाण, पिनाक दोनों संस्कृत शब्दोंका संबंध पिन + आक से जोड़ा जाता है। आक, अनक, बाण शब्द इसी अर्थमें मुण्डा भाषामें पाये जाते हैं। वहाँ इनका अर्थ धनुष तथा बाण है।

---

1. Dr. Bagchi: "Pre-Aryan and Pre-Dravidian" [Introduction] p. XI

कपोल संस्कृत शब्द मुण्डा भाषाके कापो, तपोअ आदि रूपोंसे जोड़ा जाता है, जिनमें मूल रूप "–पोल" है। मुण्डा भाषाओंमें 'क' 'त' का विपर्यय पाया जाता है।

नारिकेल संस्कृत शब्द मुण्डा शब्द नियोर [नारियलका वृक्ष], तथा कोलइ [फल] इन दो शब्दोंके संयोगसे बना माना जा सकता है।

भेक शब्द मुण्डा तबेग, बुआक से संबद्ध माना गया है, जिसका अर्थ 'मेंढक' है।

जङ्घा का संबंध मुण्डा छान-छोंग, जग्गा, [सथाली], जोंग, जुग से जोड़ा जाता है।

कपोत शब्दका संबंध मुण्डा कपोत, कबोत से जोड़ा जाता है।

काक शब्दका संबंध मुण्डा कुआग, आग, गाग, कएक से बताया गया है।

हलाहल [अर्थ, जहर] संस्कृत शब्द भी मुण्डा हाले, हलेक से संबद्ध माना गया है, जहाँ इनका अर्थ "काला साँप" है।

इनके अतिरिक्त जितने भी 'म्ब' 'बु' ध्वनिवाले संस्कृत शब्द हैं, उनमेंसे अधिकतर शब्दोंको प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski] ने मुण्डा भाषाकी देन कहा है। दाडिम्ब, कदम्ब, शिम्ब, निम्ब, रम्भा, स्तम्ब, तुम्ब, तुम्बुरु, उदुम्बर, निम्बु [क], जम्बु, जम्बीर, लाबु, अलाबु जैसे कई शब्द मुण्डा-वर्गकी ही देन माने जाते है।[1] संस्कृतका गुड शब्द भी मुण्डाके गुल, गुला, गूल, हूलो से संबद्ध है, जिसका अर्थ 'शक्कर' है। क्या हिंदीके गुलगुला शब्दका भी उद्गम मुण्डामें ही है? प्रो० सिलवाँ लेवीने बताया है कि कई भौगोलिक स्थानोंके नाम भी संस्कृत भाषामें मुण्डासे ही आये है। उनके मतानुसार कोसल-तोसल, अंग-वंग, कलिंग-त्रिलिंग, उत्कल-मेकल, पुलिंद-कुलिंद आदि देश नाम मुण्डासे ही आर्य भाषाओंमें आये

---

१ ibid P xxiii and also pp 149 to 160

है।[1] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंमेंसे कईमें जो प्रतिध्वनि शब्द [जैसे, घोड़ा-वोडा, पैसा-वैसा, जल-वल, रोटी-वोटी, जलेबी-वलेबी] है, क्या वे मुण्डा प्रभाव तो नहीं है ?

द्राविड़ भाषाओंसे भी संस्कृतमें कई शब्द आये है। प्रो० व्लॉखने अपने निबन्ध "संस्कृत तथा द्राविड़" में इसपर प्रकाश डाला है।[2] 'घोड़े' के लिए वास्तविक आर्य शब्द "अश्व" है, किन्तु बादमें संस्कृतमें घोटक [घोट-] शब्दका प्रयोग पाया जाता है। यह शब्द सर्वप्रथम आपस्तम्ब श्रौतसूत्रमें पाया जाता है। वस्तुतः यह द्राविड़ भाषाके गुर्रम [तेलगू], कुदुरु [कन्नड़], कुदिरेइ [तामिल] से सम्बद्ध है। वहाँ से पहले यह बोलचालकी प्राचीन भाषामें आया है, और बादमें संस्कृतमें भी गृहीत हो गया है। दूसरा उदाहरण हम हिन्दी पेट शब्द ले सकते हैं। संस्कृतमें इसके लिए उदर शब्द है। प्राकृत तथा परवर्ती भा० आ० भाषाओंमें यह शब्द नहीं विकसित हुआ है। जब कि प्राकृतमें पेट्ट शब्द पाया जाता है। वैसे संस्कृतने भी पेट शब्दको अपनाया है, पर भिन्न अर्थ में। संस्कृतके पेटक, पेटिका [संदूक, सदूकची] जैसे शब्द मूलतः इसीसे सबद्ध है। संस्कृतका बिडाल शब्द लीजिए, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम रामायण व महाभारतमें पाया जाता है। इसीसे हिन्दी बिल्ली, बिलैय्या, जिप्सी ब्लारी, शब्द निकले है। इसका सबन्ध भी द्राविड शब्द पिल्ली [कन्नड] से माना जाकर, इसे द्राविड़ प्रभाव कहा गया है। संस्कृतके गर्दभ शब्दके विषयमें यह मत है कि इसमें दो अश है, एक मूलशब्द [*गर्द] दूसरा-भ प्रत्यय। यह शब्द ऋग्वेद तकमें पाया जाता है। यह तो निश्चित है कि यह आर्य शब्द नहीं है, पर कहाँ से आया है यह प्रश्न समस्या बना हुआ है। विद्वानोंने यह तो कहा कि यह द्रविड़ भाषाका प्रभाव है, पर यह

---

१. ibid. Prof Sylvan Levi's article "Pre Aryan and Pre-Dravidian in India" PP. 63 to 123.

२. ibid. Prof Bloch's article. pp 37 to 59.

समस्या अभी सुलझ न पाई है। छान्दोग्य-उपनिषद् में एक शब्द मटची मिलता है, इसका सम्बन्ध विद्वानोंने कन्नड़ मिडिचे से जोड़ा है, जिसका अर्थ "घासका घोड़ा" [एक कीड़ा] है। संस्कृतका 'मयूर' शब्द जो ऋग्वेदमें पाया जाता है, द्रविड़ शब्द मयिल [तामिल], मय्लु [कन्नड़], मलि [तैलगू] से जोड़ा जाता है।

संस्कृतमें द्राविड भाषासे आये शब्दोंमें कतिपय निम्न हैं :—

स० अनल [आग], तामिल अनल, [अग्नि, धातु 'जलाना'], मल० अनल, [अग्नि, ताप], कन्नड, अनलु [ताप]।

स० अलस [आलसी], ता० अलचु, म० अलयुक, कन्नड अलसु [थका हुआ]।

स० उलूखल [ओखल], ता० उलक्कइ, म० उलक्क, कन्नट, ओलके, तेल० रोकली।

स० एड [भेड़], ता० याट्ट, आट्ट [बकरी, भेड़], कन्नड, आडु [बकरी], ते० एट [भेढा]।

स० कज्जल, ता० करिकल [कालिमा]।

स० कटु [कडवा], ता० कट्ट, म० कटु, तेलगू, कडु।

स० करीर [बाँस], क० करिले, तु० कणिले, ब्राहुई खरिंग। [बाँसकी कोंपल, अकुरित होना]

स० कानन [वन], ता० का, कान, कानन, कानल, म० कावु, कानल।

स० कुटी ता० कुटी, ते० गुडी।

स० कुटिल ता० कोट्ट, कुट, म० कोट्ट, कन्नट, कुडु।

स० कुद्दाल [कुदाली], ते० गुद्दलि, क० गुद्दु।

स० कुनल [बाल] ता० म० कूनल, क० कूदल।

स० कुवलय [कमल], ता० कुवळइ, कन्नट, कोमळे, कोवळ, कोळे [तु० स० कमल]।

सं० खल, ता० कल, कळ्वान [चोर] कन्नड कळ्ळ [चोर], ते० 'कळळ' [धोखा]।

सं० घुण [कीडा], कन्नड गोण्णे [–पुरु] [कीडा]।

सं० घूक [उल्लू] ता० कूकइ, कन्नड, गूगि, गूगे, गूबि, ते० गूबि, गूब।

सं० चदन, ता० चातु, चात्तु, म० चातु, कन्नड, सादु, ते० चाँदु।

सं० √चुम्ब् [चूमना] ता० चूप्पु [चूमना]।

सं० चूडा [बालोंका गुच्छा], ता० चूडु [सिर पर पहनना; सिरके बालोंका गुच्छा], म० चूट्टु [मुर्गेकी कलगी], कन्नड सूडु।

सं० दण्ड, ता० तण्डु, कन्नड दण्डु, दण्ट, ते० दण्डु।

सं० निर्गुण्टी [गिलोय], ता०, म० नोच्चि, क० नेक्कि, लेक्कि, लक्कि।

सं० नीर [जल], ता०, म० कन्नड, नीर, ते० नीरु, ब्राहुई, दीर।

सं० √पण् [शर्त करना], ता० पणइ [बाँधना], कन्नड, पोणे [जमानत]।

सं० पण्डित [विद्वान्], ते० पण्डु 'परिपक्व', पण्ड, 'बुद्धि'।

सं० पालि [पंक्ति], क० पारि, म० पाळि, ते० पाडि।

सं० बक, ता० वका, वक, ते० बक्कु।

सं० बिल्व [बेल] ता० विला, विलाइ, वेल्लिल, म० विला, कन्नड बेलवल।

सं० मीन, [मछली] ता० मीन, कन्नड, मीन, ते० मीनु।

सं० मुकुल [कली] ता० म० मुकिर, ता० मुकऱ, कन्नड 'मुगुल'।

सं० वलय [कड़ा] ता० वलइ, कन्नड बळे।

सं० शव [मुर्दा], ता० चा [मरना], चावु, [मृत्यु], कन्नड 'सा' [मरना], सावु [मृत्यु]।

सं० सैरभ [भैंसा], ता० एरुमइ, म० एरिम [भैंसा]।

लीजिये। ये तीनों प्राकृतके शब्द हैं। वैसे "मारिष" प्राकृतमें मारिस है, यहाँ संस्कृतके ध्वनि नियमके अनुसार ष ध्वनि आ गई है। इस शब्दका अर्थ 'मित्र' है तथा यह प्राकृत रूप संस्कृत 'मादृश' से विकसित हुआ है। प्राकृतसे ही यह शब्द संस्कृत नाटकोंमें आकर 'मारिष' हो गया है। 'इगाल' शब्द संस्कृत अगार का प्राकृत रूप है। विद्वानोंने वैसे इस शब्दको भी शुद्ध आर्य न मानकर अगु, इगुग आदि मुण्डा शब्दोंसे जोड़नेकी चेष्टा की है। यह प्राकृत इगाल फिरसे संस्कृतमें प्रयुक्त होने लगा है। श्रीहर्षने नैषधमें इसका प्रयोग किया है :—"वितेनुरिंगालमिवायश परे" [प्रथम सर्ग]। मैरेय शब्दकी भी ऐसी ही कहानी है। संस्कृतके मद शब्दसे दूसरा शब्द बनता है मदिर, इसीका प्राकृत रूप मइर होता है। इसी प्राकृत मइर से फिर दूसरा शब्द बनता है "मइरेअ" [मइरेय][1]। इसीका संस्कृत रूप मैरेय है जिसका शुद्ध संस्कृत रूप *मदिरेय बनता है। मैरेय शब्दका प्रयोग 'शराब' के अर्थमें लौकिक संस्कृतमें बहुत पाया जाता है। माघने शिशुपालवधमें इसका प्रयोग बहुत किया है :—
" · 'पीतमैरेयरिक्त कनकचषकमेतद्रोचनालोहितेन", [एकादशसर्ग]। इसीके बादके कालमें साहित्यिक संस्कृतमें अरबी फारसी शब्द भी आ गये हैं, पर बहुत कम। श्रीहर्ष नैषधके चौदहवें सर्गमें श्लेषके रूपमें "भूरितरवारि" पदका प्रयोग करता है, जहाँ "तरवारि" शब्द "तलवार" के अर्थमें भी आया है। आगे जाकर वैद्यकवि लोलिम्बराजने तो "पातशाह" शब्दको भी संस्कृत पदावलीमें समाविष्ट कर "लोलिम्बराज. कविपातशाहः" की खिचड़ी पकाई थी। हिन्दी शब्द "खिड़की" का प्राकृत रूप 'खडक्किआ' या 'खिडक्किआ' रहा होगा। मैंने इसका लौकिक संस्कृत साहित्यमें "खिडक्किका"[2] प्रयोग भी देखा है। वैसे बादमें कई अँगरेजी, फारसी आदि शब्दोंके नये संस्कृत शब्द गढ़ दिये गये हैं, पर वे

१. मइरेय वस्तुतः मइरेअका ही य-श्रुति [y-glide] वाला रूप है।
२. पं० भट्ट मथुरानाथका साहित्यवैभव नामक काव्यग्रन्थ।

भाषावैज्ञानिकके लिए किसी कामके नहीं है। बानगीके तौरपर ये तीन शब्द ले लें—कूलेजः [College]; क्षिप्राशिप् [सिफारिश], व्यक्तोर्जाः [Victoria]।

संस्कृतके परवर्ती विकासका ऐतिहासिक क्रम :—

वैदिक कालमें ही वैदिक संस्कृत बोलनेवाले आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश तथा अन्तर्वेद [दोआब] से आगे बढ़ गये थे। धीरे धीरे इनकी विभाषाएँ एक दूसरेसे अलग होती गईं, उनपर वहाँकी विजातीय मुण्डा तथा द्राविड भाषाओंका भी प्रभाव पड़ने लगा। इनके प्रभावसे संस्कृत ध्वन्यात्मकता तथा पदरचनामें भी कुछ विकास होने लगा। जब अनार्य जातियोंने भी विजेता आर्योंकी भाषाको अपनाया, तो संस्कृतकी ध्वनियोंका उच्चारण नये रूपमें विकसित हो गया। इसी कालमें एक ओर उच्चारण-सौकर्यके कारण संस्कृत ध्वनियोंके प्राकृत उच्चारणका विकास होने लगा, दूसरी ओर इस प्रवृत्तिको वैदिक मन्त्रोंमें रोकनेके लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थों तथा शिक्षाओंका निर्माण हुआ, जिन्होंने संस्कृतके शुद्ध उच्चारणको सुरक्षित रखनेकी चेष्टा की। वैसे यह नहीं भूलना होगा कि प्राकृत रूपोंके विकासके दो-तीन सौ साल बाद प्रातिशाख्योंकी रचना हुई होगी, साथ ही शिक्षाग्रन्थोंकी रचनाके बारेमें कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। इनमेंसे कई तो ईसाकी दूसरी तीसरी शताब्दीके आसपासकी रचना है। प्राकृतोंकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंका विकास ब्राह्मणकालमें स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा था। पूर्वके अनार्योंके प्रभावने पूर्वमें एक ऐसी विभाषाका विकास हो गया था, जिसे आर्य बिगड़ा हुआ अशिष्ट उच्चारण मानते थे।[1] यह विभाषा उन लोगोंकी थी जो आर्यधर्म—वैदिक धर्ममें विश्वास नहीं रखते

---

१. "अदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुः" [वे लोग ठीक तौरपर उच्चारण किये जा सकनेवाले वाक्यको भी उच्चारण करनेमें कठिन बताते हैं।]

—ताण्ड्यब्राह्मण १७।४

थे। इन्हींको वैदिक साहित्यमे "व्रात्य" नामसे अभिहित किया गया है। इन लोगोंको वैदिक ध्वनियोंमें प्राय: ऋ, ऐ, औ, र, स, ष ध्वनियोंके उच्चारण-मे बड़ी कठिनाई प्रतीत होती थी। ठीक इसी तरह संयुक्त ध्वनियोंके उच्चारण करनेमें भी ये असमर्थ थे, विशेषकर तब, जब कि संयुक्त ध्वनियाँ दो भिन्न प्रकृतिकी होती थीं।

ब्राह्मण कालकी प्राकृतोंको मोटे तौर पर तीन तरहकी माना जाता है :—[१] उदीच्य, [२] मध्यदेशीय, तथा [३] प्राच्य। उत्तरवैदिक कालमे विकसित प्राकृतोंमे उदीच्य विभाषा [प्राकृत] संस्कृतके अत्यधिक समीप थी। इसी उदीच्य विभाषाके आधार पर महर्षि पाणिनिने साहित्यिक तथा परिष्कृत रूप देने के लिए व्याकरण [अष्टाध्यायी] सूत्रोंका निबन्धन किया था। मध्यदेशीय प्राकृत अन्तर्वेदकी विभाषा थी, तथा प्राच्य प्राकृत मगधके आसपासकी। कुछ लोगोंके मतानुसार दाक्षिणात्य जैसा चौथा वैभाषिक रूप भी उस कालमें रहा होगा। किन्तु, बहुत बाद तक दक्षिणकी आर्य विभाषा मध्यदेशीयके ही अन्तर्गत रही है। यहाँ तक कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनीको विद्वानोंने एक ही प्राकृतकी दो शैलियाँ माना है, जिसमे प्रथम पद्यमें पाई जाती है तथा द्वितीय गद्य मे।

तो, अशोकके पूर्वकी प्राकृतें मोटे तौर पर तीन तरहकी मानी जा सकती है। अशोकके समयकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंको हम तत्तत्प्रदेशके शिलालेखकी भाषामें देख सकते हैं। उदाहरणके लिए जहाँ लिख् का णिजन्त रूप गिर-नारके शिलालेखमे 'लेखापिता' मिलता है, वहाँ शहबाजगढीवाले लेखमें लिखपितु, जौगढवाले लेखमे लिखापिता, तथा मानसेरके लेखमें लिखपित पाया जाता है। अशोकके गिरनार शिलालेखमें इसका भविष्यत् रूप लिखापयिसम् पाया जाता है, जब कि बादमे मागधीमें यह 'लिहावइश्शम्' [मृच्छकटिक पृ० १३६] हो गया है।

ईसासे २०० वर्ष पूर्वके लगभग ये विभाषाएँ कुछ निश्चित भाषाओंके रूपमे विकसित हो गईं। इस समय ये विभाषाएँ मोटे तौर पर चार

प्राकृतोंमे—पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधीमे—विभक्त मानी गई है। प्राकृत वैयाकरणोंमे इन सब प्राकृतोंमे साहित्यिक दृष्टिसे महाराष्ट्रीको परिनिष्ठित प्राकृत माना है। यद्यपि इन सभी प्राकृतोंमे कई ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक तत्त्व समान रहे है, पर अपनी निजी विशेषताओंके आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है। 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमे पण्डितोंके दो मत है। प्राकृत वैयाकरण अधिकतर यही मानते आये है कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृतसे निकली है। इसी आधार पर वे 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्ति यों करते है।

प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। [हेमचन्द्र १।१]
प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते ॥ [मार्कण्डेय पृ० १]
प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम्। [धनिक दशरूपकवृत्ति २।६०]
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। [प्राकृतचन्द्रिका]
प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः। [वासुदेव—कर्पूरमञ्जरीटीका]

इस प्रकार सभी प्राकृत वैयाकरणों या प्राचीन पण्डितोंके मतानुसार प्राकृतकी उत्पत्ति संस्कृतसे मानी जाती है। दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् इस मतसे संतुष्ट नहीं, क्योंकि वे यह मानते है कि प्राकृत संस्कृतसे उत्पन्न न होकर वैदिक कालकी बोलियोंसे विकसित हुई है। यदि हम संस्कृत शब्दका रूढ़ अर्थ न लेकर वैदिक कालकी समस्त वैभाषिक प्रवृत्तियोंके अन्तर्मे निहित एकरूपता वाला अर्थ लें, तो सारी समस्या सुलझ जायगी। वैसे पाणिनिवाली लौकिक संस्कृतसे तो प्राकृते उत्पन्न नहीं हुई है, यह निश्चित है; किन्तु वैदिक [संस्कृत] भाषाका परवर्ती विकास तो ये निःसंदेह हैं ही। पुराने पण्डितोंके मतमें जो त्रुटि थी वह यही कि वे इन्हें प्रायः लौकिक संस्कृतसे उत्पन्न मानते थे।

प्राकृतोंके द्वितीय विकास काल [२०० ई० पू०–६०० ई०] में शौरसेनी प्राकृत विशेष महत्त्वपूर्ण थी। महाराष्ट्री इसीकी एक विशेष शैली थी। पर प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्य प्राचीन पण्डितोंने महाराष्ट्रीको ही

"स्टैण्डर्ड" तथा उत्तम प्राकृत माना। दण्डीने अपने काव्यादर्शमें इसी बातका संकेत करते कहा था, "महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदुः।"[1] दण्डीके बहुत पहले ही प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण वररुचिने शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्राकृतोंकी विशेषताओंका उल्लेख करनेसे पहले महाराष्ट्री प्राकृतके नियमोंका निबंधन किया है, तथा उससे जो विभिन्नताएँ इन दूसरी प्राकृतोंमें पाई जाती हैं, वे बताकर "शेष महाराष्ट्रीवत्"[2] लिख दिया है। इसी कालमें आकर प्राकृत भी साहित्यिक रूप लेने लगी। इस कालके अंतिम दिनोंसे लेकर १० वीं शती तक महाराष्ट्रीमें सेतुबन्ध, गउडवहो जैसे काव्य लिखे गये। वैसे हालकी 'सत्तसई' का रचना काल बहुत पुराना माना जाता है, किन्तु 'गाहा'—सत्तसई किसी कविकी रचना है या लोक-काव्योंके रूपमें प्रचलित गाथाओंका संग्रह, जिनका विकास ईसाकी प्रथम शताब्दीके आसपास हुआ होगा, यह प्रश्न समस्या ही है। अनुमान ऐसा होता है कि हाल इसके संग्राहक थे और सत्तसईका यह संग्रह ईसाकी दूसरी या तीसरी शतीके लगभग हुआ होगा। संभवतः हालने इन लोक-काव्योंको कुछ परिष्कृत रूप भी दिया हो, पर यह निश्चित है कि यह परम्परा लोककाव्योंकी ही रही होगी।

प्राकृतोंके इस द्वितीय विकास कालमें हमारे सामने एक समृद्ध धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा आती है, वह है पालि। पालिमें बौद्धोंका 'थेरवादी' साहित्य तथा हीनयान शाखाका साहित्य मिलता है। पालि कहाँकी विभाषा रही है, तथा इसका विकास कैसे हुआ, इस विषयमें विद्वानोंके दो मत थे, किन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि पालि मूलतः मध्यदेशकी प्राकृत [शौरसेनी] से विकसित हुई थी[3], यद्यपि इसमें कई मागधी तत्त्व भी

१. काव्यादर्श १।३४।

२ प्राकृतप्रकाश १२।३२।

३ Dr Chatterjea Origin and Development of Bengali Language P 57 Vol I [Intro]

सम्मिलित हो गये। भगवान् बुद्धने जिस भाषामें उपदेश दिया था, वह निःसंदेह मागधी थी, पालि नहीं। वैसे इस संबंधमें एक प्रसिद्ध गाथा भी है।[1] बौद्ध विद्वानोंमेंसे अधिकतर पालिको मागधीकी ही विभाषा मानते थे। पर पालिमें मागधीसे कुछ मौलिक भिन्नताएँ हैं। यथा, मागधीमें श्, ष्, स् के स्थानपर केवल तालव्य श् ध्वनि पाई जाती है, इसी तरह मागधीमें केवल ल् ध्वनि ही है, वहाँ र् का अभाव है। जब कि पालिमें स् और श्, र् और ल् दोनों ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इसी तरह मागधीमें प्रथमा विभक्तिके [अकारान्त शब्दोंके] रूपोंमें 'ए' विभक्ति होती है, [धम्मे]; तो पालिमें शौरसेनीकी भाँति ओ विभक्ति होती है [धम्मो]।

शौरसेनी तथा मागधीकी कतिपय प्रमुख ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक प्रवृत्तियोंका संकेत हम परवर्ती पृष्ठोंमें करेंगे। जहाँ तक पैशाची प्राकृतका प्रश्न है, उसका विवेचन हम यहाँ न लेंगे। भाषावैज्ञानिकोंका मत है कि पैशाची प्राकृत संभवतः दरदवर्गकी प्राकृत रही होगी, जिससे काश्मीरी, स्वाती तथा अन्य कई सुदूर उत्तरकी तथा पामीरके आस-पासकी भाषाएँ विकसित हुई हैं। दरदवर्गके नामसे भारत-ईरानी शाखाके एक तीसरे वर्गकी कल्पनाकी जाती है। भारत-ईरानी शाखाको इस प्रकार तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है :—[१] भारतीय आर्य [संस्कृत] वर्ग; [२] ईरानी [अवेस्ता-पारसी] वर्ग, [३] दरद वर्ग। दरद वर्गमें संस्कृत वर्ग तथा ईरानी वर्ग दोनोंका प्रभाव पड़ा होगा। यह एक मिश्रित विभाषा रही होगी। पैशाची संभवतः इसीका रूप थी। पैशाचीकी यह प्रवृत्ति जो प्राकृत वैयाकरणोंने बताई है, आज भी काश्मीरी आदिमें देखी जाती है :—जैसे, पिशाच भाषाओंमें सघोष महाप्राण नहीं होते, साथ ही संस्कृत सघोष अल्पप्राण वहाँ अघोष अल्पप्राण हो जाते हैं :—मेघः [मेखो], गगनं [गकनं]। इसीका संकेत हम काश्मीरीमें देख सकते हैं :—भ्राता [काश्मीरी, बोयु];

---

१. सा मागधी मूलभासा नरायायादिकप्पिया।
ब्रह्मणो च स्सुतालावा संबुद्धा चापि भासिरे॥

स० घोटक [काश्मीरी, गुड्], स० खड्ग [का० खड्क], ।[1] हम देखते हैं कि पैशाची प्राकृतने उदीच्य प्राकृतको प्रभावित कर कई मिश्रित विभाषाओंको जन्म दिया था। यही कारण है, इस तरहके कुछ प्रभाव हम लॅहदा तथा पजाबीमें भी देखते हैं। सभवत व्राचड अपभ्रश जिससे लॅहदा और सिन्धी विकसित हुई पैशाचीसे प्रभावित मध्यदेशीय प्राकृतका विकसित रूप थी।

गाथा सप्तशतीके सग्रह कालमें ही प्राकृत साहित्यिक रूप ले चुकी थी। और प्राकृतके बोलचालवाले कालके समाप्त होनेके बहुत बाद तक यह साहित्यिक भाषा बनी रही। इसी कालमें कुछ प्राकृत कवियोंने प्राकृत भाषाकी मधुरताकी महत्ता घोषितकी तथा सस्कृतसे अधिक प्राकृतकी प्रशसा की।

अमिअं पाउअकव्वं पढिउ सोउ अ जे ण आणति ।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहँ न लज्जंति ॥ [गा०श० २]

[जो लोग अमृतके समान मधुर प्राकृत काव्यको पढना और सुनना [समझना] नहीं जानते, वे लोग कामकी तत्त्वचिन्ताको करते हुए भी लज्जित क्यों नहीं होते ?

परुसा सक्कअबधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो ।
पुरिसमहिलाणँ जेत्तिय मिहंतरं तेत्तियमिमाण ॥ [कर्पूरमञ्जरी सट्टक]

[सस्कृतके काव्य परुष होते है, किन्तु प्राकृतके काव्य अत्यधिक कोमल होते हैं। इन दोनोंमे ठीक वही अन्तर है, जो पुरुषों व रमणियोंमे।]

अपभ्रंश-काल—ईसाकी छठीं शतीसे ईसाकी दसवीं शती तक, भारतीय आर्य भाषाओंका जो विकास पाया जाता है, उसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओंकी तीसरी स्थिति कह सकते हैं। सस्कृत तथा प्राकृत दोनोंसे भिन्न बतानेके लिए उसे "अपभ्रश" सज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ

---

१ The Linguistic conception of Kashmiri [Sir G A Grierson] [Indian Antiquity] Nov-Dec. 1915

है "बिगड़ी हुई", अर्थात् यह "बिगड़ी हुई भाषा" थी। अपभ्रंश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पातञ्जल महाभाष्यमें मिलता है:—एकस्यैव हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।[1]" [एक ही शब्दके बहुतसे अपभ्रंश रूप मिलते हैं, जैसे एक [शुद्ध] शब्द "गौः" के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि बहुत अपभ्रंश रूप होते हैं।] पर यहाँ पतञ्जलि 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग किसी भाषा-विशेषके अर्थमें नहीं करते। उनके मतानुसार अपभ्रंश शब्द वे हैं, जो पाणिनीय व्याकरणके विरुद्ध तथा असंस्कृत हैं, किन्तु लोकमें प्रचलित हैं। पतञ्जलि वाला यही मत बादके संस्कृत वैयाकरणोंमें, यथा वाक्यपदीयकार भर्तृहरिमें भी देखा जा सकता है[2]। इसके बाद 'अपभ्रंश' शब्दका भाषाके अर्थमें प्रयोग दण्डीमें मिलता है। दण्डीके मतानुसार 'अपभ्रंश' भाषा [बोली] आभीर आदि जातियोंके द्वारा व्यवहृत होती थी [आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः—काव्यादर्श १।३६]। भरतके नाट्यशास्त्रमें 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु आभीर आदि जातियोंकी भाषाको भरतने माना है[3]। इस प्रकार अपभ्रंशके आभीरोंके साथ सम्बन्धवाले संकेतको हम नाट्यशास्त्रमें ही ढूँढ सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि भरतने हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि देशोंके वासियोंकी भाषाकी प्रमुख विशेषता उकार-बहुलत्व बताई है[4], जो अपभ्रंशमें पाई जाती है। इस प्रकार अपभ्रंश

१. महाभाष्य: [पस्पशाह्निक]

२. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥
—वा० प० प्रथमखण्ड का० १४८

३. नाट्यशास्त्र १७।४४ [पृ० २१८]।

४. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुला तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥
वही १८।४९ [पृ० २१८]

है, तथा बहिरंग वर्गमें मागधी प्राकृतको तथा उससे विकसित भाषाओंको तथा सिन्धी, लँहदा, सिंहली और जिप्सीको सम्मिलित किया।[1]

हॉर्नेली तथा सर ग्रियर्सनके इस वर्गीकरणसे कई विद्वान् संतुष्ट नहीं। डॉ० चाटुर्ज्याने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "बंगाली भाषाका उद्‌गम और विकास" में एक नया वैज्ञानिक वर्गीकरण दिया है, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनके मतानुसार वेदोंमें ही हम कई विभाषाओंके चिह्न देख सकते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी प्राच्योंकी विकृत भाषाका संकेत मिलता है। साथ ही अशोकके शिलालेखोंमें भी वैभाषिक प्रवृत्ति प्रान्तोंके आधार पर देखी जाती है। अत. इन भाषाओंका वर्गीकरण भौगोलिक आधार पर करना विशेष ठीक होगा। यही कारण है कि डॉ० चाटुर्ज्याने भौगोलिक आधार पर आ० भा० आ० भाषाओंका [आ० भा० आ० भाषाओंका ही नहीं, प्राकृतोंका भी] वर्गीकरण दिया है।

- भारत ईरानी
  - ईरानी वर्ग
    - अवेस्ता
      - प्रा० फारसी
        - आ० ईरानी भाषाएँ व बोलियाँ
  - दरद वर्ग
    - [पैशाची]
      - काश्मीरी आदि भाषाएँ व बोलियाँ
  - भा० आर्य वर्ग
    - उदीच्य
      - सिन्धी
      - लहँदा,
      - पञ्जाबी
    - मध्यदेशीय
      - पश्चिमी हिंदी
    - पाश्चात्य
      - गुजराती
      - राजस्थानी
    - दाक्षिणात्य
      - मराठी
    - पूर्वीय
      - १. बंगाली
      - २ आसामी
      - ३ बिहारी
      - ४ उड़िया
      - ५ पूर्वी हिंदी

---

1 Dr chatterjea Origin and Development of Bengali Language Vol I [Introduction] P 30-31

इस प्रकार डॉ० चाटुर्ज्या उदीच्य, मध्यदेशीय, पाश्चात्य, दाक्षिणात्य तथा पूर्वीय ये पाँच वर्ग मानते हैं। उदीच्यमें वे सिन्धी तथा लँहदाको, तथा मध्यप्रदेशीय प्राकृतसे प्रभावित उदीच्यसे पंजाबीको उद्भूत मानते हैं। मध्यदेशीयमें वे पश्चिमी हिंदीको लेते हैं, तथा पाश्चात्यमें गुजराती एवं राजस्थानीको; इन्हींके मिश्रित वर्गमें वे पहाड़ी बोलियोंको मानते हैं। दाक्षिणात्य वर्गमें मराठीका समावेश होता है। पूर्वीय वर्गके दो उपवर्ग किये जाते हैं:—[१] कोसली जिसमें पूर्वी हिंदी—भोजपुरी तथा अवधी आती हैं, दूसरी मागधी जिसके अंतर्गत बंगाली, आसामी, उड़िया तथा बिहारीका समावेश होता है।

भाषाओंका वर्गीकरण कर लेनेके बाद हम मोटे तौर पर प्राकृत कालसे लेकर आज तककी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक परिणति का विहंगम दृष्टिसे अध्ययन करेंगे। यही कारण है, परवर्ती पृष्ठोंमें प्राकृत, अपभ्रंश तथा परवर्ती प्रवृत्तियों की खास विशेषताओंका ही संकेत किया जायगा।

संस्कृत स्वरध्वनियोंका परवर्ती विकास—

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि संस्कृतके ऋ, ऌ स्वर प्राकृत कालमें आकर सर्वथा लुप्त हो गये हैं। ऌ का तो संस्कृतमें भी एक प्रकारसे अभाव ही था, क्योंकि वहाँ वह केवल √ क्लृप् धातु या उससे बने एक दो रूपोंमें पाया जाता था। ऋ प्राकृतमें आकर तीन प्रकारसे विकसित हुआ है:—अ, इ, तथा उ। इसके पहले कि हम इसके अ वाले विकसित रूपको लें, इ तथा उ वाले विकासका संकेत कर दें। प्राकृतप्रकाशमें बताया है कि 'ऋष्यादि' गण के शब्दोंमें ऋ प्राकृतमें इ पाया जाता है।[1] उदाहरणके लिए, ऋषि, भृंगार, शृंगार, शृगाल के प्राकृतमें इसी, भिंगारो, सिंगारो, सिआलो रूप पाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनमें ऋ के अ तथा इ दोनों रूप पाये जाते हैं, दृढ, मृग, गृध्र जैसे शब्दोंके दढो-दिढो, मओ-मिओ, गद्धो-गिद्धो ये वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। 'ऋत्वादिगण' के

---

१. इदृष्यादिषु [१।२०]—प्राकृतप्रकाश।

शब्दोंमे प्राकृतमें ऋ का उ विकास पाया जाता है।[1] उदाहरणके लिए, ऋतु, वृत्तान्त, मृणालं, पृथिवी के प्राकृत रूप उदु, वुत्तन्तो, मुणाल, पुहवी रूप पाये जाते हैं। बाकी शब्दोंमें यह ऋ प्राकृतमें अ के रूपमें विकसित हुआ है,[2] जैसे तृष्णा का प्राकृतरूप तण्हा।

प्राकृत कालकी दूसरी विशेषता ऐ, औ ध्वनियुग्मोंका लोप है। प्राकृतप्रकाशकारने 'ऐत एत्' [१।३६] तथा औत ओत् [१।४१] इन सूत्रोंमें बताया है कि संस्कृत ऐ, औ प्राकृतमे आकर प्रायः ए, ओ हो जाते हैं। उदाहरणके लिए शैल, कैलाश, सैन्य, सौभाग्य, यौवन, कौशाम्बी के प्राकृत रूप सेलो, केलासो, सेण्णम्, सोहग्ग, जोव्वण, कोसबी पाये जाते है। किन्तु कई स्थानोंपर ये ध्वनियाँ क्रमशः अइ, तथा अउ के रूपमें भी विकसित हुई हैं। "दैत्यादिगण" मे 'अइ' [दैत्यादिषु अइत् १।३७] तथा "पौरादिगण" मे 'अउ' [पौरादिषु अउत् १।४२] का विकास हुआ है। उदाहरणके लिए, दैत्य, कैतव, वैशाख के प्राकृत रूप दइच्चो, कइतवो, वइसाहो, तथा पौर, रौरव, गौड के प्राकृत रूप पउरो, रउरवो, गउडो पाये जाते हैं। कभी ऐ तथा औ क्रमशः ई तथा उ के रूपमें भी विकसित मिलते हैं—धैर्यं [प्रा० धीर], सौन्दर्यं [प्रा० सुन्देरं]।

प्राकृतकालमें ह्रस्व विवृत ऎ, ऒ ध्वनियोंके होनेका संकेत मिलता है। यह संकेत प्राकृत छन्दोंको देखनेसे मिलता है, जहाँ कभी-कभी ऐ, ओ ह्रस्व या एकमात्रिक देखे जाते हैं। संस्कृतमे इन ह्रस्व ध्वनियोंका अभाव है। फिर भी इस तरहके उच्चारणका अस्तित्व सामवेदीय शाखाओं के वैदिक उच्चारणमे था, इस बातका संकेत महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें किया है। प्राकृतप्रकाशमें इस विशेषताका उल्लेख नहीं। हेमचन्द्रने

---

१. उदृत्वादिषु [१।२९]—वही।

२. ऋतोऽत् [१।२७]—वही। साथ ही दे० Pischel Prakrit Sprachen pp 49–50

अवश्य इसका उल्लेख किया है। पिशेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "प्राकृत स्प्राखेन" में इस बात पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है कि प्राकृतमें ऎ, ऒ ध्वनियाँ थीं :—

[१] प्राकृतमें जहाँ इ, उ अथवा ई, ऊ किसी संयुक्त व्यंजनके पूर्व होते थे, तथा वह इ, उ संस्कृत ऋ का ही विकास था, वहाँ वह इ, उ प्राकृतमें ह्रस्व ऎ, ऒ के रूपमें विकसित हो गया था, यथा

*दृक्षति [पश्यति]——>*दिक्खइ——>दॆक्खइ[1]

[२] संयुक्त व्यञ्जनध्वनि [संयुक्ताक्षर] के पूर्व ए तथा ओ क्रमशः ऎ, ऒ के रूपमें विकसित हो गये थे। यथा, प्रेक्षते, प्रेक्षणीय, ओष्ठ, अन्योन्य के प्राकृत रूप ये हैं :—पॆच्छइ, पॆच्छणिज्ज, ऒट्ठ, अण्णॊण्ण।[2]

[३] यदि प्रथम पदके अन्तमें ए या ओ ध्वनि है और उत्तर पदकी प्रथम ध्वनि प्राकृतमें संयुक्त व्यंजन ध्वनि है, तो भी ये ध्वनियाँ ऎ, ऒ हो जाती हैं। यथा, तुम्हॆ त्था [वै० सं० युष्मे स्था], अणुराऒत्ति [अनुराग इति], समॊत्ति [सम इति], साअरॆत्ति [सागरे इति]।[3]

अधिकतर ऐसा समझा जाता है कि ऐ, औ का ही विकास आ० भारतीय आर्य भाषाओंमें विवृत ऎ, ऒ के रूपमें पाया जाता है। किन्तु पिशेलने यह सिद्ध कर दिया है कि इनका विकास अन्य दिशाओंसे भी हुआ है। यहाँ हमें यह समझ लेना है कि मध्यकालीन भा० आर्य भाषाओं तथा आधुनिक भा० आ० भाषाओंमें ह्रस्व ऎ, ऒ ध्वनियाँ पाई जाती हैं। वैसे इन ध्वनियोंके लिए रूढ़ लिपि [conventional ortho-

१. Pischel : Prakrit Sprachen, p 61.
२. ibid p 73.
३ ibid p 74.

graphy] में कोई संकेत नहीं पाया जाता। हिन्दीमें इनके लिए प्रायः ऐ, औ लिपिचिह्नोंका ही प्रयोग पाया जाता है, जैसे जाइहे, कैसे को जाइहै, कैसे लिखा जाता है।

हॉर्नलीने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "कम्पेरेटिव ग्रामर गौडियन लेंग्विजेज" में इस बात पर प्रकाश डाला है कि प्राकृतमें ह्रस्व ऎ तथा ऒ अवश्य रहे होंगे। प्राकृतप्रकाशमें इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर हॉर्नलीका अनुमान है कि निद्रा, नीड, शैत्यं, शय्या, सेवा, एक, मुक्ता, यौवनं, त्रैलोक्यं के प्राकृत रूप णेद्दा, णेड्ड, सेच्च, सेज्जा, सेव्वा, एक्क, मोत्ता, जोव्वण, तेलोक्क में प्रथम स्वर ध्वनि ह्रस्व ऎ, ऒ ही हैं। हॉर्नलीका यह अनुमान ठीक है,[1] तथा पिशेलके मतसे भी इसकी पुष्टि होती है।

अपभ्रंशमें ह्रस्व ऎ, ऒ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। हैम व्याकरणमें स्पष्ट रूपसे इसका संकेत करते हुए हेमचन्द्रने बताया है कि व्यञ्जन ध्वनिसे पूर्व होने पर ए, ओ ध्वनियोंका उच्चारण लघु होता है।[2]

य, व-श्रुति :—

संस्कृतमें एक साथ दो स्वर ध्वनियाँ पदमें नहीं पाई जातीं, उनमें संधि हो जाती है, किन्तु यह बात प्राकृतमें नहीं पाई जाती। वहाँ दो स्वर ध्वनियाँ एक साथ भिन्न अक्षर-प्रक्रियाका संपादन करती पाई जाती हैं। हम कुछ संस्कृत शब्दोंके प्राकृत रूप लेते हैं। मयूख, मयूर, आदर, आतप, आकाश, जाया, आकुल, वादयति के प्राकृत रूप मऊह, मऊर, आअर, आअव, आआस, जाआ, आउल, वाएइ है, जहाँ इन पदोंके प्रथम तथा द्वितीय अक्षरोंमें एक साथ [बिना किसी व्यंजनके व्यवधानके] दो

---

1 Hornle Comp Grammar of Gaudian Languages-§ 6 pp 45

२ "कादिस्थैदोतोरुच्चारलाघवम्" —हेमचन्द्र ४।४१०।

स्वर ध्वनियाँ पाई जाती है। यहाँ संस्कृतकी भाँति स्वरसधि नहीं हुई है। [वैसे कई स्थलों पर प्राकृत तथा पालिमे स्वरसधि होती है, पर वह यहाँ हमारा विषय नहीं है।] सभवतः इसका कारण संस्कृत-पदोंके मूल अक्षर-भार [Syllabic weight] को सुरक्षित रखनेकी प्रवृत्ति है। अपभ्रंश कालमें ऐसे कई स्थानों पर य तथा व श्रुति [glide] का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणके लिए संस्कृत नागदत्त, युगल के प्राकृत रूप णाअदत्त, जुअल है, किंतु अपभ्रशमे इनके रूप णायदत्त तथा जुयल पाये जाते हैं। ऐसे अनेको उदाहरण देखे जा सकते है।[1] यहीं नहीं, जैन महाराष्ट्रीमे इनका प्रचुर प्रयोग है तथा मागधी प्राकृतमे भी कुछ स्थानो पर य श्रुतिका प्रयोग पाया जाता है। हॉर्नलीने योजनं के मागधीरूप योयणं को लेकर बताया है कि ज यहाँ पर य हो जाता है। वस्तुतः मागधीमे ज का परिवर्तन य रूपमे नहीं होता। ध्यानसे देखा जाय तो ज का लोप होता है, [कगचजतदपयवां प्रायो लोपः] तथा बादमे स्वरमध्यगत य श्रुतिका प्रयोग होता है। यह श्रुतिप्रयोग इसलिए होता है कि प्राकृत रूप 'योअणं' मे ओ तथा अ मे सधि न हो तथा अक्षर-भार भी अक्षुण्ण बना रहे। अथवा कुछ य-श्रुतिकी उच्चारणवाली विभाषाओंने मागधी प्राकृतको प्रभावित किया होगा। प्राकृतमे व श्रुतिका भी सकेत मिलता है। कात्यायनने बताया है कि कहीं य तथा कहीं व श्रुतिका उच्चारण विकल्पसे पाया जाता है, गअणं-गयणं, सुहओ-सुहवो [सं० गगनं, सुभगः]।[2]

हेमचन्द्रने भी इस श्रुतिके प्रयोगका सकेत किया है। हेमचन्द्रने अपने व्याकरणमे अपभ्रशके सम्बन्धमे य श्रुतिका वर्णन किया है। श्रुतिके संबंधमे ऐसा जान पड़ता है कि किन्हीं विशेष विभाषाओंमे कोई एक श्रुति [य या

---

१. देखिये, मेरा लेख "अन्तःस्थ ध्वनियाँ" [शोधपत्रिका २००६]

२. क्वचिद्यत्वं वा॥ गअणं गयणं वा॥ क्वचिद्वत्वं वा। सुहओ सुहवो वा। [१।१। ४५-४६]

व] का प्रयोग प्रमुख हो जाता है। शौरसेनी अपभ्रंशकी श्रुतिगत विशेषता य–वाली रही होगी। हेमचन्द्रके अनुसार अ या उसके दीर्घ रूप आ के पूर्व तथा पर ध्वनि दोनों होने पर य श्रुतिका प्रयोग होता था, तथा वे बताते हैं कि जहाँ क, ग, च, ज आदिका लोप हो जाता है, वहाँ अ, अ, आ, अ, अ, आ, आ, आं के बीचमें य श्रुतिका प्रयोग होता है। 'य' का उच्चारण 'लघुप्रयत्नतर' होता है।[1] यहाँ हमें 'लघुप्रयत्नतर' शब्दपर विचार करना है। आजके पाश्चात्य ध्वनिशास्त्री श्रुति [glide] को ध्वन्यात्मक तत्त्व [Phonematic element] न मानकर सन्ध्यात्मक तत्त्व [Prosodic element] मानते हैं। सम्भवतः हेमचन्द्रका यही अर्थ है कि इस प्रकारके श्रुतिरूप य का उच्चारण इतना पूर्ण नहीं हो पाता, कि वह य वर्ण [Phoneme] हो सके। यही कारण है कि अपभ्रंशके गयण, णयणं के उच्चारणमें हेमचन्द्रकी साक्षीपर यहाँ केवल ५ ध्वनियाँ [phoneme] ग् [ण], अ, अ, ण, अ ही मानी जा सकती हैं, य को अलगसे ध्वनि मानने पर ६ ध्वनियाँ माननी होंगी। यदि कहीं अपभ्रंशके इस उच्चारणका ध्वनिशास्त्रीय प्रतिलिपीकरण करना हो तो यों होगा।

	स्थूल ध्व० लि०	सू० ध्व० लि०
गयण	gəənə̃	gəʸ∧n∧̃[ᵐ]
णयण	nəənə̃	nəʸ∧n∧̃[ᵐ]

यहाँ स्थूल ध्वन्यात्मक लिपीकरण [broad transcription] में हमने केवल ध्वनियोंको व्यक्त किया है, जब कि सूक्ष्म लिपीकरण [narrow transcription] में एक ओर 'य' [ʸ] श्रुतिको कुछ ऊपर लिखकर उसकी ध्वन्यात्मकता निषिद्ध करते हुए भी उसकी श्रुत्यात्मकता संकेतित की

१ अवर्णो यश्रुति [८।१।८०] तथा इस सूत्रकी टीका कगचजेत्यादिना लुकि सति वर्णे अवर्णः अवर्णात्परो लघुप्रयत्नतरयकारश्रुतिर्भवति ॥

है। साथ ही यहीं अन्तमें [m] के द्वारा अनुनासिकीय उच्चारणकी विशेषताका भी संकेत किया है। इनमें हम 'म्' [m] को अलगसे ध्वनि माननेके पक्षमें न होकर अनुनासिक स्वरकी ही विशेष प्रवृत्ति मानेंगे, जो उसके पदान्त होनेपर सदा पाई जायगी। साथ ही ə उदासीन केन्द्रीय स्वर [central vowel] के पश्च उच्चारणके लिए हमने ʌ चिह्नका प्रयोग किया है।[1]

जहाँ तक 'य' ध्वनिके विकासका प्रश्न है, प्राकृतमें यह ध्वनि शुद्ध संस्कृत ध्वनिके रूपमें विकसित नहीं हुई है, वहाँ संस्कृत पदादि य सदा ज हो जाता है। यदि संस्कृत य स्वरमध्यगत है तो वह प्राकृतमें लुप्त हो जाता है। इस तरह प्राकृतमें संस्कृत य का दुहरा विकास देखा जाता है। प्राकृतमें ही कुछ विभाषाओंमें य श्रुति रही होगी, वही श्रुति आगे जाकर अपभ्रंश भाषाकी खास विशेषता बन बैठी। हम देखते हैं कि जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनीमें 'य'–श्रुतिका प्रयोग पाया जाता है।

आजकी भा० आ० भाषाओंके उच्चारणमें यह श्रुतिगत प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्हीं विशेष भाषाओं या उनकी विभाषाओंमें य श्रुति प्रधान होती है, किन्हींमें व श्रुति। पछाँहमें 'य' श्रुतिकी प्रवृत्ति देखी जाती है, तो पूरबमें 'व' की, पर इसका अर्थ यह नहीं कि पछाँहमें 'व' श्रुति [w-glide] का अभाव है। हम हिंदीसे कुछ शब्द लेकर उनके तीन

---

१. आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस तरहकी सरणि आजकी बोलचालकी भाषाओंमें ही ग्रहण करता है, मृत भाषाओंमें नहीं। यहाँ हमने इस नियमका भंग-सा किया है। हमारा उद्देश्य इस नियम-भंग करनेमें हेमचंद्रके समयके उच्चारणको व्यक्त करना था, इसका साक्षी स्वयं हेम व्याकरण है। साथ ही हम यह नहीं कहते कि ऐसा उच्चारण था ही। हम केवल इतना कहते हैं कि हेमचन्द्रकी साक्षी पर इस तरहका उच्चारण रहा होगा। —लेखक

तरहके उच्चारणको व्यक्त करते है। यहाँ प्रथम उच्चारण शून्य-श्रुति [zero-glide] वाला या साधारण उच्चारण है, द्वितीय य-श्रुतिवाला है, तृतीय व श्रुतिवाला।

शून्य-श्रुति	य श्रुति	व श्रुति
खाए [kha·-e]	खाये [kha^ye]	खावे [kha·^we]
पीए [pı · e]	पीये [pı · ^ye]	पीवे [pı · ^we]
जाए [ɟa·e]	जाये [ɟa ^ye]	जावे [ɟa·^w e]
कुई [kuı]	कुयी [ku^yı][1]	कुवी [ku^wı][1]
सुई [suı]	सुयी[su^yı]	सुवी[su^wı][1]

इस परिच्छेदमें हम केवल उन्हीं परवर्ती विशेषताओंका संकेत कर रहे हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है संस्कृत व्यञ्जनध्वनियोंके विकासको हम बड़े संक्षेपमें लेंगे। इसके पहले कि हम व्यञ्जनोंके विकासपर दो शब्द कहें आ० भा० आ० 'अनुनासिकीकरण' पर कुछ कह देना जरूरी होगा। स्वरोंके नासिक्य रूपको ऐतिहासिक दृष्टिसे दो तरहका माना गया है, १. पराश्रय या सकारण अनुनासिकता, तथा २. निराश्रय या अकारण अनुनासिकता। जहाँ किसी प्रत्यक्ष कारणसे स्वरकी अनुनासिकता पाई जाती है, उसे प्रथम कोटिमें माना जाता है, जैसे **राम, हनुमाना, जामवन्त** के **रॉम, हनुमाँना, जॉमवंत** इन रूपों में। दूसरे ढगकी सानुनासिकता वह है जहाँ प्रत्यक्ष रूपमें कोई अनुनासिक ध्वनि उस पदमें नहीं है, जिसका प्रभाव अनुनासिकीकरणके रूपमें हो। जहाँ अनुनासिकीकरणका कोई कारण विद्यमान न हो, ऐसे निराश्रय अनुनासिकीकरणको व्लॉख तथा

---

१. कुआँ शब्दके स्त्रीलिंग रूपका उच्चारण य तथा व श्रुतिवाला भी सुना जाता है। ठीक यही बात सुई के विषयमें है, पर इसका व वाला उच्चारण बहुत कम सुना जाता है—राजस्थानीकी पूर्वी बोलीमें ये व-श्रुतिवाले रूप यत्र तत्र सुने जा सकते हैं।

टर्नर "स्पोन्टेनियस नेज़ेलाइज़ेशन" कहते हैं।[1] इसके उदाहरण कक्कर, आँख, साँप आदि दिये जा सकते हैं, जहाँ संस्कृत रूपोंमें या इनके प्राकृत रूपोंमें भी अनुनासिक तत्त्व नहीं है :—कर्कर [कक्कर], अक्षि [अक्खि], सर्प [सप्प]। अनुनासिकीकरणका विशेष विवेचन डॉ० सिद्धेश्वर वर्माके निबन्ध 'नेज़ेलाइज़ेशन इन हिंदी लिटरेरी वर्क्स' में देखा जा सकता है, जो कलकत्ता विश्वविद्यालयके डिपार्टमेंट आव् लेटर्स के १९२९ वाले जर्नलमें प्रकाशित हुआ है। मैंने इस विषयपर विस्तारसे अपने अन्य निबन्ध "भारतीय आर्य भाषाएँ तथा अनुनासिक ध्वनियाँ" में विचार किया है, अतः वहाँ द्रष्टव्य है। यह निबन्ध शोधपत्रिका [२००९] में प्रकाशित हुआ है। यहाँ संकेत मात्र दिया गया है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका परवर्ती विकास :—

१. **प्राकृतकालीन विकास** :—[१] संस्कृत न, य, श के अतिरिक्त प्रायः सभी ध्वनियाँ प्राकृत कालमें शब्दोंके आदिमें अपरिवर्तित रही हैं। न, य, श क्रमशः ण, ज, स बन जाते हैं। जधा, णअरं, सेज्जा [यथा, नगर, शय्या]

[२] संस्कृतके पदादि क, प कभी कभी ख, फ हो जाते हैं, खुज्ज [कुब्ज], फणस [पनस] [हि० फालसा]

[३] संस्कृत श, ष, स तीनों शौरसेनी-महाराष्ट्रीमें स तथा मागधीमें श के रूपमें विकसित हुए हैं। सेसो [शेषः]; मागधी, शूपेण [सूपेन]।

[४] पदमध्यवर्ती संस्कृत क, ग, ज, च, त, द, प, य, व का प्राकृतमें

1. Bloch : La formation de la langue Marathe § 70 साथ ही Prof Turner : Gujrati Phonology [RASJ. 1916].

प्राय. लोप हो जाता है।[1] लोअ [लोक], सअल [सकल], अणुराअ [अनुराग], जुअल [युगल], णअर [नगर], पउर [प्रचुर], भोअण [भोजन], रसाअल [रसातल], हिअअ [हृदय], रूअ [रूप], दिअह [दिवस]।

[५] पदमध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ, भ प्राकृतमें प्रायः ह के रूपमें विकसित हुए हैं।[2] मुह [मुख], सही [सखी], मेह [मेघ], लहुअ [लघुक], रुहिर [रुधिर], वहू [वधू], सहर [शफर], अहिणव [अभिनव], णह [नभ, नख]।

[६] कहीं कहीं स्वरमध्यगत व्यञ्जनका द्वित्व भी हो जाता है, उज्ज [ऋजु], एक्क [एक]।

[७] स्वरमध्यगत ट, ठ क्रमश. ड, ढ हो जाते हैं,[3] पड [पट], कुडिल [कुटिल], कुडुम्ब [कुटुम्ब], वड [वट], पढण [पठन]।

---

१ कगचजतदपयवा प्रायो लोप —प्राकृतप्रकाश २।२ [साथ ही] प्राय कगजतदपयवा लोप —प्राकृतसर्वस्व २।२ इस सबधमें इतना सकेत कर दिया जाय कि सस्कृत अघोप-सघोप अल्पप्राण क, ग, च, ज, त, द लुप्त होने के पूर्व एक और विकास स्थितिसे गुजरे होंगे। सभवत. इसमेंसे अघोप अल्पप्राण पहले सघोप अल्पप्राण हुए होंगे, बादमें सभी सघोप अल्पप्राण 'ग, ज, द' सोष्म 'ग़, ज़, द़ होकर तब लुप्त हुए होंगे। इस प्रकार इनका विकास क्रम यों रहा होगा।

लोक > लोग > लोग़ [loɣa] > लोअ,
अनुराग > अणुराग [anuraɣa] > अणुराअ
प्रचुर > पजुर > पज़ुर [pazura] ∠ पउर
रसातल > रसादल > रसाद़ल [rasaðala] ∠ रसाअल
[दे० डॉ० चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ९१]

२ खघथधभा ह — प्रा० प्र० २।२७

[८] स्वरमध्यगत प यदि लुप्त नहीं होता, तो वह व के रूपमें विकसित होता है।[1] रूव [रूप], दीव [दीप], उवरि [उपरि], उवअरण [उपकरण], अवर [अपर] [हि० और]।

[९] संयुक्त व्यंजन ध्वनियोंके परवर्ती विकासकी प्रमुख विशेषतायें ये हैं :—

[क] क, ग, ड, त, द, प, ष, प, स संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि होने पर परवर्ती ध्वनिके समान हो जाते हैं; अर्थात् प्रथम ध्वनिमें समीकरण हो जाता है। जुत्तं [युक्तं], मुद्धं [मुग्ध], खग्गो [खड्गः] उक्कण्ठा [उत्कण्ठा], उप्पलं [उत्पलं], मुग्गो [मुद्ग], सुत्तो [सुप्तः], सद्दो [शब्दः], खुज्जो [कुब्जः], छट्ठो [षष्ठः],

[ख] ल, व, र संयुक्त ध्वनिमें होने पर सदा [लुप्त होकर] समीकृत हो जाते हैं :—वक्कलं [वल्कलं], सुक्को [शुक्रः], बेल्लं [बिल्व], सक्को [शक्रः], अक्को [अर्कः]।

[ग] ष्क-स्क; ष्ट, ष्प [ष्फ], स्त [स्थ], स्प [स्फ] क्रमशः प्राकृतमें क्ख, ट्ठ, प्फ, त्थ प्फ, के रूप में विकसित हुए हैं :—

पोक्खर [पुष्कर],सुक्ख [शुष्क], दिट्ठि [दृष्टि], मुट्ठ [मुष्ठ]; पुप्फ [पुष्प], निप्फल [निष्फल], हत्थ [हस्त], अवत्था [अवस्था], फलिह [स्फटिक], फुसइ [स्पृशति]।

[घ] क्ष, द्य, ह्म, क्रमशः क्ख, ज्ज, म्ह होते हैं :—अक्खि [अक्षि], वेज्जो [वैद्य.], विज्जा [विद्या], बम्हणो [ब्राह्मणः]।

[१०] शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रायः ध्वनिपरिवर्तनकी दृष्टिसे

---

१. पोत.—प्रा० प्रकाश २।१५

समानता ही हैं।[1] मागधी प्राकृतमें कुछ निजी विशेषताएँ हैं, उनका संकेत यहाँ किया जाता है।

[क] मागधीमें श, ष, स तीनोंके स्थानों पर श का विकास हुआ है।—शमल [समर], शुश्क [शुष्क], पुलिशे [पुरुष]।

[ख] मागधीमें र, ल दोनोंका विकास ल के रूपमें पाया जाता है। लाजा [राजा], शमल [समर], पुलिशे [पुरुष.]।

[ग] शौरसेनीकी तरह यहाँ भी स्वरमध्यगत द पाया जाता है :—भविश्शदि [भविष्यति]।

प्राकृत-पद-रचना

प्राकृतमें संस्कृतकी पदरचना सरलताकी ओर बढ़ी। यह सारल्यप्रवृत्ति शब्दों तथा धातुओं दोनोंके रूपोंमें दिखाई पड़ती है। संस्कृतके तीन वचन प्राकृतमें आकर केवल दो ही रह गये हैं। प्राकृतमें केवल एकवचन तथा बहुवचन ही हैं, द्विवचनका वहाँ अभाव है। प्राकृतकी इसी परम्पराका निर्वाह अपभ्रंश तथा आ० भारतीय आर्य भाषाओंमें पाया जाता है।

प्राकृतके प्रातिपादिक अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, आकारान्त, ईकारात, ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] अधिक हैं। संस्कृतके हलन्त प्रातिपदिक यहाँ आकर प्रायः अदन्त हो गये हैं। यही हाल संस्कृतके ऋकारान्त शब्दोंका हुआ है। भत्तार [सं० भर्तृ], माआ [सं० मातृ]। संस्कृत हलन्त

---

१. शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रमुख भेद यह है कि शौरसेनीमें स्वरमध्यगत द लुप्त नहीं होता, आगदो [महा० आगओ, सं० आगतः]। इसी तरह शौरसेनीमें स्वरमध्यगत ध [सं० थ] सुरक्षित रहता है, वह ह नहीं होता। जैसे अध [महा० अह सं० अथ], कधम्, [महा० कहम्, सं० कथम्], णाध [महा० णाह, सं० नाथ]।

शब्दोंका विकास अदन्तोंमें हो गया है :—राश्रा [राजन्], अप्पा, अत्ता, [आत्मन्], वह्मा [ब्रह्मन्]।

प्राकृत कालमे आकर संस्कृत लिंग सुरक्षित रहे है। पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग तीनों प्रकारके रूप वहाँ पाये जाते हैं। किंतु नपुंसक-लिंगोंके रूपोंको देखने पर पता चलता है कि संस्कृतमे ही इनके रूपोंकी बहुत कमी है। प्रथमा-द्वितीया विभक्तिवाले रूपोंको छोड़कर बाकी विभक्तियोंमे ये पुल्लिंग रूपोंमे ही समाहित रहे हैं। प्राकृतने इन नपुंसक शब्दोंके प्रथमा द्वितीया [कर्ता-कर्म] के एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंको सुरक्षित रक्खा है :—वणं, कुसुमं [कर्ता-कर्म एकवचन रूप], वणाइँ, वणाइ, वणाणि; कुसुमाइँ, कुसुमाइ, कुसुमाणि [कर्ता-कर्म बहुवचन रूप]। सिवाय इन दो रूपोंके अन्य सभी रूप पुल्लिंग जैसे पाये जाते हैं। यही कारण है कि अपभ्रंशमे आकर ये नपुंसकलिंग रूप भी लुप्त हो गये हैं। इनमेंसे अधिकतर पुल्लिंग रूप बन गये हैं।

प्राकृत कालमे आकर विभक्तियोंकी भी सरलता पाई जाती है। संस्कृतमे आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं, किन्तु यहाँ चतुर्थीका लोप हो गया है, वह षष्ठीमे सम्मिलित हो गई है। इस प्रकार प्राकृतमे प्रथमा [कर्ता], द्वितीया [कर्म], तृतीया [करण], चतुर्थी षष्ठी [सम्प्रदान-सम्बन्ध], पञ्चमी [अपादान], सप्तमी [अधिकरण] तथा सबोधन ये सात ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। यही नहीं रूपों तथा सुप् विभक्तियोंमे भी बड़ी सरलता हो गई है, तथा सभी पुल्लिंग शब्दोंके रूप प्रायः अकारान्त शब्दोंके रूपोंमे प्रभावित हुए हैं। अकारान्त तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंके षष्ठी ए० व० रूपोंमे जो भेद था, वह लुप्त हो गया, तथा इकारान्त उकारान्त शब्दोंमे वे रूप भी सम्मिलित हो गये—वच्छस्स [वत्सस्य], अग्गिस्स [अग्नेः], अग्गिणो [अग्नेः], वाउस्स [वायोः], वाउणो [वायोः]। इसी तरह अकारान्त पुल्लिंग शब्दोंके तृतीया ए० व० के रूप अन्य शब्दोंकी भाँति हो गये—वच्छेहिं-वच्छेहि [वत्सैः], अग्गीहिं-अग्गीहि [अग्निभिः] वाऊहिं-वाऊहि [वायुभिः]।

इसी प्रकार हलन्त शब्दोंके अजन्तीभूत प्राकृत शब्दोंके रूप भी अकारान्त पुल्लिंग शब्दके रूपोंसे प्रभावित हुए, करेन्तो [कुर्वन्], पुलोअन्तो [प्रलोकयन्]।

स्त्रीलिंग आ, ई, ऊ अन्तवाले शब्दोंमें रूपोंकी समानता पाई जाती है। प्रथमा [कर्ता] बहुवचनमें सभीमें तीन तरहके रूप पाये जाते हैं; [१] शून्य अविकारी रूप, [२] ओ-विभक्ति चिह्नवाला रूप, [३] उ विभक्ति चिह्नवाला रूप, यथा माला, मालाओ, मालाउ, नई, नईओ, नईउ, वहू, वहूओ, वहूउ, माआ, माआओ, माआउ, [संस्कृत मालाः, नद्य, वध्व, मातर]। स्त्रीलिंग शब्दोंके सुप् विभक्ति चिह्न दो तीन रूपोंको छोड़कर प्रायः वे ही हैं, जो पुल्लिंग रूपोंके। प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपों [जिनका उदाहरण अभी-अभी दिया गया है] के अतिरिक्त षष्ठी [सम्बन्ध-सम्प्रदान] ए० व० के रूप भी स्त्रीलिंग शब्दोंमें भिन्न हैं। सबंध कारक ए० व० में स्त्रीलिंग रूपोंके चिह्न इ, ए, उ, अ, आ कई देखे जा सकते हैं :—वहूइ, वहूए, वहूउ, वहूअ, वहूआ [सं० वध्वाः]। स्त्रीलिंग शब्दोंके तृतीया [करण] ए० व०, तथा सप्तमी [अधिकरण] ए० व० के रूप भी प्रायः ये ही होते हैं। यही कारण है कि स्त्रीलिंग रूपोंमें करण, सम्प्रदान, संबंध तथा अधिकरण चारोंके एकवचन एक ही हैं। द्वितीया [कर्म] ए० व० के रूपोंमें प्रातिपदिककी अन्तिम स्वरध्वनिको ह्रस्व बनाकर 'म्' विभक्तिचिह्न प्रयुक्त होता है :—माल [सं० मालां], नइं [सं० नदीं], वहुं [सं० वधूं]।

संस्कृतके सर्वनाम रूपोंमें अस्मत्-युष्मत् शब्दोंके रूपोंमें कई तरहके परवर्ती विकास देखे जाते हैं। अहं का विकास हं, अहं, अहअं, तथा त्वं का विकास तं, तुमं, तु इन वैकल्पिक रूपोंमें देखा जाता है। कर्ता बहुवचन में क्रमशः अम्हे [शौर० वअं], तुज्झे-तुम्हे रूप पाये जाते हैं। अन्य कारकोंके ए० व० तथा बहुव० में इन दोनों शब्दोंमें अनेक वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। इनमें कई तो संस्कृतका प्रभाव है, कई अकारान्त पुल्लिंग

शब्दोंका प्रभाव है, यथा—मइ, मए, ममम्मि, ममस्सि [सं० मयि], मत्तो, मइत्तो, ममादो, ममादु, ममाहि [स० मत्]। इसी तरह युष्मत् शब्दके रूपोंका भी वैकल्पिक विकास देखा जा सकता है।

संज्ञा तथा सर्वनाम रूपोंकी अपेक्षा प्राकृत क्रियारूपोंमें अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है। जिस प्रकार प्रातिपदिक रूपोंके अंतमें एकरूपता लानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। संस्कृत धातुओंमें अंतमें व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जाती हैं। प्राकृतमें आकर ये सभी धातु स्वरान्त हो गये हैं। इस प्रकार संस्कृतके दस गणोंका भेद यहाँ आकर लुप्त होने लगा है, और अपभ्रंशमें आकर तो केवल एक ही गण रह गया है। बादमें प्रायः सभी धातु रूप भ्वादिगणी बन गये हैं। शब्द रूपोंके साथ ही साथ धातु रूपोंमें भी द्विवचन लुप्त हो गया है। आत्मनेपदी रूपोंका प्रायः अभाव हो गया है। इसी प्रकार लिट् तथा लङ् भी धीरे धीरे लुप्त हो गये हैं, तथा उनके लिए प्रायः कृदन्त रूपोंका प्रयोग होने लगा है। इस प्रकार मोटे तौर पर प्राकृतमें लट् [वर्तमान काल], लोट् [आज्ञात्मक], लृट् [भविष्यत्] रूपों तथा यदा कदा लिङ् [विधिरूप] का अस्तित्व पाया जाता है। इसके साथ ही प्राकृतमें कर्मवाच्य भी रूप देखे जा सकते हैं, जिनका विकास संस्कृतके 'य' वाले रूपोंमें माना जा सकता है। ये कर्मवाच्य रूप भी प्राकृतमें आकर प्रायः परस्मैपदी हो गये हैं :—दिज्जइ-दिज्जहि [सं० दीयते]; गमीअदि [शौ०], गच्छीअदि [शौ०], [सं० गम्यते] प्राकृत धातुरूपोंमें संस्कृत णिजन्त रूपोंके –अय– का विकास –ए– रूपमें देखा जाता है; हासेइ [हासयति], णिव्वावेदि [निर्वापयति]।

प्राकृतमें वर्तमान काल तथा भविष्यत् कालके तिङ् चिह्न एकसे ही हैं। ठीक यही बात संस्कृतमें पाई जाती है। वैसे भविष्यत्के रूप उसीके स्य विकरणवाले रूप हैं। यह स्य प्राकृतमें आकर स्स हो गया है। वर्तमानके पढदि-पढइ, पढसि, पढामि, पढन्ति, पढध, पढामो तथा

भविष्यत्के **पढिस्सदि-पढिस्सइ, पढिस्ससि, पढिस्सामि, पढिस्सन्ति, पढिस्सध, पढिस्सामो** रूप बनते हैं। लोट्में **पढदु, पढ, [पढामु], पढन्तु, पढध, पढम्ह** रूप पाये जाते है।

संस्कृतके शतृ प्रत्ययान्त रूप प्राकृतमें आकर '–न्तो' वाले रूप बन गये हैं:—**पुच्छन्तो, पढन्तो**। इसी तरह संस्कृतके शानच् वाले रूप प्राकृतमें **पुच्छमाणो, पुच्छिस्समाणो** [स्यमान] हो गये हैं। संस्कृतके तुमुन् का विकास उ [दु] के रूपमें पाया जाता है। **कहिउ-कहिदुं** [कथयितु]। संस्कृत त्वाका विकास प्राकृतमे नहीं पाया जाता। यहाँ अनुपसर्ग तथा सोपसर्ग दोनोंमें शौरसेनीमें अ तथा महाराष्ट्रीमें ऊण प्रत्यय पाया जाता है। शौरसेनी अ संस्कृत 'य' [ल्यप्] का ही विकास है। संस्कृत **पृष्ट्वा, गृहीत्वा** के प्राकृत रूप **पुच्छिअ-पुच्छिऊण** [महाराष्ट्री], **घेत्तूण** होते हैं।

भूतकालके लिए प्राकृतमें कृदन्त रूपोंसे भी काम लिया जाता है। प्राकृतप्रकाशके सप्तम परिच्छेदमें प्राकृत धातुके भूतकालिक आदेशोंका संकेत मिलता है :—

१ **ईअ भूते**॥ [भूतकालमे धातुमें तिङ् प्रत्ययको ईअ आदेश होता है]।

२ **एकाचो हीअ**॥ [एक स्वर धातुमे भूतकालके तिङ् प्रत्ययको हीअ आदेश होता है]।

३ **अस्तेरासि**॥[1] [अस् धातुको भूतकालिक रूप आसि होता है।] समग्र रूपमे देखनेपर पता चलता है कि ये वस्तुतः क्त प्रत्ययान्त रूपोंके ही विकास है। **हुवीअ** [अभवत्], **हसीअ** [अहसत्] **होहीअ** [अभूत्] को वस्तुत भूत, हसित, भूत का ही विकास माना जा सकता है। इसी तरह आसि को भी अस्त. [*आसितः] का विकसित रूप माना जा सकता है पर इसे आसीत् से भी विकसित समझा जा सकता है—आसीत्–आसी [आसि]।

---

१. प्राकृतप्रकाश ७।२३, ७।२४, ७।२५।

अपभ्रंश कालकी प्रमुख विशेषताएँ

अपभ्रंश कालमें स्वरध्वनियाँ प्रायः अविकृत रही हैं। यदि उनमें विकार हुआ है, तो वह प्रातिपदिकोंके अन्तमें स्थित स्वरोंमें पाया जाता है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यही कारण है, हेमचन्द्रने यह कहा है कि स्वरोंके स्थानपर प्राकृतमें प्रायः स्वर ही पाये जाते हैं।[1] स्वरध्वनियोंमें अपभ्रंशमें भी प्राकृतकी भाँति ही संस्कृत ऋ, ऐ, औ ध्वनियोंका सर्वथा अभाव है तथा वे क्रमशः अ-इ-उ, ए, ओ के रूपमें विकसित हो गये हैं। वैसे वैयाकरणोंने अपभ्रंशमें ऋ ध्वनिका अस्तित्व माना है। प्राकृतवाले ह्रस्व ऍ, ऑ का विकास अपभ्रंशमें भी पाया जाता है। व्यंजन ध्वनियोंमें अपभ्रंशमें संस्कृतकी ट, ज, ग, प ध्वनिके अतिरिक्त अन्य सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इस भाषाके ध्वनिगत विकासकी खास विशेषता स्वरमध्यग म० म का वँ वाला विकास है :—कवँल [कमल], गवँण [गमन]। वँ का विकास हम अपभ्रंशके परवर्ती रूपोंमें प्राचीन हिन्दीमें भी देख सकते हैं, राजस्थानीमें यह वँ ध्वनि अभी भी पाई जाती है।

अपभ्रंश तक आकर प्रातिपदिकोंका लिंगविधान और सरल हो गया। यहाँ पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग रूपोंका बाहुल्य है, नपुंसक लिंग रूपोंका प्रायः लोप हो गया। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके पदान्त आ के ह्रस्व अ होनेसे वे रूपोंकी दृष्टि से वे पुल्लिंग अकारांत शब्दोंका अनुकरण करने लगे। अपभ्रंशमें आकर सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये। इस प्रवृत्तिका आधिक्य प्राकृतकालमें ही हो चला था, जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं, अपभ्रंशमें आकर प्रातिपदिकोंके पदान्त आ, ए, ओ क्रमशः अ, इ, उ हो गये। माअ [प्राकृत माआ, संस्कृत माता], कण्हु [प्राकृत कण्हो, संस्कृत कृष्णः]। अपभ्रंशमें कर्ता कर्म ए० व० में उ प्रयुक्त होता है जो अपभ्रंशकी खास विशेषता बन बैठा। इसीलिये अपभ्रंश 'उकार-बहुला भाषा' कहलाने

1. स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे। ८।४।३२९ [हेम व्याकरण]।

लगी। कर्ता-कर्म कारक ए० व० में इस प्रकारके रूपोंका सकेत हेमचन्द्रने भी किया है :—दहमुहु, सकरु, चउमुहु, छमुहु [दशमुख, शकर., चतुर्मुख, षण्मुख][1]।

अपभ्रश तक आते आते सस्कृतकी सुप् विभक्तियाँ परसर्गोंका रूप लेने लगी और अपभ्र शमें कई विभक्ति रूप समाप्त हो गये। सबध कारकके लिए केरक, केर, केरा करण कारकके लिए सो, सजो, सहुँ, सम्प्रदानके लिए केहि, तथा अधिकरणके लिए मॉंझ, उप्परि जैसे परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। अन्य विभक्तियोंमे पुल्लिग तथा स्त्रीलिगके रूपोंमें भी समानता सी हो चली। कर्ता-कर्म एकवचन, कर्ता-कर्म बहुवचनमें दोनों जगह कहीं कहीं उ विभक्ति चिह्न प्रयुक्त होने लगा, तथा कभी-कभी कर्ता कारक ए० व० में केवल प्रातिपदिक रूप [शून्य विभक्तिवाले रूप] का प्रयोग होने लगा, जो हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंके अविकारी [direct] रूपोंके रूपमें विकसित हुआ। अन्य कारकोंमें एण, एँ, [करण], हुँ, हे [अपादान] हे, हो, सु, स्स [सबध], हि [अधिकरण] सुप् चिह्न एकवचन रूपोंमे तथा ह [सप्रदान, अपादान, सबध, अधिकरण], हो [सबोधन] बहुवचन रूपोंमे पाये जाते है। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रश तक आते आते बहुवचनके रूप बहुत सरल हो गये।

सस्कृतके तिङन्त रूप जिनका थोड़ा बहुत शेष प्राकृतकालमे बच गया था, अपभ्र श कालमे और लुप्त हो गया। तिङन्तोंके भाव बोधनके लिए अपभ्र शके कृदन्त प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। वर्तमान तथा भविष्यत्ने तिङन्त तद्भव रूपोंको थोड़ा बहुत सुरक्षित रक्खा बाकीमे कृदन्तोसे काम लिया जाने लगा। सस्कृत धातुओंमेसे कईके लिए नये आदेश हो गये, यथा, बोल्ल [√वद्], मुक्क-मुग्ग [√मुच्], चय्र [√शक्]।

अपभ्र शमे परस्मैपद ही पाया जाता है। हम प्राकृतमे ही आत्मनेपदका अभाव देखा चुके है। उत्तम पुरुष एकवचन तथा बहुवचनमे

1. हेमव्याकरण ८।४।३३१।

अपभ्रंशमें क्रमशः 'उं' तथा 'हुं' तिङ् विभक्ति पाई जाती है[1] :—'हउं भणउ' [अहं भणामि], अम्हे भणहुं [वयं भणामः]। अन्यरूपोंमें प्रायः वे ही तिङ् चिह्न पाये जाते हैं, जो प्राकृतमें हैं—सि–हि [मध्यम पुरुष], इ, अंति, अइं [अन्य पुरुष]। भविष्यत् कालके रूप वर्तमान कालके तिङ् चिह्नोंवाले ही होते हैं :—जाहि [यास्यसि], फलहि [फलिष्यन्ति], कुणहिं [करिष्यन्ति], होसि [भविष्यसि]। भूतकालके रूपोंमें केवल आसी [आसीत्] को छोड़कर प्रायः सभी भूतकालिक रूप कृदन्तोंमें विकसित हैं[2]।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राकृत कालमें संस्कृतके विभक्तिरूप किसी सीमा तक सुरक्षित रहे। यही कारण है कि प्राकृतकालमें वाक्यरचनाके सम्बन्धमें संस्कृतकी परिपाटीका प्रयोग पाया जाता है। अपभ्रंश कालमें आकर शब्दोंके विभक्तिज रूप बहुत कम काममें आने लगे तथा संबन्ध-बोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग किया जाने लगा। फलतः वाक्यमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके लिए एक निश्चित स्थान रह गया। हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंकी निश्चित वाक्यरचनाके विकासके चिह्न हम अपभ्रंश कालमें ही देख सकते हैं।

आ० भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संस्कृतकी स्वर तथा व्यंजन ध्वनियोंका परवर्ती विकास हम देख चुके हैं। प्रायः वे ही ध्वनियाँ परवर्ती भाषाओंमें विकसित पाई जाती हैं। फिर भी कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। स्वरोंके उच्चारणमें बंगालीमें अ का उच्चारण लुंठित निम्न-मध्य पश्च प्रकृतिका पाया जाता है। अन्य भाषाओंमें इसका उच्चारण प्रायः उदासीन स्वर [ə] सा पाया जाता है। इसके भी अग्र तथा पश्च दो रूप पाये जाते हैं। हिन्दीमें द्व्यक्षर या अधिक

---

1. मार्कण्डेयः प्राकृत सर्वस्व १७।५७ [पृष्ठ ११८]
2. डॉ० हीरालाल जैनः सावयधम्म दोहा [भूमिका] पृष्ठ २६

अक्षरवाले [monosyllbale] शब्दोंमें इस स्वरका अग्ररूप प्रायः एक ही [अधिकतर पहले अक्षरमें ही] अक्षरमें पाया जाता है, अन्य अक्षरमें उसका पश्च रूप ही पाया जाता है। उदाहरणके लिए कमर, कसर, करवट, करम में प्रथम उदासीन स्वरका उच्चारण अग्र प्रकृतिका [ə] है, जब कि बादके अक्षरवाले स्वरका उच्चारण पश्च प्रकृति [ʌ] का है। त्र्यक्षर शब्द करवट का उच्चारण द्व्यक्षर रूपमें कर्वट भी होता है। प्रथम उच्चारण करने पर र तथा व दोनोंका परवर्ती स्वर पश्च प्रकृतिका [ʌ] ही है। यहीं यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जहाँ संस्कृतमें अन्तमें 'अ' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ हिन्दीमें उसका उच्चारण नहीं होता। राम, आम्र, काम का हिन्दीमें राम्, आम्, काम् रूप देखा जाता है। वैसे जिन भाषाओंमें पदान्तमें ळ, ड, ण ध्वनि पाई जाती है, वहाँ उसके बाद 'अ' श्रुति [ə-glide] का उच्चारण पाया जाया है। राजस्थानीमें इस श्रुतिका प्रयोग काळ, हाड, काण जैसे शब्दोंके उच्चारणमें होता है। पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानीमें ध्वन्यात्मक समानताएँ अधिकतर पाई जाती है। व्यञ्जन ध्वनियोंमें पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी तथा मागधी वर्ग [उड़ियाको छोड़कर] मे केवल दो ही अनुनासिक ध्वनियाँ [न, म] पाई जाती हैं, जब कि राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, मराठी, पहाड़ी तथा उड़ियामे ण ध्वनि भी पाई जाती है। राजस्थानी, गुजराती, मराठीकी भाँति उड़ियामें ळ [उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित ल] का स्वरमध्यगत रूप भी पाया जाता है[1]। पश्चिमी हिन्दी राजस्थानी तथा गुजरातीमें, तथा पूर्वी हिन्दी [मैथिलीमें भी] 'ड' का स्वर मध्यगत 'ड़' रूप भी पाया जाता है। चवर्ग ध्वनियोंका उच्चारण सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें सोष्म स्पर्श या घर्ष स्पर्शके रूपमें होता है। इनका उच्चारण कुछ त्श्, त्श्ह्, द्ज्, द्ज़्ह् जैसा होता है। मराठीमे इनका उच्चारण इस तरहका वर्त्स्य घर्ष [alveolar affricate] न होकर दन्त्य घर्ष [dental affricate]—त्स्, द्ज़् जैसा होता है। मराठीका

1 क्या उड़िया पर यह मराठीका प्रभाव तो नहीं।

यह प्रभाव राजस्थानकी डूंगरपुर, बासवाडा, प्रतापगढकी मालवीमें तथा मेवाडीकी कुछ बोलियोंमें देखा जाता है। भीलोंमे भी च, ज का उच्चारण दन्त्य घर्ष ही होता है।

प्राकृत तथा अपभ्रंशके द्वित्ववाले रूपोंमें आ० भा० आ० भाषाओंमें पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी रक्षा की जाती है। सं० कर्म, अद्य, अष्ट के हिंदी रूप काम [∠कम्म], आज [∠अज्ज], आठ [∠अट्ठ] पाये जाते हैं। पंजाबीमें इनके रूप कम्म, अज्ज, अट्ठ ही पाये जाते हैं। इसी तरह सं० बुभुक्षा का हिंदी रूप भूख [∠बुभुक्खा—भुक्खा—भुक्ख] होता है, जब कि पंजाबीमें यह पुं'क्ख [बुक्ख] मिलता है। हम बता चुके हैं कि सिंधी, लॅंहदा तथा पंजाबी पर पैशाचीका कुछ कुछ प्रभाव पाया जाता है। काश्मीरीमें संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनियोंका सघोष अल्पप्राणरूप देखा जाता है। पंजाबीके लिए अब तक विद्वानोंका यह मत है कि सं० हिं० घ, झ, ढ, ध, भ ध्वनियाँ वहाँ क, च, ट, त, प हो जाती है, यथा घोडा, झूठ, भाइ, भरम वहाँ को'डा, चूं'ट, पा'ई, प'रम हो जाते हैं। पर कुछ नवीन पाश्चात्य विद्वानों[1] का यह मत है कि असलमें संस्कृत या हिन्दी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ पंजाबीमें शुद्ध अघोष अल्पप्राण नहीं होती। वस्तुतः ये सघोष अल्पप्राण ही होती हैं, तथा महाप्राण रूपोंके कारण इनका अघोषीभूत [devoiced] रूप देखा जा सकता है। यही कारण है, वे ऊपरकी क, च, प ध्वनियोंको ग, ज, ब, का ही अघोषीभूतरूप मानते हैं, तथा ग़, ज़, ब़ [g̥, j̥, b̥] लिखना ज्यादा ठीक समझते हैं।

संस्कृतमें जहाँ संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि नासिक्य व्यञ्जन तथा द्वितीय केवल व्यञ्जन होती है, वहाँ सिंधी पंजाबीको छोड़कर सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें नासिक्य व्यञ्जन ध्वनि लुप्त हो जाती है तथा पूर्ववर्ती

---

१. लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल ऑव् ओरियन्टल स्टडीजमें भाषा-विज्ञानके अध्यापक डॉ० डब्ल्यू एस० एलनका यही मत है।

अक्षरवाले [monosyllbale] शब्दोंमें इस स्वरका अग्ररूप प्रायः एक ही [अधिकतर पहले अक्षरमे ही] अक्षरमें पाया जाता है, अन्य अक्षरमें उसका पश्च रूप ही पाया जाता है। उदाहरणके लिए **कमर, कसर, करवट, करम** में प्रथम उदासीन स्वरका उच्चारण अग्र प्रकृतिका [ə] है, जब कि बादके अक्षरवाले स्वरका उच्चारण पश्च प्रकृति [ʌ] का है। त्र्यक्षर शब्द **करवट** का उच्चारण द्व्यक्षर रूपमें **कर्वट** भी होता है। प्रथम उच्चारण करने पर **र** तथा **व** दोनोंका परवर्ती स्वर पश्च प्रकृतिका [ʌ] ही है। यहाँ यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जहाँ सस्कृतमें अन्तमें 'अ' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ हिन्दीमें उसका उच्चारण नहीं होता। **राम, आम्र, काम** का हिन्दीमे **राम्, आम्, काम्** रूप देखा जाता है। वैसे जिन भाषाओंमें पदान्तमे ळ, ड, ण ध्वनि पाई जाती है, वहाँ उसके बाद 'अ' श्रुति [ə-glide] का उच्चारण पाया जाया है। राजस्थानीमें इस श्रुतिका प्रयोग **काळ, झाड, काण** जैसे शब्दोंके उच्चारणमें होता है। पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानीमें ध्वन्यात्मक समानताएँ अधिकतर पाई जाती हैं। व्यञ्जन ध्वनियोंमे पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी तथा मागधी वर्ग [उड़ियाको छोड़कर] मे केवल दो ही अनुनासिक ध्वनियाँ [न, म] पाई जाती हैं, जब कि राजस्थानी, गुजराती, पजाबी, मराठी, पहाड़ी तथा उड़ियामें ण ध्वनि भी पाई जाती है। राजस्थानी, गुजराती, मराठीकी भाँति उड़ियामें ळ [उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित ल] का स्वरमध्यगत रूप भी पाया जाता है[1]। पश्चिमी हिन्दी राजस्थानी तथा गुजरातीमें, तथा पूर्वी हिन्दी [मैथिलीमें भी] 'ड' का स्वर मध्यगत 'ड़' रूप भी पाया जाता है। चवर्ग ध्वनियोंका उच्चारण सभी आ० भा० आ० भाषाओंमे सोष्म स्पर्श या घर्ष स्पर्शके रूपमे होता है। इनका उच्चारण कुछ त्श्, त्श्ह्, द्ज़्, द्ज़्ह् जैसा होता है। मराठीमे इनका उच्चारण इस तरहका वर्त्स्य घर्ष [alveolar affricate] न होकर दन्त्य घर्ष [dental affricate]—त्स्, द्ज़् जैसा होता है। मराठीका

१ क्या उड़िया पर यह मराठीका प्रभाव तो नहीं।

यह प्रभाव राजस्थानकी डूंगरपुर, बांसवाडा, प्रतापगढकी मालवीमें तथा मेवाडीकी कुछ बोलियोंमें देखा जाता है। भीलीमें भी च, ज का उच्चारण दन्त्य घर्ष ही होता है।

प्राकृत तथा अपभ्रंशके द्वित्ववाले रूपोंमें आ० भा० आ० भाषाओंमें पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी रक्षा की जाती है। सं० कर्म, अद्य, अष्ट के हिंदी रूप काम [∠कम्म], आज [∠अज्ज], आठ [∠अट्ठ] पाये जाते हैं। पंजाबीमें इनके रूप कम्म, अज्ज, अट्ठ ही पाये जाते हैं। इसी तरह सं० बुभुक्षा का हिंदी रूप भूख [∠बुभुक्खा—भुक्खा—भुक्ख] होता है, जब कि पंजाबीमें यह पु'क्ख [बुक्ख] मिलता है। हम बता चुके हैं कि सिंधी, लॅंहदा तथा पंजाबी पर पैशाचीका कुछ कुछ प्रभाव पाया जाता है। काश्मीरीमें संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनियोंका सघोष अल्पप्राणरूप देखा जाता है। पंजाबीके लिए अब तक विद्वानोंका यह मत है कि सं० हि० घ, झ, ढ, ध, भ ध्वनियाँ वहाँ क, च, ट, त, प हो जाती हैं, यथा घोडा, झूठ, भाइ, भरम वहाँ को'डा, चू'ट, पा'ई, प'रम हो जाते हैं। पर कुछ नवीन पाश्चात्य विद्वानों[1] का यह मत है कि असलमें संस्कृत या हिन्दी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ पंजाबीमें शुद्ध अघोष अल्पप्राण नहीं होती। वस्तुतः वे सघोष अल्पप्राण ही होती हैं, तथा महाप्राण रूपोंके कारण उनका अघोषीभूत [devoiced] रूप देखा जा सकता है। यही कारण है, वे ऊपरकी क, च, प ध्वनियोंको ग, ज, ब, का ही अघोषीभूतरूप मानते हैं, तथा ग़, ज़, ब़ [g̥, j̥, b̥] लिखना ज्यादा ठीक समझते हैं।

संस्कृतमें जहाँ संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि नासिक्य व्यञ्जन तथा द्वितीय केवल व्यञ्जन होती है, वहाँ सिंधी पंजाबीको छोड़कर सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें नासिक्य व्यंजन ध्वनि लुप्त हो जाती है तथा पूर्ववर्ती

---

1. लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल ऑव् ओरियन्टल स्टडीजमें भाषाविज्ञानके अध्यापक डॉ० डब्ल्यू० एस० एलनका यही मत है।

जोड़कर या फिर षष्ठी बहुवचनसे बने परसर्ग 'अन' 'अनि' [सं० ∠आनाम्] जोडकर बहुवचनका बोध कराया जाता है; लोगनि, घोडवन [भोजपुरी]। पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, सिंधी, मराठीने संस्कृत बहुवचन रूपोंका सर्वथा लोप न कर निजी विकास किया है :—रात [रात्रिः], रातें [रात्रयः]; बात [वार्ता], बातें [∠*वार्तानि] [रा० वातॉं ∠*वार्तानि]। कारी रूपोंमें पश्चिमी हिंदी [खड़ी बोली तथा उसकी विभाषाओं] में ने, को, से, का [के, की], में इत्यादि परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमी राजस्थानीमें का के स्थानपर रो [रा, री], पञ्जाबीमें दा [दे, दी], गुजरातीमें नो, [ना, नी] तथा मराठीमें चा [चे, ची] पाया जाता है। पूर्वी भाषाओंमें संबंध कारकके लिए क, केर, एर का प्रयोग होता है।

आ० भा० आ० भाषाओंके क्रिया रूप सीधे संस्कृत तिङन्तोंसे नहीं आये हैं। इनके विकासमें संस्कृत कृदन्तोंका बहुत हाथ रहा है। हिन्दीके वर्तमान कालिक क्रिया रूप कृदन्त "अन्त" [अत्] से विकसित हुए हैं। कृदन्त रूपोंके साथ सहायक क्रिया "है" जोड़कर वर्तमानकालका बोध कराया जाता है। हिन्दीका वह खाता है संस्कृतके स खादन् [*खादन्त] भवति से विकसित कहा जा सकता है। इसी तरह हिन्दीके भूतकालके रूप संस्कृतके त [इत] वाले निष्ठाप्रत्ययरूपोंसे विकसित हुए हैं। यही कारण है कि हिंदीमें जहाँ संस्कृतके कर्मवाच्यरूपोंका विकास हुवा है, वहाँ कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग पाया जाता है, जब कि भाववाच्यसे विकसित रूपोंमें इस परसर्गका प्रयोग नहीं होता—उसने रोटी खाई [तेन रोटिका खादिता], वह सोया [स शयितः]। हिंदीके भविष्यत् रूपोंमें 'गा' [गे, गी] वस्तुतः संस्कृत √गम के क्तप्रत्ययांत रूप गत. का विकास है। पश्चिमी आ० भा० आ० में से कुछने संस्कृतके भविष्यत् रूपोंसे भी स्वतन्त्र विकास हुआ है। राजस्थानीमें तीन तरहके भविष्यत् रूप पाये जाते हैं। पढैंगो [phədə: go], पढसी, पढैलो [phədə: lo]; इनमें द्वितीय रूपका विकास पठिष्यति—पढिस्सइ →पढसी [गु० पढशी] यों माना जा सकता है। तीसरा भविष्यत्

स्वरध्वनि दीर्घ सानुनासिक बना दी जाती है.—दन्त [हि० दाँत], कण्टक [हि० काँटा], √कम्प् [हि० काँपना]। सिंधी-पंजाबीमें इनके दन्द, कण्डो, कम्ब रूप मिलते हैं।

आ० भा० आ० भाषाओंमें ध्वनियोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पदरचनामें हुआ। हम देख चुके हैं कि प्राकृतसे भी अधिक पदरचनात्मक सरलता अपभ्रंशमें पाई जाती है। अपभ्रंशकी इसी विशेषताको आ० भा० आ० भाषाओंने ग्रहण किया है। आ० भा० आ० भाषाओंमें नपुंसक लिंग सर्वथा लुप्त हो गया। यदि कहीं इसके कुछ चिह्न मिलते हैं, तो गुजराती व मराठी में। गुजरातीमें इसका चिह्न उँ है, यथा घणुँ खाद्युँ में नपुंसक रूप ही है। नपुंसकलिंगके सर्वथा लुप्त होनेसे कई नपुंसक शब्द जो एक भाषामें पुल्लिंग बने हैं, इतर भाषामें स्त्रीलिंग बन गये। पुस्तक शब्द बँगलामें पुल्लिंग है, तो पश्चिमी हिंदीमें स्त्रीलिंग। किंतु पुल्लिंग स्त्रीलिंगमें भी संस्कृतवाला लिंग विचार नहीं रहा है। हिंदीमें तो अ कारान्त पुल्लिंग है, आ-ई, उ अन्तवाले प्रायः स्त्रीलिंग माने जाते हैं, वैसे इस नियमके कई अपवाद भी देखे जा सकते हैं। अग्नि, आत्मा, मृत्यु जैसे पुल्लिंग शब्द भी हिंदीके रूपोंमें स्त्रीलिंग आग, मीचु, आत्मा बन गये हैं।

अपभ्रंशमें ही सम्बन्धबोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग होने लगा था, फिर भी वहाँ कुछ तिङ् चिह्न बचे रह गये थे। आ० भा० आ० भाषाओंमें उनका भी लोप हो गया। इस तरह संस्कृतकी आठ विभक्तियाँ यहाँ आकर केवल दो ही रूपोंमें रह गई :—

[१] प्रातिपादिक रूप [direct form] या कर्ता कारकके रूप।

[२] तिर्यक् रूप [oblique form] या अप्रधान कारक रूप।

आ० भा० आ० भाषाओंमें परसर्ग इन्हीं तिर्यक् रूपोंके साथ प्रयुक्त होते हैं। कर्ता कारक एकवचन तथा बहुवचनके रूप पूर्वी भाषाओंमें एक ही हैं, और इस प्रकार उनके साथ बहुवचन वाचक जन, सकल जैसे शब्द

जोड़कर या फिर षष्ठी बहुवचनसे बने परसर्ग 'अन' 'अनि' [सं० ∠आनाम्] जोड़कर बहुवचनका बोध कराया जाता है; लोगनि, घोड़वन [भोजपुरी]। पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, सिंधी, मराठीने संस्कृत बहुवचन रूपोंका सर्वथा लोप न कर निजी विकास किया है :—रात [रात्रिः], रातीं [रात्रयः]; बात [वार्ता], बातें [∠*वार्तानि] [रा० बातों ∠*वार्तानि]। कारकी रूपोंमें पश्चिमी हिंदी [खड़ी बोली तथा उसकी विभाषाओं] में ने, को, से, का [के, की], में इत्यादि परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमी राजस्थानीमें का के स्थानपर रो [रा, री], पञ्जाबीमें दा [दे, दी], गुजरातीमें नो, [ना, नी] तथा मराठीमें चा [चे, ची] पाया जाता है। पूर्वी भाषाओंमें संबंध कारकके लिए क, केर, एर का प्रयोग होता है।

आ० भा० आ० भाषाओंके क्रिया रूप सीधे संस्कृत तिङन्तोंसे नहीं आये हैं। इनके विकासमें संस्कृत कृदन्तोंका बहुत हाथ रहा है। हिन्दीके वर्तमान कालिक क्रिया रूप कृदन्त "अन्त" [अत्] से विकसित हुए हैं। कृदन्त रूपोंके साथ सहायक क्रिया "है" जोड़कर वर्तमानकालका बोध कराया जाता है। हिन्दीका वह खाता है संस्कृतके स खादन् [*खादन्त] भवति से विकसित कहा जा सकता है। इसी तरह हिन्दीके भूतकालके रूप संस्कृतके त [इत] वाले निष्ठाप्रत्ययरूपोंसे विकसित हुए हैं। यही कारण है कि हिंदीमें जहाँ संस्कृतके कर्मवाच्यरूपोंका विकास हुआ है, वहाँ कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग पाया जाता है, जब कि भाववाच्यसे विकसित रूपोंमें इस परसर्गका प्रयोग नहीं होता—उसने रोटी खाई [तेन रोटिका खादिता], वह सोया [स शयितः]। हिंदीके भविष्यत् रूपोंमें 'गा' [गे, गी] वस्तुतः संस्कृत √गम के क्तप्रत्ययांत रूप गत. का विकास है। पश्चिमी आ० भा० आ० में से कुछका संस्कृतके भविष्यत् रूपोंसे भी स्वतन्त्र विकास हुआ है। राजस्थानीमें तीन तरहके भविष्यत् रूप पाये जाते हैं। पढ़ेगो [pṛhəɖə: go], पढ़सी, पढ़ैलो [pṛhəɖə: lo]; इनमें द्वितीय रूपका विकास पठिष्यति—पढिस्सइ →पढसी [गु० पढशे] यों माना जा सकता है। तीसरा भविष्यत्

रूप ग्रियर्सनके मतानुसार राजस्थानीको विदेशी जातियों [गुर्जरों] की देन है। पूरबकी आ० आ० भाषाओंमें से कईने वर्तमान रूप सीधे संस्कृत-प्राकृतसे विकसित किये हैं। वैसे भूतकालके रूप वहाँ भी कृदन्तरूपोंसे ही विकसित हुए हैं। किन्तु वहाँ ये 'ल' प्रत्ययसे युक्त पाये जाते हैं। बिहारी तथा भोज-पुरीमें 'ल' वाले भूतकालिक कृदंतोंका भूतकालिक प्रयोग देखा जाता है। वैसे भोजपुरीमें —ल् रहित रूप भी पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० १६७ §३१६]। इस प्रवृत्तिका प्रभाव अवधीमे भी देखा जाता है। डॉ० सक्सेनाने नूरमुहम्मदमें कतिपय —ल वाले भूतकालिक रूपोंका संकेत किया है,—'तापल रहइ', 'गइल सखी तहँ बहिल बयारा' [दे० डॉ० सक्सेना . इवोल्यूशन आव् अवधी पृ० २४६]।

भविष्यत्के बोधनके लिए पूरबी भाषाओंमें संस्कृतके कर्मवाच्य भविष्यत्कालिक कृदंत '—तव्य' से विकसित '—ब' प्रत्ययवाले रूप देखे जाते हैं। ये रूप बँगला, उड़िया, असामिया और बिहारी तथा भोजपुरीमें क्रमशः —इब तथा —अबके रूपमे पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी § ५३७ पृ० २७२] ये —ब वाले रूप पूरबी हिंदीकी प्राय. सभी बोलियोंमें मिलते हैं। अवधीमें भी इनका अस्तित्व पाया जाता है। 'घर कइसइ पइठब मइँ छूँछे' [जायसी], 'हरि आनब मइँ करि निज माया' [तुलसी], 'करब मइँ सेवा' [नूरमुहम्मद]। [दे० डॉ० सक्सेना §३०४ पृ० २६१-६२]।

संस्कृतके इस भावी विकासपर विहगमदृष्टि डालनेसे यह ज्ञात होता है कि चाहे आजकी भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रवृत्ति सरलताकी ओर बढनेके कारण, इनका रूप व्यवहित हो गया है, फिर भी संस्कृतकी परम्परा अवि-च्छिन्न रूपमे आज तक पाई जाती है।

परिशिष्ट क

[१] वैदिक संस्कृत [ई० पू० १५००]

अग्निमीळे पुरोहितम्,
यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥

[मैं पुरोहित [सामने स्थित], यज्ञके ऋत्विक् रूप, देव [प्रकाशशील], देदीप्यमान तेजवाले, होता [देवताओंको बुलानेवाले] अग्नि देवताकी स्तुति करता हूँ ।]

[२] अवेस्ता [ई० पू० ८००]

आ अइर्य् अमा इश्यो रफ़ड्राइ जन्तू
नर् अव्यश्चा नइरि-व्यश्च जरथुस्त्राहे ।
वङ् हृअउश् रफड्राइ मनङ् हो । [यस्न ५।४]

[आ अर्यमा इष्यः रध्रुं गच्छतु [*गन्तु]
नृभ्यश्च नारीभ्यश्च जरथुत्रस्य ।
वर्ष्मणः रध्रुं मनस.] ।

[अभीष्ट अर्यमा पुरुषों तथा स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिए पधारें, वे जरथुस्त्रकी तथा उन्नत मनकी प्रसन्नताके लिए आयें ।]

[३] पाणिनीय संस्कृत [ई० पू० ६०० के बाद]

अस्ति त्रिदिवतरंगिणी वाराणसी । तत्र प्रतापमुकुटो नाम राजा बभूव । तस्य महादेवी सोमप्रभा नाम । तस्यामनेन राज्ञा वज्रमुकुटो नाम तनयः समुत्पादितः । तस्य वज्रमुकुटस्य प्राणसमः सखा सागरेश्वरस्य

सांधिविग्रहिकस्य तनयो बुद्धिशरीरो बभूव। तेन मित्रवरेण सह नानाशास्त्राभ्यासङ्कुर्वाणो विविधसुखमनुभवन् कालं नयमानस्तस्थौ।

[स्वर्गंगाके समान [पवित्र] वाराणसी नगरी है। वहाँ प्रतापमुकुट नामक राजा था। उसकी महारानी सोमप्रभा थी। उसमे इस राजाने वज्रमुकुट नामवाले पुत्रको उत्पन्न किया। उस वज्रमुकुटका प्राणोंके समान प्यारा मित्र, साधिविग्रहिक सागरेश्वरका पुत्र बुद्धिशरीर था। उस मित्रके साथ नाना शास्त्रोंका अभ्यास करते हुए वह अनेक सुखका अनुभव करता हुआ समय बिताता था।]

[४] गाथा संस्कृत [ईसा की द्वितीय-तृतीयशती] [या बौद्ध संकर संस्कृत [बुधिस्ट हाइब्रिड संस्कृत]]

[1]ज्वलित त्रिभव जरव्याधिदुखैः मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदम्।
गिरिनद्यसम लघुशीघ्रजव व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे॥
सभया सुपिना सद वैरकरा बहुशोकउपद्रव कामगुणा।
असिधारसमा विषपत्रिनिभा क्षणिका अलिका विदितार्यजनै॥

[ये तीनों लोक जरा, व्याधि तथा दुःखसे ज्वलित हैं, मृत्यु रूपी अग्निसे जल रहे हैं, तथा अनाथ हैं। ससारमें आयु बड़ी छोटी तथा शीघ्रगामी है, ठीक वैसे ही जैसे पर्वतकी नदी और आकाशमें बिजली। आर्य लोगोंने कामगुणोंको भयकर, स्वप्नतुल्य, सदा वैर करानेवाले, अनेक शोक व उपद्रववाले, असिधारके समान, जहरीले तीरके समान, तथा क्षणिक और झूठे समझ लिया है।]

---

१ इसमें जरव्याधिदुखैः, आयु, जगे, यथ, विद्यु, नभे, सुपिना, सभया, सद, शोकउपद्रव, अलिका, विदितार्यजनै जैसे रूप शुद्ध संस्कृत नहीं हैं। इनके शुद्ध संस्कृत रूप जराव्याधिदुःखैः, आयुः [आयुर्], जगति, यथा, विद्युत, नभसि, स्वप्ना सभयाः, सदा, शोकोपद्रवाः, अलीका, विदिता [:], आर्यजनैः होंगे।

[५] अशोक कालकी प्राकृत [ई० पू० तीसरी शती]

देवानंप्रियो पियदसि राजा एवं आह, कलाणं दुकरं, ये आदिकरे कलाणेस सो दुकरं करोति, त मया बहु कलाणं कतं।

[गिरनार लेख क ५]

[देवानां प्रिय. प्रियदर्शी राजा एवमाह, कल्याणं दुष्करं, यः आदिकरः कल्याणस्य स दुष्करं करोति, तत् मया बहुकल्याण कृतं।]

[देवताओंके प्रिय प्रियदर्शी राजाने यह कहा है। कल्याण दुष्कर [है]। जो सर्वप्रथम कल्याणका करनेवाला होता है, वह दुष्कर [कामको] करता है। इसलिये मैंने बहुत कल्याण किया है।]

[६] पालि प्राकृत [ईसाकी दूसरी शती]

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो कपियोनियं निब्बत्तित्वा वुद्धिं अन्वाय अस्सपोतप्पमाणो थामसम्पन्नो एकचरो हुत्वा नदीतीरे विहरति।

[अतीते वाराणस्या ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्वः कपियोन्यां निर्वर्त्य वुद्धिमन्वेत्य अश्वपोतप्रमाणः स्थामसम्पन्नः एकचरो भूत्वा नदीतीरे विहरति]।

[प्राचीनकालमें, जब वाराणसीमें ब्रह्मदत्त राज्य करते थे, बोधिसत्व बन्दरकी योनिमें जन्म लेकर बुद्धिसे युक्त होकर, घोडेके बच्चेके समान शरीरवाले तथा बलवाले होकर अकेले नदी तीर पर घूमते थे।]

[७] महाराष्ट्री प्राकृत [ईसाकी प्रथम शतीसे षष्ट शती]

[१] जइ होन्ति ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहि अंगेहि।

णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडिव्वं कि सुवसि॥ [गाहासत्तसई]

---

१. पाडी शब्द देशी है। यह शब्द आज भी गुजरातों व राजस्थानोंमें पाया जाता है, जिसका अर्थ है "भैंसकी बच्ची"। इसीका पुंलिङ्ग रूप पाडो भी प्रचलित है।

[यदि भवसि न तस्य प्रिया अनुदिवसं नि सहैरगै. ।
नवसूतपीतपीयूपमत्तमहिपीवत्सेव किं स्वपिपि ॥]

[हे सखी अगर तू उसकी प्यारी नहीं है, तो अलसाये अगोंसे नये दूधको पीकर मस्त नवप्रसूत पाडीकी तरह दिन भर क्यों सोती रहती है ।]

[२] णमह अ जस्स फुडरवं कठच्छाआघडतणअणग्गिसिहम् ।
फुरइ फुरिअट्टहास उद्धपडित्ततिमिर विअ दिसाअक्कम् ॥
[सेतुबध]

[नमत च यस्य स्फुटरव कण्ठच्छायाघटमाननयनाग्निशिखम् ।
स्फुरति स्फुरिताट्टहास ऊर्ध्वप्रदीप्ततिमिरमिव दिक्चक्रम् ॥]

[जिन महादेवके कण्ठकी नीली छायासे संबद्ध अग्निशिखा वाला, तथा उनके शब्दायमान अट्टहासवाला दिशाओंका चक्रवाल, इसी तरह सुशोभित होता है, मानों अँधेरेके ऊपर प्रकाश प्रदीप्त हो रहा हो, उन महादेवको प्रणाम करो ।]

[८] शौरसेनी प्राकृत [१०० ई० से ६०० ई० तक]

अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण सव्वं एट पेक्खसि । को णाम अण्णो धम्म-कचुअ-ववदेसिणो तण-च्छण्ण-कूवोवमस्स तुह अनुकारी भविस्सदि । [शाकुन्तल पचम अक]

[अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन सर्वमेतत् पश्यसि । को नाम अन्यः धर्मकचुकव्यपदेशिन तृणच्छायाकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति ।]

[अनार्य, तू सभी वस्तुको अपने हृदयके अनुमानसे देखता है । धर्मका कञ्चुक धारण करनेवाले [धर्मका ढोंग करनेवाले], तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान तेरे जैसे मनुष्यका सहकारी [समानधर्मा] कौन होगा ।]

[९] मागधी [१०० ई० से ६०० ई० तक]

[१] कधं अपावे चालुदत्ते वावादीअदि । हगे णिअलेण शामिणा वधिदे । भोदु आक्कडामि । शुणध, अय्या, शुणध । अस्ति दाणि मए पावेण पवहण-पडिवत्तेण पुप्फ-कलडअ-यिण्णुय्याणं वशन्तशेणा णीदा ।

[कथमपापः चारुदत्तो व्यापाद्यते। अये निगडेन स्वामिना बद्धः। भवतु आक्रंदामि। शृणुत, आर्याः शृणुत। अस्ति इदानीं मया पापेन प्रवहणप्रतिवृत्तेन पुष्पकरंडकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता।]

[क्या चारुदत्तको विना अपराध ही दण्ड दिया [मारा] जा रहा है। अरे, राजाने [स्वामीने] इसे बेड़ियोंसे बाँध दिया है। अच्छा, चिल्लाता हूँ। सुनो, आर्य, सुनो। अभी अभी गाड़ीसे लौटे हुए मैंने वसन्तसेना पुष्पकरंडक जीर्णोद्यानकी ओर पहुँचाई है।]

[२] एशे शे शायंभलीशल-शिविल-निवेशे। एदश्शि अलश्किय्यमाण-पय्यन्दे कधं [ला] उलं याणिदव्वम्। वयश्श एशे के वि चले व्व दीशदि। ता इमादो एदश्श शिविलश्श शलूवं लाउलं च याणिश्शम्ह।

[एष स शाकंभरीश्वरशिविरनिवेशः। एतस्मिन् अलक्ष्यमाणपर्यन्ते कथं राजकुलं ज्ञातव्यम्। वयस्य एष कोपि चर इव दृश्यते। तत् अस्मात् अस्य शिविरस्य स्वरूपं राजकुलं च ज्ञास्यामः।][1]

[यही तो शाकंभरीश्वरकी सेनाका पड़ाव है। यहाँ आसपासके बारेमें कुछ भी पता नहीं लगता, अब राजकुलका ज्ञान कैसे होगा? मित्र यह कोई चर [जासूस] सा दिखलाई देता है। तो इससे इस शिविर के स्वरूपके बारेमें तथा राजकुलके विषयमें पता लगालें।]

[१०] अपभ्रंश [पूर्वा] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

आअमवेद पुराणे पंडिआ माण वहंति।
पक्क-सिरिफले अलिअ जिमि बाहेरीअ भमंति॥ [कण्हपा]

---

१. यह द्वितीय उदाहरण उस कालका है, जब प्राकृतका साहित्यिक रूप ही प्रचलित था। अतः प्राकृतकालका शुद्ध उदाहरण पहलावाला ही कहा जा सकता है। उसकी व्याकरणसम्मत विशेषताओंकी दृष्टिसे दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है।

[आगमवेदपुराणेषु पंडिताः मानं वहंति।
पक्वश्रीफले अलय यथा बहिरेव भ्रमन्ति]

[पंडित लोग आगम, वेद तथा पुराणोंके अध्ययनसे ही मानी हो जाते हैं। पर यह तो वैसे है, जैसे भँवरे पके बेलके फलके बाहर ही घूमा करते हैं।]

पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ।
देहहि बुद्ध वसंत ण जाणइ
अवणागमण ण तेण विखण्डिअ
तो वि णिलज्ज भणइ हउ पण्डिअ॥ [सरहपा]

[पंडित सकलानि शास्त्राणि वर्णयति [*वक्ष्यति]
देहे बुद्धं वसत न जानाति
गमनागमन न तेन विखंडित
तदपि निर्लज्जो भणति अहं पंडित।]

[पंडित समस्त शास्त्रोंका बखान करता है, पर देहमें ही स्थित बुद्ध [आत्मा, ईश्वर] को नहीं जानता। अपने जन्म मरणको वह खंडित न कर सका, फिर भी निर्लज्ज कहता है—मैं पंडित हूँ।]

[११] अपभ्रंश [पश्चिमी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्ज तु वयसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥
[भद्रं भूतं यत् मारितः भगिनि मम कांतः
लज्जेयं तु वयस्याभ्य यदि भग्नो[1] गृहं एत.[2]]

[हे सखी, मेरा पति मारा गया, यह अच्छा हुआ। मगर कहीं भगा हुआ घर आता, तो मुझे सखियोंसे लजाना पड़ता।]

---

१. भग्न.—भग्गा।

२ [आ + इत = एन्त]

पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भूंहडी चंपिज्जइ अवरेण॥
[पुत्रे जाते कः पुनर्गुणः, अवगुणः कः पुनर्मृतेन।
यत् पितु [*वप्तुः] भूमि· आक्रम्यते अपरेण॥]

[ऐसे पुत्रके पैदा होनेसे क्या लाभ, और मरनेसे क्या हानि, [जिसके रहते हुए] पिता की भूमि दूसरा चाँप ले।]

[१२] अवहट्ठ [प्राकृतपैंगलं की परवर्ती अपभ्रंश]

[११०० ई० से १३०० ई० तक]

पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ
कमठ पिट्ठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ
कोह चलिअ हम्मीर वीर गअजूहसंजुत्ते
किअउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छहके पुत्ते॥
[पादभरेण दलिता धरणी तरणिरथः धूलिभि· छादितः
कमठपृष्ठं [स्फुटितं] मेरुमन्दरशिर· कंपितं
क्रोधेन चलितः हम्मीरवीरः गजयूथसंयुक्तः
कृतः कष्टं हाक्रन्दः मूर्च्छित्वा म्लेच्छानां पुत्रैः।]

[जब वीरहमीर हाथियोंकी सेना से युक्त होकर क्रोधके साथ चला, तो पृथ्वी पैरोंके बोझसे दब गई, सूर्यका रथ धूलसे ढँक गया, कमठ की पीठ तड़क गई और सुमेरु तथा मदरकी चोटी हिल गई; म्लेच्छोंके पुत्रोंने [अर्ध] मूर्छित होकर कष्टके साथ आक्रंद किया।]

परिशिष्ट ख

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर शब्द रूप

[१] सं० अकारान्त [ग्रीक-लै० ओकारान्त] शब्द

[पुंलिंग तथा नपुंसक]

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
प्रातिपादिक	अश्व [पु०]	हिप्पो [पु०]	एक्वो [पु०]
	युग [नपु०]	जुगो [नपु०]	जुगो [नपु०]
ए० व०			
कर्ता	अश्व-स् [अश्व.]	हिप्पो स	एक्वोस् [एक्वूस्]
	युग-म्	जुगो-न्	जुगु-म् [जुगोम्]
कर्म	अश्व-म्	हिप्पो न्	एक्वो-म्
	युग-म्	जुगो-न्	जुगु-म्
करण	अश्वेन	[पोन्तोफि]	×
	[वै० अश्वा]		
सम्प्रदान	अश्वाय	हिप्पो-ओइ, हिप्पो	एक्वोइ = एक्वो-ओइ, एक्वो
अपादान	अश्वात्	हिप्पो-ओ, हिप्पोउ	एक्वोइ, एक्वो, एक्वो [द्]
सम्बन्ध	अश्वस्य	हिप्पो-[स्] इओ	एक्वो-इस्
अधिकरण	अश्वे [अश्व-इ]	[ओइका द, ओइकोइ]	[दोमि = दमो-इ [1]]
			[= सं० दमे]
सम्बोधन	अश्व	हिप्पे [= हिप्पो-]	एक्वे [एक्वो]
	[युगम्]	जुगो न्	जुगु-म्

	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन
द्व० व०			
र्ता-कर्म	अश्वा अश्वौ	हिप्पो-ए, हिप्पो	×
रण, दान दान	अश्वाभ्याम्	हिप्पो-इन्	×
न्ध-करण	अश्वयोः	×	×
व०			
र्ता	अश्वा-स् [अश्वाः] [वै० अश्वासः] युगानि [नपु०] [वै० युगा]	हिप्पो-इ जुगा [नपु]	[एक्वो-एस्, एक्वइस्] एक्वी जुग्-अ = जुग
	अश्वान् [=अश्वान्-स्] युगानि	हिप्पोउस् = हिप्पोन्-स् जुगा	एक्वोस् = एक्वोम्-स् जुग
	सं०	ग्री०	लै०
	अश्वैः [वै० [अश्वेभिः]	[थेओ-फिन्]	×
पादान	अश्वे-भ्यः [-भ्यस्]	×	×
	अश्वानाम् [=अश्वा न्-आम्]	[हिप्पो-ओन्] हिप्पोन्	एक्वो-रुम् एक्वूम्= एक्वो-ओम्

अधिकरण	अश्वे-षु	हिप्पोइ-सि हिप्पोइ-स्	[एक्वो- इस्] एक्वीस

[२] सं० आकारान्त [ग्रीक, लै० अकारान्त] शब्द [स्त्रीलिंग]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अश्वा	खोर– [देश]	एक्व– [घोड़ी]
एक वचन			
कर्ता	अश्वा	खोर	एक्व
कर्म	अश्वाम्	खोर-न्	एक्व-म्
करण	अश्वया [वै० अश्वा]	[चिए-फि]	×
सम्प्रदान	अश्वायै [वै० अश्वाइ]	खोरइ [खोर-अइ]	एक्वए
अपादान-सबध	अश्वाया	खोर-स् [जेनेटिव] × [एब्लेटिव]	[एक्व इस् एक्वास्] एक्वइ, एकए [जेने०] एका [द्] [एब्ले०]
अधिकरण	अश्वायाम्	[खमा-इ]	[रोमए=रोम- ?=रोममें]
द्वि० व०			
कर्ता	अश्वे	खोरा	×
करण, सम्प्रदान अपादान	अश्वाभ्याम्	खोर-इन्	×
सबध, अधिकरण	अश्वयोः [–योस्]	×	×

० व०

कर्ता	अश्वास् [अश्वाः]	खोरइ	एक-एस्, एकास्
कर्म	अश्वास् [अश्वाः]	खोरास् [-न्स्]	एकास् [-म्स्]
करण	अश्वाभिः [-भिस्]	[-फिन्]	×
सम्प्रदान अपादान	अश्वाभ्यः [-भ्यस्]	×	एक्व-बुस्
सम्बंध	अश्वानाम् [वै० अश्वाम्]	खोरोन्	एक्व-रुम्
अधिकरण	अश्वेषु	खोरइ-सि खोरइ-स्	[एक-इस्] एक्विस्

[३] इकारान्त रूप [पु०, स्त्री०, नपुं०]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अवि [पु० स्त्री०]	पोलि [स्त्री०] [=नगर]	ओवि
	वारि [नपुं०]	इद्रि [विशेषण]	मरि [नपुं०]
०			
	अवि स्, वारि [न०]	पोलिस्, इद्रि [न०]	ओवि-स्, मरे [न०]
	अवि-म्, वारि [न०]	पोलिन्, इद्रि	ओवे-म्, मरे
	अविना [पु०] अव्या [स्त्री०]	×	×
	वारिणा [नपुं०]	×	×
	अवये [पु०], अव्यै	×	ओवी
	[स्त्री], वारिणे [न०]	×	×

अपादान	अवेः, अव्याः [स्त्री०] वारिण [न०]	× ×	ओवे [द्] मरि-[द्]
सम्बन्ध	अवेः, अव्याः [स्त्री०] वारिण. [न०]	पोलि-ओस्, पोले-ओस्, पोले-ओस्, पोलेयोस् ×	ओविस् ×
अधिकरण	अवौ, अव्याम् [स्त्री०], वारिणि [न०]	पोले-ई, पोलेइ पोले-ई	×
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	अवी, वारिणी	पोलि-ए, पोलए	×
करण, सम्प्र०, अपा०	अविभ्याम्	पोलि ओ-इन्	×
सबंध अधिकरण	अव्यो., वारिणो·	×	×
ब० व०			
कर्ता	अवयः, वारीणि	पोले-एस्, [=पोलेयस्] पोलि एस्, पोलेइस् [न०] इद्रि-अ [न०]	ओवेस् मरि-अ
कर्म	अवीन् [पु०], अवीः [स्त्री०] वारीणि [न०]	पोले-अस्, पोले-इस् इद्रि-अ	ओवेस् मरिअ
करण	अविभिः [-भिस्]	×	×
सम्प्र०, अपा०	अविभ्यः [-भ्यस्]	×	ओवि बुस्
सबंध	अवीनाम्	पोलि-ओन्, पोले-ओन्	अवि-उम्

अधिकरण	अविषु	पोलि-सि, पोले-सि, पोलि-ए-स्सि	×

नोट :—यहाँ हमने स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोंके उन्हीं रूपोंका संकेत किया है, जो पुल्लिग शब्दोंके तत्तत् विभक्तिके तत्तत् वचनान्त रूपोंसे भिन्न होते हैं। अन्यरूप पुल्लिग रूपोंके समान होनेसे उनका संकेत अनावश्यक समझा गया है, यही कारण है, यहाँ वारिभिः वारिभ्यः, वारिषु जैसे रूपोंका कोई संकेत नहीं है, क्योंकि उनका संकेत अविभिः, अविभ्यः, अविषु जैसे रूपोंसे मिल जाता है।

[४] ध्वनियुग्मान्त शब्दों [Diphthongal stems] के रूप

	सस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	१. नौ	नउ	[नवि]
	२. गौ	ग्वाउ	ग्वाउ [ग्वा-वि]
ए० व०			
कर्ता	नौ-स् [नौः]	नउस्	नवि-स्
	गौः	ग्वाउस्	ग्वोस् [ग्वाउस्]
कर्म	नावम्	नेव, नउ-न्	नवम्
	गावम्	वाउ-न्	ग्वावेम्
करण	नावा	नउफि	×
	गवा	×	×
सम्प्रदान	नावे	×	नवी
	गवे	×	वोवि
अपादान	नावः [—अस्]	×	नावे [द्]
	गोः [—स्]	×	वोवे [द्]
संबंध	नावः	नेवास्-नेओस्	नविस्
	गोः	ग्वोवास्	ग्वाविस्

अधिकरण	नावि	नेवि	×
द्वि० व०			
	गवि	वोवि	×
कर्ता-कर्म	नावा नावौ	नेव	×
	गावा-गावौ	वोवे	×
करण, सम्प्र०,	नौभ्याम्	नेवा-इन्, ने-ओइन्	×
अपादान	गोभ्याम्	वो-वोइन	×
सबंध, अधि०	नावोः	×	×
	गवो.	×	×
ब० व०			
कर्ता	नावः	नेवस्	नवेस्
	गाव.	वोवेस्	बोवेस् [वोविएस्]
कर्म	नावः	नेवस्, नउस्	नवेस्
	गावः, गाः,	वोवस्, वोउस्	वोवस्
करण	नौभिः [–भिस्]	नउफिन्	×
	गोभिः [–भिस्]	×	×
सम्प्र०, अपा०,	नौभ्यः [–भ्यस्]	×	नवि-बुस्
	गोभ्य. [–भ्यस्]	×	वो-बुस्, वू-बुस्
सम्बध	नावाम्	नेवोन्, नेओन्	नवि उम्
	गवाम्	वोवोन्	वो-उम् = वोवाम्
अधिकरण	नौषु	नेउसि, नउसि	×
	गोषु	वोउसि	×

[इस संबंधमें इतना संकेत कर दिया जाय कि लैतिनमें ध्वनियुग्मोंके लोपके कारण ध्वनियुग्मांत प्रातिपदिकोंका अभाव है। 'नवि' वस्तुतः इकारान्त

प्रातिपदिक है। केवल 'वोम्' का प्रातिपदिक 'वॆव्' [या वॆउ] ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जिसमें ध्वनियुग्मात शब्दके अवशिष्ट चिह्न देखे जा सकते हैं।]

हलन्त शब्दोंके रूप

[१] संस्कृत वाच्, [स्त्री०] ग्रीक ऑप् [स्त्री०], लैतिन वोक् [स्त्री०]

	सं०	ग्री०	लै०
ए० व०			
कर्ता	वाक्	ऑप्-स्	वोक्-स् [वोक्स]
कर्म	वाच	ऑप्-अ [ऑप]	वोकम्
करण	वाचा	×	×
सम्प्रदान	वाचे	×	वोकि
अपादान	वाचः	×	वोके [द्]
सबंध	वाचः	ऑपॊस्	वोकिस्
अधिकरण	वाचि	ओपि [यह देतिवका रूप है]	×
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	वाचा, वाचौ	ऑपॆ	×
करण, सम्प्र० अपा०	वाग्भ्याम् [=* वाच्-भ्याम्]	ऑपोइन्	×
सबंध, अधि०	वाचोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	वाचः [वाचस्]	ऑपॆस्	वोकेस् [वोकि-एस्]
कर्म	वाचः [,,]	ऑपस्	वोकेस्
करण	वाग्भिः [=* वाच्भिः]	[-फिन्]	×

सम्प्र०-अपा०	वाग्भ्यः [=* वाच्भ्यः]	×	वोकिबुस्
सम्बध	वाचाम्	ओपोन्	वोकुम्
अधिकरण	वाक्षु	ओप्-सि [देतिव]	×

प्रतिपदिक

[२] स० भरत् [भरन्त्] [पु० नपु०], ग्रीक फेरान्त् [पु० नपु०] लै० फेरन्त् [पु० स्त्री० नपु०]

	स०	ग्री०	लै०
ए० व०			
कर्ता	भरन्, भरत् [नपु०]	फेरोन् [-ओन्त्-स्]	फेरन्[त्]-स्
कर्म	भरन्तम्, भरत् [नपु०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]	फेरन्तम्
करण	भरता	×	×
सम्प्रदान	भरते	×	फेरन्ति
अपादान	भरत. [भरत्-अस्]	×	फेरोन्ते [द्]
सम्बध	भरतः	फेरोन्तोस् [०न्त्-ओस्]	फेरन्तिस्
अधिकरण	भरति	फेरोन्ति	×
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	भरन्ता, भरन्तौ भरन्ती [नपु०]	फेरोन्ते [०न्त्-ए]	×
करण, सम्प्र०	भरद्भ्याम्	फेरोन्तोइन्	×
अपादान	[=*भरत्भ्याम्]		
सम्बध, अधिकरण	भरतोः	×	×
ब० व०			

कर्ता	भरन्तः [भरन्त्-अस्]	फेरोन्तेस्, फेरन्तेस् [-फेरोन्तिएस्]
	भरन्ति [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]
कर्म	भरतः	फेरोन्तस् [०न्त्-अस्] फेरन्तस्
	भरन्ति [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]
करण	भरद्भिः	[-फिन्]
सम्प्र०-अपा०	भरद्भ्यः	× फेरन्ति-सुच्
संबंध	भरताम्	फेरोन्तोन् फेरन्तिम् [फेरन्तुन्]
अधिकरण	भरत्सु	फेरोन्त्सि [-फेरोउसि] ×

नोटः—संस्कृतमे *'भरन्त्'के स्त्रीलिंग रूपोंमे 'ई' प्रत्यय जुड़कर 'भरन्ती' बनता है, जिसके रूप वृकी, देवी जैसे ईकारान्त स्त्री० शब्दोंकी तरह चलते हैं। ग्रीकमे स्त्रीलिंगमे 'य' प्रत्यय जुड़ता है। ग्रीकमे सं० भरन्तीके समानान्तर प्रातिपदिक 'फेरोन्त्य' तथा 'फेरोउस' हैं, जिनके रूप अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'खोर' [Xora] की तरह चलते हैं। लैतिनमें पु०, स्त्री०, नपुं० तीनोंमे ये एकसे बने रहते हैं।

सं० मनस् [न०], दुर्मनस् [पु० स्त्री०], ग्रीक मेनास् [न०], दुस्मेनास् [पु० स्त्री०]

	सं०	ग्रीक
ए० व०		
कर्ता	मनस् [मनः] [न०]	मेनास्
	दुर्मनाः [दुर्मनास्] [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेस्
कर्म	मनस् [मनः]	मेनास्
	दुर्मनसं [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेस्-अ [०म], दुस्मनसअ, ०से

करण	मनसा [दुर्मनसा]	[–फि]
सम्प्रदान	मनसे [दुर्मनसे]	×
अपादान	मनसः [दुर्मनसः]	×
सम्बध	मनस [दुर्मनसः]	मनेस्, मनोस्, मनाओस्, मनेउस्
अधिकरण	मनसि [दुर्मनसि]	मनेसि, मनेइ
सबोधन	मनः [दुर्मनाः]	मनोस्, दुस्मनेस् [पु० स्त्री०]
द्वि० व०		
कर्ता-कर्म	मनसी	[मनसे], मने
	दुर्मनसा-दुर्मनसौ	दुस्मनसे, दुस्मेने
करण, सम्प्र० अपा०	मनोभ्याम् [दुर्मनोभ्याम्]	मनसाइन्, मनसाएरिन्
सबध, अधिकरण	मनसोः [दुर्मनसोः]	×
ब० व०		
कर्ता	मनासि [न०]	मेनेस [स्-अ], मनसेअ, मेने
	दुर्मनसः [पु० स्त्री०]	दुस्मनेसस्
कर्म	मनासि	मनेस [स्-अ], मेने
	दुर्मनसः	दुस्मनसस् [०स्-अस्]
करण	मनोभि [दुर्मनोभिः]	[मनेस्-फि]
सम्प्र० अपा०	मनोभ्यः [दुर्मनोभ्यः]	×
सबघ	मनसा [दुर्मनसा]	मनेसोन् [मनेस्-ओन्],
अधिकरण	मन सु [दुर्मनःसु]	मनेस्-सि, मनेसि

सर्वनाम शब्दोंके रूपोंका तुलनात्मक परिचय

[१] उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम

	सं०	ग्रीक	लैतिन
ए० व०			
कर्ता	अहम्	ऐगोन्, ऐगो	ऐगो
कर्म	माम्, मा	ऐ-मे, मे	मे
करण	मया	×	×
सम्प्रदान	मह्य, [मे]	ऐमिन् [ऐमे-फिन्]	मि-हेइ, मिहि
अपादान	मत्	×	मेद्
संबंध	मम, [मे]	ऐमेइओ, ऐमोउ, मोउ, ऐमोउस्	[मेइ ?]
अधिकरण	मयि	ऐमो-इ, मो-इ	मेइ
द्विवचन			
कर्ता	आवाम्	नोइ, नो	×
कर्म	आवाम्, नौ		
करण, सम्प्र०, अपादान	आवाभ्याम्, नौ [सम्प्र०]	नो-इन्, नोइन्	×
सम्बन्ध अधिकरण	आवयोः, नौ [संबंध]	×	×
बहुवचन			
कर्ता	वय, अस्मे [वैदिक]	अम्मेस् [अस्मिस्] हेमे-एस् [हेमिस्] हेमेइस्	नोस् [? नोस्]
कर्म	अस्मान्, नः	अम्मे, हेमेअस्, हेमस्	नोस्
करण	अस्माभिः	×	×

सम्प्रदान	अस्मभ्य, नः	अम्मिन् [अम्मि-फिन्] हेमिन्	नो-बिस्
अपादान	अस्मात्	×	नो-बिस् [देतिव]
संबंध	अस्माक, नः	हेमेइओन्, हेमे-ओन् हेमोन्	नोस्त्रि, नोस्त्रुम्
अधिकरण	अस्मासु	×	×

[२] मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम

	स०	ग्री०	लै०
एक वचन			
कर्ता	त्वम्	तु, सु,	तु
कर्म	त्वाम्, त्वा	ते, से [=त्वे]	ते=त्वे-म्
करण	त्वया	×	×
सम्प्रदान	तुभ्य [ते]	तेइन् [तेइ-फिन्]	ति-बेइ, तिबि
अपादान	त्वत्	×	तेद् [=तेइ-द्]
संबंध	तव [ते]	तेओइओ [=तेवोस्यो] सेइओ, सेओ, सोउ, सेउ, तेओउस्	[तुइ ?]
अधिकरण	त्वयि	सोइ [त्व-इ]	तुइ [मूलतः जेनेतिव]
द्वि० व०			
कर्ता	युवाम्	स्फोइ, स्फो	×
कर्म	युवाम्, वाम्		
करण, सम्प्र० अपा०	युवाभ्याम् वाम् [सम्प्र०]	स्फो-इन् [स्फोइ-फिन्] स्फोइन्	×
संबंध, अधि०	युवयोः वाम् [संबंध]	×	×

ब० व०			
कर्ता	यूयम्, युष्मे [वैदिक]	उम्मेस्, हुमएस्, हुमेइस्	वोस्
कर्म	युष्मान्, वः	उम्मे, हुमेअस्, हुमइस्	वोस्
करण	युष्माभिः	×	×
सम्प्रदान	युष्मभ्यं, वः	उम्मि [म्मि-फिन्] हुमिन्	वो-बिस्
अपादान	युष्मात्	×	वो-बिस् [मूलतः डेतिव]
सम्बन्ध	युष्माकं		वास्त्रुम्
	वः	हुमेइओन्, हुमे-ओन्, हुमोन्	वाल्नि
अधिकरण	युष्मासु	×	×

[३] अन्य पुरुष वाचक सर्वनाम

[क] पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग

	स०	ग्रीक	लैतिन
प्रातिपदिक	त–	ता–	इस्-तो–[इ+स+त]
ए० व०			
कर्ता	सः, तत् [न०]	हो [स्], तो [न०]	इस्तुम्, इस्ते, इस्तुद् [न०]
कर्म	तम्, तत् [न०]	तोन्, तो [न०]	इस्तुम्, इस्तुद् [न०]
करण	तेन	×	×
सम्प्र०	तस्मै	तोइ=तो-ओइ	*इस्ति ?=इस्तोएइ =स्मोइएइ

अपादान	तस्मात्	[तोस्=तोत्]	इस्तो-द्
सबंध	तस्य	तोइओ, तोउ	इस्तिउस् [इस्तो-इ-ओस्]
अधिकरण	तस्मिन्	[होइ=हो-इ]	*इस्ति ?=इस्तोइ =हुमि, क्वोइ
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	तौ [ता], ते [न०]	तो	
करण, सप्र० अपा०	ताभ्याम्	तोइन्	
सबध, अधिकरण	तयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	ते, तानि [न०]	ताइ, हाइ, त [न०]	इस्ती, इस्त, [न०]
कर्म	तान्, तानि [न०]	तान्स्, ताउस्, त [न०]	इस्तोस्, इस्त [न०]
करण	तैः	×	×
सम्प्र०, अपा०	तेभ्यः	×	[क्वि-बुस्, हि-बुस्, हाइ-बुस्]
सबध	तेषाम्	तोन्	इस्तो-रुम्
अधिकरण	तेषु	ताइ-सि, ताइस्	इस्तिस् [क्वेइस्]

[ख] स्त्रीलिंग रूप

	सं०	ग्रीक	लैटिन
ए० व०			
कर्ता	सा	हे	इस्त, क-इ [कए]
कर्म	ताम्	तेन्	इस्तम्
करण	तया	[हेफि]	×

सम्प्र०,	तस्यै	तेइ	इस्ति
अपादान	तस्याः	×	इस्ता-[द्]
सम्बंध	तस्याः	तेस्	इस्तीउस्
अधिकरण	तस्याम्	तेइ	इस्ति
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	ते	त	×
करण, सम्प्र०, अपादान	ताभ्याम्	त-इन्	×
सम्बंध, अधि०	तयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	ताः	तइ	इस्तए
कर्म	ताः	तस्	इस्तास्
करण	ताभिः	×	×
सम्प्र०, अपा०	ताभ्यः	×	×
सबंध	तासाम्	त-ओन्, तोन्	इस्ता रुम्
अधिकरण	तासु	तेइ-सि, तइस्	इस्तीस्

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिन तिङ् विभक्तियाँ

[१] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ :—परस्मैपदी

उ० पु० ए० व०	सं०—मि, [भरामि, ददामि],	ग्री०—मि, —ओ, [दिदोमि, फेरो],	लै०—म्, —ओ [सुम् [सं० अस्मि], फेरो]
द्वि० व०	सं०—वः [भरावः, दद्वः]	×	×
ब० व०	सं०—मः	ग्री० मेन् [दोरिक], मेन् [एतिक],	लै० मुस्

	[भराम, दद्मः]	[फेरोमेन्, दिदोमेन्]	[सुमुस्, फेरिमुस्]
म० पु० ए० व० सं०—सि,	[भरसि, ददासि]	ग्री०—सि, एइस् [दिदोसि, फेरेइस्]	लै०—स् [फेर्स]
द्वि० व० स०—थः	[भरथः, दत्थ]	ग्री०—तोन् [फेरेतान्, दिदोतान्]	× ×
ब० व० स०—थ	[भरथ, दत्थ]	ग्री०—ते [फेरोते, ददाते]	लै०—तिस् [फेर्तिस्]
प्र० पु० ए० व० स०—ति,	[भरति, ददाति]	ग्री०—ति, —सि, [एस्ति, तिथेति, फेरेसि] [दोरिक, दिदोति, एतिक, दिदोसि]	लै०—त् [इस्त्, फेर्त]
द्वि० व० स०—तः,	[भरत, दत्तः]	ग्री०—तोन् [फेरेतान्, दिदोतान्]	× ×
ब० व० स०—न्ति,	[भरन्ति, ददति]	ग्री०—न्ति [दोरिक], —उसि [एतिक] [फेरोन्ति [दो०] फेराउसि [ए०] दिदाउसि]	लै०—न्त् [फेरुन्त]

[२] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ : आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० स०—ए [भरे] ग्रीक—मइ [फेरामइ] ×

द्वि० व० सं०—वहे [भरावहे], ग्रीक—मॆथान् [जो मूलतः ब० व० रूप ही है] [फॆरोमॆथान्]

ब० व० सं०—महे [भरामहे], ग्रीक—मॆथ [फॆरोमॆथ] ∠*मधइ

म० पु० ए० व० सं०—से [∠*सइ] [भरसे], ग्रीक—सइ,—ऍइ [फॆरॆइ ∠*फॆरॆसइ]

द्वि० व० सं०—एथे [भरेथे], ग्रीक—स्थोन्, —स्थेन् [फॆरॆस्थान्, फॆरॆस्थेन्]

ब० व० सं०—ध्वे [भरध्वे], ग्रीक—स्थे [फॆरॆस्थे]

प्र० पु० ए० व० सं०—ते [भरते], ग्रीक —तइ [फॆरॆतइ]

द्वि० व० सं०—एते [भरेते], ग्रीक—स्थोन्, स्थेन् [फॆरॆस्थोन्, फॆरॆस्थेन्]

ब० व० सं०—अन्ते [भरन्ते], ग्रीक—न्तइ, —अतइ [फॆरोन्तइ, [आलते] हॆअतइ]

लैतिनमें स्वतन्त्र आत्मनेपदी तिङ् चिह्न नहीं होते, वहाँ 'र्' जोड़ दिया जाता है, जैसे, अमोर्, अमरिस्, अमतुर्, अममुर्, अमन्तुर्। [द० Papillon: Comparative philology applied to Greek and Latin p. 178].

[३] गौण तिङ् चिह्न : परस्मैपदी :—

उ० पु० ए० व० सं०—म् [अ-भर-म्] ग्रीक—न् [ऍ-फॆरा-न्]
द्वि० व० „—आव [अ-भराव] ×
ब० व० „—आम [अ-भराम] ग्रीक—मॆन् [ऍ-फॆरा-मॆन्]
म० पु० ए० व० सं०—स् [:] [अ-भर-: [स्]] „—स् [ऍ-फॆरॆ-स्]
द्वि० व० „—तम् [अ-भर-तम्] ग्रीक—तोन् [ऍ-फॆरॆ-तोन्]
ब० व० „—त [अ-भर-त] „—ते [ऍ-फॆरॆ-ते]

प्र० पु० ए० व० स०—त् [अ-भर-त्] ग्रीक—त् [ऐ-फेरे-त्]

द्वि० व० „—ताम् [अ-भर-ताम्] „—तेन् [ऐ-फेरे-तेन्]

ब० व० „—न् [अ-भर-न्] „—न् [∠*न्त्],-अन् [∠*अन्त्]

[ऐ-फेरो-न् ; ऐ-लुस्-अन्]

लैतिनमें गौण चिह्न तथा मुख्य चिह्नोंमें कोई भेद नहीं रहा है, क्योंकि यहाँ आकर मुख्य चिह्न -म्,-स्,-त् हो गये हैं। लैतिनमें भूतकालका द्योतक आगम [augment] 'अ' [ग्रीक तथा प्रा० भा० यू० *ऐ] प्रायः लुप्त हो गया है, इसके अवशेष केवल उन चार क्रियारूपोंमें पाये जाते हैं, जिनके आदिमें स्वरध्वनि पाई जाती है :—एगि [ēgi], एदि [ēdi], एमि [ēmi],-एपि [-ēpi, in co-ēpi]। [दे० King and Cockson p 156]

[४] गौण तिङ् चिह्न, आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० स०—ए [अ-भरे] ग्रीक—मेन् [-मेन्] [ऐफेरोमेन्]

द्वि० व० „—वहि [अ-भरावहि] „—मेथोन् [ऐ-फेरे-मेथोन्]

ब० व० „—महि [अ-भरामहि] „—मेथ [ऐ-फेरमेथ]

म० पु० ए० व० स०—था॰ [अ-भर-था] ग्रीक—सो [ऐ-फेरे-सो]

द्वि० व० „—एथाम् [अ-भरेथाम्] „—स्थोन् [ऐ-फेरे-स्थोन्]

ब० व० „—ध्वम् [अ-भर-ध्वम्] „—थे [-स्थे] [ऐ-फेरे-स्थे]

प्र० पु० ए० व० स०—त [अ-भर-त] ग्रीक—तो [ऐ-फेरे-तो]

द्वि० व० „—एताम् [अ-भरे-ताम्] „—स्थेन् [ऐ-फेरे-स्थेन्]

ब० व० „—न्त [अ-भर-न्त] „—न्तो,-अतो [ऐ-फेरो-न्तो]

—अत [आसत] [हेअतो]

संग्राह्य पुस्तक-सूची

१. Otto Jespersen . Language its Origin, Development and Nature.

२. Bloomfield : Language.

३. Marcel Cohen : Le Langage.

४. Saussure : Cours de Linguistique Generale.

५. Otto Jespersen : The Philosophy of Grammar.

६. Daniel Johns : An outline of English Phonetics.

७. Bloch : L'Indo-Aryen.

८. A. Meillet : Introduction a l'etude Comparative des langues Indo-europeenes.

९. A Thumb : Handbuch des Sanskrit.

१०. Wackernagel : Altindische Grammatik. (Vol. I, II, III).

११. Ghosh . Linguistic Introduction to Sanskrit.

१२. T. Burrow · Sanskrit Language.

१३. Edgerton : Phonology of Indo-European.

१४. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals.

१५. Hudson-Williams : Introduction to the study of Comparative Grammar.

१६. Atkinson : Greek Language.

१७. Buck : Comparative Grammar of Greek and Latin.

१८. King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin.

१९. Papillon : Comparative Philology applied to Greek and Latin.

संग्राह्य पुस्तक-सूची

१. Otto Jespersen : Language its Origin, Development and Nature.

२. Bloomfield : Language.

३. Marcel Cohen : Le Langage.

४. Saussure : Cours de Linguistique Generale.

५. Otto Jespersen : The Philosophy of Grammar.

६. Daniel Johns : An outline of English Phonetics.

७. Bloch : L'Indo-Aryen.

८. A. Meillet : Introduction a l'etude Comparative des langues Indo-europeenes.

९. A. Thumb · Handbuch des Sanskrit.

१०. Wackernagel : Altindische Grammatik. (Vol. I, II, III).

११. Ghosh : Linguistic Introduction to Sanskrit.

१२. T. Burrow : Sanskrit Language.

१३. Edgerton : Phonology of Indo-European.

१४. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals.

१५. Hudson-Williams : Introduction to the study of Comparative Grammar.

१६. Atkinson : Greek Language.

१७. Buck : Comparative Grammar of Greek and Latin.

१८. King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin.

१९. Papillon : Comparative Philology applied to Greek and Latin.

२०. Pischel Prakrit Sprachen.
२१ Woolner Introduction to Prakrit
२२ Macdonell Vadic Grammar
२३ Dr Chatterjea Origin and Development of Bengali Language.
२४. " Indo-Aryen and Hindi
२५ Dr. Saksena Evolution of Awadhi.
२६. Dr Tagare : A Historical Grammar of Apabhramsa.
२७. Dr. Allen Indo-European primary affix 'Bh' (Trans of Philological Society of Great Britain 1950).
२८ Mathews Soviet Contribution to Linguistic thought (Archivum Linguisticum Vol. 2 pt I-II).
२९. डॉ० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य.
३० शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य
३१. शुक्लयजुःप्रातिशाख्य (उव्वट भाष्य सहित),
३२. तैत्तरीयप्रातिशाख्य
३३ अथर्वप्रातिशाख्य
३४ पाणिनिशिक्षा
३५. माध्यन्दिनीशिक्षा
३६. केशवीशिक्षा
३७ सिद्धांतकौमुदी
३८ वररुचि . प्राकृतप्रकाश
३९ मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व
४०. हेमचन्द्र · शब्दानुशासन (अष्टम अध्याय),
४१. डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी
